सत्यामृत

[मानव-धर्म-शास्त्र]

[आचार-काण्ड]

प्रणेता—
दरबारीलाल सत्यभक्त
संस्थापक सत्यसमाज

मूल्य १।।।)

सत्यामृत

[मानव-धर्म-शास्त्र]

[आचार-काण्ड]

प्रणेता—
दरबारीलाल सत्यभक्त
संस्थापक सत्यसमाज

मूल्य १॥।)

प्रकाशक —
रघुवीर शरण दिवाकर
बी. ए., एल-एल. बी.
सत्याश्रम, वर्धा [सी. पी.]

मूल्य—
प्रथमावृत्ति, १।।।)
एक रुपया बारह आना

मुद्रक—
सत्येश्वर प्रिंटिंग प्रेस
बोरगाँव, वर्धा (सी. पी.)

प्रस्तावना

दो वर्ष हुए जब सत्यामृत का दृष्टिकाण्ड प्रकाशित हुआ था। तभी यह सूचना दे दी गई थी कि सत्यामृत के दो काण्ड और होंगे—एक आचार काण्ड दूसरा व्यवहार काण्ड। हर्ष है कि आज हम आचार काण्ड को प्रकाश में ला रहे हैं। हमें आशा है कुछ समय बाद हम व्यवहार काण्ड भी दुनिया को दे सकेंगे।

सत्यामृत सत्यसमाज का मूल ग्रंथ है। सत्यसमाज कोई संकुचित सम्प्रदाय या धर्म नहीं है, न यह कोई राजनैतिक पार्टी है। यह तो ऐसा संगठन है जो धर्म समाज और राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में क्रान्ति करके विश्वप्रेम व मानव-धर्म के पवित्र सिद्धांतों पर दुनिया का नव निर्माण करना चाहता है। तभी तो सत्यसमाज का यह महान ग्रंथ मानव-धर्म-शास्त्र है।

सत्यसमाज के सदस्यों के ही नहीं प्रत्येक मानव के लिए, चाहे वह किसी भी धर्म संप्रदाय जाति या राष्ट्र से सम्बन्ध क्यों न रखता हो, यह ग्रंथ बहुत काम की चीज़ है, इसमें मानव समाज की अनेक जटिल समस्याओं को इतनी अच्छी तरह सुलझाया है कि साधारण शिक्षित व्यक्ति भी पढ़ने पर और साधारण समझदार अशिक्षित व्यक्ति भी सुनने पर उन को समझ सकता है। इसमें न कहीं शब्दजाल हैं, न कहीं भूल भुलैय्या है, न पुनरुक्ति के चक्कर हैं, यहाँ तो सीधे साधे स्पष्ट शब्दों में बात कही गई है जो हृदय में पैठती चली जाती है।

साधारणतः आजकल क्रियाकाण्ड को आचार माना जाता है। यह बहुत बड़ी गलत फ़हमी है। आचार जीवन की बहिरंग और अंतरंग शुद्धि है जो मनुष्य को और जगत को सुखी बनाती है। दुनिया के सुख में अपना सुख और दुनिया के दुख में अपना दुख मानकर दुनिया की भलाई के लिये कोशिश करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। इसी दृष्टि को लेकर पूज्य सत्यभक्तजी ने इस महान ग्रंथ में आचार की गुत्थियाँ सुलझाई हैं तथा आचार की श्रेणियाँ आदि बताकर हर व्यक्ति को यह सुविधा दी है कि वह उन्हें पढ़कर अपनी शक्ति योग्यता और परिस्थिति के अनुकूल मार्ग चुनले और उसपर चलकर अपने को और जगत को सुखी बनाए।

यह ग्रंथ कोरे पांडित्य का परिणाम नहीं हैं। यह तो अनुभवों और विचारों का निचोड़ है। एक महात्मा ही ऐसा अनुपम धर्मग्रंथ दुनिया को भेंट कर सकता है। यूँ तो सत्य इस ग्रंथ का प्रमाण है ही, पर पूज्य सत्यभक्तजी का महान् जीवन भी इस की प्रामाणिकता के लिये पेश किया जा सकता है।

हम आशा करते हैं कि जिन व्यक्तियों के हाथों में यह ग्रन्थ-रत्न जायगा वे इसे पढ़ेंगे, इस का मनन करेंगे, और इससे लाभ उठाकर अपने जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जायँगे।

रघुवीर शरण दिवाकर
बी. ए., एल-एल बी.
संपादक 'नई दुनिया'
सत्याश्रम, वर्धा.

सत्यामृत (आचार कांड)

विषय सूची

समर्पण

भगवती अहिंसा के चरणोंमें

अनुज्ञायाचन

भगवति !

जगको तेरी कथा सुनाऊं ।
जलता है संसार आग में उस पर दो आँसू टपकाऊं ॥
जगको तेरी कथा सुनाऊं ॥१॥

अगणित रूप अनंत चरित हैं ।
पारस्परिक विरोध भरित हैं ।
सकल-विरोध-समन्वय-कारिणि, तेरा व्यापक रूप बताऊं ।
जगको तेरी कथा सुनाऊं ॥२॥

छोटासा यह चित्र बनाया ।
है तेरी धुँधलीसी छाया ।
पार कहाँ पाऊँ तेरा मैं सागर—जल गागर में लाऊं ।
जगको तेरी कथा सुनाऊं ॥३॥

तेरा दास—

दरबारीलाल सत्यभक्त

सत्यामृत

[मानव-धर्म-शास्त्र]

आचार कांड

पहिला अध्याय (भगवती अहिंसा)

सत्य अचौर्य ब्रह्म अपरिग्रह सब तेरी मुसकान ।
जिसने पाया तुझे न उसमें रहा मोह अभिमान ॥
दया प्रेम शम शौच त्याग सब हैं तेरे ही अंग ।
तब तक क्रिया न धर्म न जब तक चढ़ता तेरा रंग ॥

ईश्वर के दो पहलू

दृष्टिकांड में भगवान सत्य के रूपमें जिस चिद्ब्रह्म का उल्लेख हुआ है उसके दो अंश हैं एक को हम विचार कह सकते हैं दूसरे को आचार । यहाँ विचार का अर्थ सब अनुभव तर्क आदि हैं और आचार का अर्थ समस्त यम नियम और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्तःशुद्धि बहिःशुद्धि है जो जगत्कल्याण के लिये उपयोगी है । उस व्यापक विचार का नाम भगवान सत्य है और व्यापक आचार का नाम भगवती अहिंसा है । इस प्रकार एक ही ईश्वर दो भागों में विभक्त होकर दो रूपों में देखा गया है । इसलिये सत्य अहिंसा के रूपमें परमेश्वर की उपासना करना दो ईश्वर मानना नहीं है किन्तु एक ही ईश्वर के दो पहलुओं के दर्शन करना है ।

आज भी ईश्वर अज्ञेय है अपनी बुद्धि संस्कृति समाजरचना के अनुसार मनुष्य उसके विषय में कल्पना लड़ाया करता है, सो यह बुरा नहीं है इस विषय में जिससे हृदय को तृप्ति मिले वही अच्छा । फिर भी यह अच्छा होगा कि हम ऊँची से ऊँची समाज रचना का सहारा लेकर ईश्वर के रूप की कल्पना करें जिससे हमारा सामाजिक आदर्श ऊँचा हो ।

ईश्वर का लिंग

अधिकांश लोग ईश्वर को पुरुषरूप मानते हैं क्योंकि वे समाज में पुरुष को ही अधिकारी या मालिकरूप में देखते हैं शक्तिशाली भी वही माना जाता है । ईश्वर की पुरुषरूप में कल्पना उस जमाने की याद दिलाती है जब मनुष्य पशुबल में ही श्रेष्ठता समझता था उसी के भग्नावशेष आज भी दिख रहे हैं ।

पौराणिकों ने ईश्वर को पुरुषरूप में मानकर भी उसके दाम्पत्य का चित्रण किया है पर उसमें पतिरूप ही असली ईश्वर है पत्नी--रूप तो

पतिरूप का दास ही चित्रित किया गया है। विष्णु अगर ईश्वर है तो उसकी पत्नी लक्ष्मी उसकी दासी है जो उसकी पगचंपी कर रही है। और जब ईश्वर की दो पत्नियाँ-लक्ष्मी और सरस्वती-मानी जाने लगतीं हैं तब तो यह कल्पना दाम्पत्य के भी नीचे स्तर पर आजाती है। ईश्वर को पुरुष-रूप में मानकर भी मनुष्य भक्ति का आनन्द पा सकता है, पाप से बचा रह सकता है, निर्दोष जीवन व्यतीत कर सकता है पर पुरुषरूप ईश्वर की कल्पना का समाज पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता समाज में लैंगिक अन्याय को पीठबल मिलने लगता है।

बहुत से लोगोंने ईश्वर को नारीरूप में चित्रित किया है उनका विचार यह रहा है कि पिता की अपेक्षा माता महान् है क्योंकि सृष्टि-रचना में माता की शक्ति अधिक लगती है, ईश्वर सर्जक है और दयालु है सर्जकता और दयालुता पिता की अपेक्षा माता में अधिक होती है इसलिये ईश्वर पिता नहीं है माता है। इसीलिये शाक्त सम्प्रदाय में ईश्वर जगदम्बा शक्ति आदि शब्दों से कहा जाता है और उसकी मूर्त्ति नारी-रूपिणी बनाई जाती है। पुरुष--रूप ईश्वर की अपेक्षा नारीरूप ईश्वर की कल्पना अधिक मोहक और कुछ न्यायोचित है पर है वह भी अधूरी। केवल पुरुष से या केवल नारी से सर्जन नहीं होता दोनों का होना और दोनों का सहयोग जरूरी है। फिर एक बात यह भी है कि ईश्वर सिर्फ दयालु या क्षमाशील नहीं है वह न्यायाधीश के समान निःपक्ष और कठोर भी है इसलिये वह माता के साथ पिता भी है। ईश्वर के पिता-रूप को सत्य और माता-रूप को अहिंसा कहते हैं। इस प्रकार निराकार और अज्ञेय ईश्वर भगवान सत्य और भगवती अहिंसा के रूप में साकार और ज्ञेयरूप में माना जाता है और इससे हमें न्याय और प्रेम दोनों की छत्रछाया मिलती है।

अहिंसा की निषेधपरता

प्रश्न--अहिंसा शब्द निषेध-परक है। उससे हिंसा न करने की बात मालूम होती है परन्तु कुछ करने की बात नहीं मालूम होती। इसलिये अहिंसा को भगवती कहना कहाँ तक ठीक होगा?

उत्तर--शब्द का रूप विधिपरक हो या निषेध-परक, अगर उसका अर्थ व्यापक हो तो कोई हानि नहीं है। अहिंसाका अर्थ खूब व्यापक है, उसमें समस्त दुराचार की निवृत्ति और समस्त सदाचार में प्रवृत्ति आ जाती है। निषेध-वाचक अव्यय का प्रयोग दो तरहका होता है पर्युदास और प्रसज्य। पर्युदास में एक चीज़ का निषेध करके दूसरे की विधि की जाती है। जैसे असत्य का अर्थ है झूठ, न कि केवल सत्य का अभाव। प्रसज्य पक्ष में सिर्फ निषेध समझा जाता है, इस का प्रयोग वाक्य में क्रियापद के साथ किया जाता है जैसे मेरे पास धन नहीं है। यहाँ धन का निषेध है किसी चीज़ की विधि नहीं है। अहिंसा शब्द में जो निषेध वाचक 'अ' है वह पर्युदास है इससे सिर्फ हिंसा का अभाव ही नहीं मालूम होता किन्तु दुराचारों के निषेध के साथ प्रेम, दया, भक्ति और न्यायपरायणता आदि समस्त सद्वृत्तियों की विधि भी मालूम होती है।

प्रश्न--ईश्वर के विचार अंश के लिये जैसे एक विधिपरक शब्द 'सत्य' है उसी प्रकार आचार अंश के लिये विधिपरक प्रेम आदि शब्द क्यों नहीं?

उत्तर--विचार के विधान में विधि की मुख्यता है और आचार के विधान में निषेध की। निर्विचार या ज्ञानशून्य स्थिति का विधान अज्ञान-रूप या जड़रूप का उत्तेजक होने से अनुचित है पर क्रिया-हीन अवस्था का विधान अनुचित नहीं है। आचार के दो अंश हैं अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति, अगर अशुभ से निवृत्ति का उपदेश दिया जाय और शुभ में प्रवृत्ति पर ज़ोर न दिया जाय तो भी हम उसे सदाचारी या आचारवान् बना सकेंगे या बन सकेंगे। आचार के विषय में यह सम्भव है पर विचार के विषय में यह सम्भव नहीं है वहां सत्य को पाने की मुख्यता है। सत्य को पाये बिना असत्य या मिथ्यात्व से निवृत्ति नहीं हो सकती जबकि शुभ में प्रवृत्ति किये बिना भी अशुभ से निवृत्ति हो सकती है।

आचार या चारित्र के लिये दूसरा शब्द है संयम। यम् धातु का अर्थ है उपरम रुकना या रोकना, इसलिये संयम शब्द का अर्थ हुआ अच्छी तरह अपने को रोकना अर्थात् मन वचन शरीर की प्रवृत्ति अशुभ में न करना। इस प्रकार यह संयम शब्द भी विधि की अपेक्षा निषेध की मुख्यता लिये है। यही कारण है कि ईश्वर का आचार-अंश निषेध-प्रधान अहिंसा शब्द से कहा गया।

प्रेम आदि शब्द अपूर्ण तथा भ्रमजनक हैं। प्रेम भक्ति वात्सल्य आदि का प्रयोग सब जगह नहीं किया जा सकता। एक सच्चा न्यायाधीश, जो अपराधी के साथ द्वेषी भी नहीं होता न प्रेम करता है किन्तु निःपक्ष न्याय करता है, इसीलिये सदाचारी ईमानदार कहा जायगा कि वह अहिंसक या संयमी है न कि इसलिये कि वह प्रेमी है या भक्त है या वत्सल है। मतलब यह कि प्रेम आदि शब्द सदाचार के पूरे क्षेत्र को नहीं घेरते जबकि अहिंसा शब्द घेरता है। दया प्रेम आदि तो अहिंसा हैं ही साथ ही दया और प्रेम से रहित निःपक्षता भी अहिंसा है। यही अहिंसा की व्यापकता है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति

प्रश्न—आचार का रूप ऐसा होना चाहिये जो ध्येय-दृष्टि अध्याय में बताये हुए विश्वकल्याण के अनुरूप हो, अगर आचार अहिंसा-रूप होने से निषेध प्रधान मान लिया जायगा तो प्रवृत्ति को कोई स्थान ही न रह जायगा और प्रवृत्ति के बिना विश्वकल्याण कैसे होगा।

उत्तर—प्रवृत्ति तो प्राणी का स्वभाव है मन और तन की प्रवृत्ति सदैव कुछ न कुछ होती रहती है, प्रवृत्ति के रुकने का इतना डर नहीं है जितना दुष्प्रवृत्ति होने का है इसलिये आचार के मार्ग में दुष्प्रवृत्तियों को रोकने की अधिक ज़रूरत है। हिंसा को रोको फिर प्रेम दया भक्ति वात्सल्य आदि आपसे आप आ जायँगे। अगर मनुष्य किसी भी तरह की हिंसा अर्थात् मारना पीटना, गाली देना, ठगना, झूठ बोलना, चोरी करना, अनुचित भोग भोगना, अधिक धन संग्रह करना, मुफ्त का माल उड़ाना आदि न करे तो उसकी प्रवृत्ति विश्वकल्याण के लिये उपयोगी होगी, उससे दुःख न आ पायगा, आया हुआ दुःख दूर होगा, सुख प्राप्त होगा। अहिंसा निवृत्ति-प्रधान और निवृत्ति का पूरा समन्वय है। परन्तु प्रवृत्ति स्वाभाविक है इसलिये उसे अंकुश में रखने के लिये उचित निवृत्ति पर ज़ोर दिया जाता है।

प्रश्न–अगर निवृत्ति पर ज़ोर दिया जायगा तब कर्मयोगी का स्थान सब से नीचे हो जायगा। ध्यान-योग, उसमें भी संन्यास-योग, मुख्य हो जायगा परन्तु जगत्कल्याण की दृष्टि से तो कर्म-योग ही श्रेष्ठ है।

उत्तर–ध्यानयोग हो या कर्मयोग सब योगों में अशुभ से निवृत्ति समान पाई जाती है इसलिये निवृत्ति की दृष्टि से तो सभी योग समान रहे। बल्कि कर्मयोग की निवृत्ति अनेक परीक्षाओं में निकलते रहने के कारण अधिक प्रामाणिक होती है। हमारा मन कितना निर्विकार है? इसका पता संन्यास योगी को इतना नहीं लग सकता जितना कर्मयोगी को। संन्यास के मार्ग पर चलनेवाले के दिल में कर्मयोग के पथिक से अधिक विकार होने पर भी कम दिखाई दे या न दे यह हो सकता है इसलिये कर्मयोगी की निर्विकारता या अशुभ निवृत्ति अन्य योगियों से अधिक प्रामाणिक है। बराबर होने में तो आपत्ति ही क्या है? इस प्रकार निवृत्ति की दृष्टि से चारों योग समान होने पर भी शुभ या शुद्ध प्रवृत्ति की दृष्टि से कर्म-योग ही श्रेष्ठ है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति आचाररूपी सिक्के के दो पहलू हैं। एक के भी अभाव में सिक्का बेकाम हो जायगा। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति की समान आवश्यकता होने पर भी निषेध--परक अहिंसा शब्द से जो सदाचार कहा गया इसका कारण सिर्फ़ यही है कि सदाचार की प्राप्ति के लिये विधि की अपेक्षा निषेध (अशुभ निवृत्ति) के लिये उद्योग अधिक करना है। दूसरी बात यह है कि शुभ प्रवृत्ति की कमी जितनी क्षम्य है अशुभ निवृत्ति की कमी उतनी क्षम्य नहीं है। दस बार सच बोल कर एक बार झूठ बोलने की अपेक्षा कुछ न बोलना अच्छा, दस बार दान देकर एक बार चोरी करने की अपेक्षा चोरी और दान दोनों से दूर रहना अच्छा। यही निवृत्ति पक्ष की प्रधानता है। इसीलिये भगवती अहिंसा का नाम निषेधपरक है। यह अधिक आवश्यक भी है और व्यापक भी है।

इस प्रकार संयम में निवृत्ति-प्रधानता होने पर भी अनावश्यक निवृत्ति और आवश्यक प्रवृत्ति के अभाव को स्थान नहीं है। निवृत्ति प्रवृत्ति के विषय में स्वहित और परहित का विचार अवश्य होना चाहिये।

इस विषयमें निम्न लिखित सूचनाएँ उपयोगी हैं।

१- निवृत्ति अशुभ से होना चाहिये। कभी उचित या निर्दोष कार्य से भी निवृत्ति लेना पड़े तो उसका उद्देश निवृत्ति का प्रदर्शन न होना चाहिये परन्तु अपना या दूसरों का लाभ होना चाहिये। जैसे किसी आदमी ने नियम लिया कि मैं दिनमें दूसरे बार अन्न न खाऊँगा तो इस निवृत्ति में उसे देखना चाहिये कि (क) इसमें स्वास्थ्य को लाभ पहुँचता है या नहीं [ख] बचे हुए समय का सदुपयोग होता है या नहीं [ग] खर्च में कमी होती है या नहीं [घ] उस बचत का सदुपयोग होता है या नहीं, अगर इनमें से एक भी लाभ न हो तो वह निवृत्ति न करना चाहिये।

२ निवृत्ति ऐसी न होना चाहिये जिससे अपने उत्तरदायित्व को मनुष्य पूरा न कर सके या उसे छोड़ बैठे। एक आदमी ने शादी की और आजीवन ब्रह्मचर्य ले लिया या घर छोड़कर संन्यासी हो गया, ऋण लिया और उसे चुकाये बिना या चुकाने का प्रबन्ध किये बिना संन्यासी हो गया तो ऐसी निवृत्ति अनुचित है।

३– आलसी जीवन बिताने के लिये निवृत्ति न लेना चाहिये । संन्यासी होने से कमाना खाना न पड़ेगा कुछ काम का बोझ अपने ऊपर न रहेगा इसलिये निवृत्त होना पाप है।

४– पूजा सन्मान आदि के लिये निवृत्ति न लेना चाहिये । प्रत्येक मनुष्य को अपनी योग्यता और उस के द्वारा की जानेवाली सेवा, सेवाके लिये किया गया त्याग इन के अनुसार ही पूजा सन्मान की आशा करना चाहिये । निवृत्ति आदि का दंभ दिखाकर पूजा सन्मान की लूट करना एक प्रकार की डकैती है ।

५– अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये कुछ न कुछ प्रवृत्ति अवश्य करना चाहिये । कपड़ा पहिनना परन्तु चर्खा कातना या और किसी तरह से सूत निकालने को पाप समझना, रोटी खाना पर रोटी पकाने को पाप समझना अनुचित है । हाँ, यह हो सकता है कि मनुष्य सुविधा की दृष्टि से कोई एक उपयोगी काम चुनले और उस के बदले में कोई दूसरा काम कराले पर कुछ न कुछ प्रवृत्ति आवश्यक है । रोग वृद्धावस्था आदि के कारण न कर सके यह दूसरी बात है ।

६– प्रवृत्ति ऐसी करना चाहिये जिससे या तो अपनी किसी ज़रूरत की पूर्ति हो अथवा दूसरे की ज़रूरत की पूर्ति हो । दूसरों का ऐसा काम करना, जिससे उन्हें कुछ लाभ नहीं है, और इस प्रकार प्रवृत्ति का खाना भरना ठीक नहीं । निरर्थक प्रवृत्तियों से बचना चाहिये । यह बात दूसरी है कि किसी भले कार्य में असफल होकर भी बार बार प्रयत्न किया जाय ।

७– मन वचन काय की जितनी प्रवृत्ति प्रयत्न या अप्रयत्न से होती हो उसे अधिक से अधिक अच्छे विश्व-कल्याण के कार्य में लगाना चाहिये ।

८– दूसरों का उपकार हो या अपने जीवन का बोझ उनपर न पड़े इस के लिये अधिक से अधिक प्रवृत्ति करके भी जहाँ तक बन सके प्रवृत्ति कम करना चाहिये ।

इन सूचनाओं से पता लग जायगा कि आचार के दो पहलू हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति, जो दोनों पहलुओं का अधिक से अधिक उचित समन्वय कर सकते हैं वे ही आदर्श सदाचारी हैं । इस दृष्टि से जीवों की चार श्रेणियाँ बनतीं हैं । १– अशुभ-निवृत्त-शुभ-प्रवृत्त, २ उभय-निवृत्त, ३ उभय-प्रवृत्त, ४ शुभ-निवृत्त अशुभ-प्रवृत्त । इनमें पहिली श्रेणी आदर्श है दूसरी उत्तम है, तीसरी मध्यम है चौथी जघन्य है । तीसरी श्रेणी से दूसरी श्रेणी उत्तम है इससे निवृत्ति की प्रधानता मालूम होती है पर वह आदर्श नहीं है इसलिये उचित प्रवृत्ति की आवश्यकता भी मालूम होती है । इसलिये आचार में प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय होना चाहिये । हां, मनुष्य को प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्तिका कार्य अधिक करना है और पहिले करना है इसलिये निवृत्ति पर ज़ोर दिया गया और अहिंसा सरीखा निषेध-परक शब्द आचार के लिये रक्खा गया ।

प्रवृत्ति की ज़रूरत

प्रश्न– प्रवृत्ति कितनी भी शुभ हो उस के साथ अशुभ का अंश मिला ही रहेगा । दान देना शुभ है परन्तु उस का दूसरा पहलू आलस्य-वृद्धि अशुभ है, देनेवाले में अभिमान और लेने वाले में दीनता पैदा होना अशुभ है इस प्रकार हर एक प्रवृत्ति की काली बाजू रहती ही है ।

अपने देश की भलाई करने जाओ तो दूसरे देश की बुराई होती है इसलिये प्रवृत्ति का त्याग ही श्रेष्ठ है । तब उभय-निवृत्त को दूसरा नहीं पहिला नम्बर देना चाहिये ।

उत्तर--दो पहलू हर एक चीज़ के होते हैं जैसे प्रवृत्ति के दो पहलू हैं वैसे निवृत्ति के भी। निवृत्ति से या तो हमें तुरंत ही आत्महत्या करना पड़ेगी अथवा दूसरों के ऊपर अपना बोझ डालना पड़ेगा इसलिये अपने जीवन को भारभूत बनाना पड़ेगा । इसके अतिरिक्त निवृत्ति से जीवन आलसी या जड़ बन जायगा साथ ही उसमें लापर्वाही और अहंकार आजायगा इसलिये एकान्त निवृत्ति ठीक नहीं ।

प्रवृत्ति हो या निवृत्ति सब के दो पहलू हैं इसलिये दोनों के विषय में विवेक से काम लेना पड़ेगा और उसमें इसबात का विचार करना पड़ेगा कि उससे सामूहिक दृष्टि से सुखवर्धन होता है या नहीं, जैसा कि जीवनदृष्टि अध्याय में बताया गया है, अगर सामूहिक दृष्टिसे सुखवर्धन होता है तो वह सदाचार या धर्म का अंग है ।

दान आदि शुभ कार्यों में अगर फलाफल-विवेक और निस्वार्थता अर्थात् वीतरागता से काम लिया जाय तो उससे पर्याप्त सुखवर्धन होगा हानि अगर होगी तो नाम मात्र की होगी जिसे लाभ के आगे उपेक्षणीय ही समझना पड़ेगा । अणुभर दुःख के या दुरुपयोग के डर से अगर मन भर सुख की अवहेलना की जाने लगेगी तो विश्वसुखवर्धन कभी न होगा इस प्रकार हमारे जीवन का ध्येय ही नष्ट हो जायगा । इसलिये विश्वसुखवर्धन के लिये जो प्रवृत्ति आवश्यक हो उसका त्याग न करना चाहिये । हां, उसमें फलाफलविवेक और वीतरागता से काम लेना चाहिये ।

ऊपर जो दान देने और देशसेवा के दुरुपयोग के उदाहरण दिये गये हैं उनमें अगर फलाफलविवेक और वीतरागता से काम लिया जाय तो उनका दुरुपयोग न होगा । लेनेवाला कौन है वह किस अधिकार से ले रहा है वह सदुपयोग करेगा या दुरुपयोग इन बातों का विचार फलाफलविवेक है । और दान देते समय कर्तव्यबुद्धि रखना कोई दुःस्वार्थ भाव न रखना वीतरागता है । दान के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है परन्तु वह दान के प्रकरण का ही विषय है ।

देशसेवा में भी फलाफलविवेक और वीतरागता की ज़रूरत है । अगर देशसेवा का फल दूसरे मनुष्यों के न्यायोचित अधिकारों का नाश हो तो ऐसी देश सेवा से दूर रहना चाहिये । राष्ट्रीयता का फल मनुष्यता की हत्या हो तो वह राष्ट्रीयता पाप है । साथ ही देश सेवा में न्याय की रक्षा अन्याय का प्रतीकार पतितों का उद्धार का ही भाव होना चाहिये उसकी ओट में अपने व्यक्तित्व की विजय या और किसी तरह का दुःस्वार्थ न होना चाहिये यह वीतरागता है ।

प्रश्न-फलाफलविवेक और वीतरागता से प्रवृत्ति की काली बाजू बहुत कम हो जाती है, फिर भी न तो प्रत्येक मनुष्य पूर्ण होता है न प्रकृति हमारी इच्छा के अनुसार कार्य करती है इसलिये फलाफलविवेक और वीतरागता रख करके भी प्रवृत्ति से सुखवर्धन का निश्चय नहीं किया जा सकता । हमें यहां सदाचार का विचार करना है मन की शुद्धि का नहीं ।

उत्तर- प्रत्येक मनुष्य क्या कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं होता । मनुष्य तो सदाचार के लिये इतना ही कर सकता है कि वह अपनी भावना या परिणाम शुद्ध रक्खे और शुद्ध भावना के

अनुसार शक्तिभर प्रयत्न करे, निश्छल रहे। भावना का धर्म या सदाचार के साथ जो इतना सम्बन्ध है इस के चार कारण हैं—

१— हमारी जैसी भावना होती है वैसा ही हमसे प्रयत्न होता है जैसा प्रयत्न होता है वैसा कार्य होता है यह साधारण नियम है। इसके अपवाद बहुत कम होते हैं इसलिये सदाचार में भावना की मुख्यता है।

२--मनुष्य अच्छे काम के लिये अच्छी भावना की ही जिम्मेदारी ले सकता है न कि अच्छे फल की, डाक्टर ईमानदारी से काम करने की ही जिम्मेदारी ले सकता है। वह रोगी को बचा ही लेगा यह नहीं कहा जा सकता। अच्छी भावना पूर्वक प्रयत्न करने पर भी अगर कोई मर जाय और इस कारण डाक्टर को खूनी कहा जाय तो कोई भी डाक्टर इलाज करने को तैयार न होगा।

३—भावना के साथ सुख दुःख का खास सम्बन्ध है। चोरी करते समय जो भय उद्वेग आदि पैदा होते हैं वे चोरी की भावना पर ही निर्भर हैं। भूल से अगर हम किसी की चीज उठालें तो हमें चोर के समान मानसिक क्लेश का अनुभव न करना पड़ेगा।

४—हमारी भावना का दूसरेके दिल पर अधिक प्रभाव पड़ता है। एक बालक को प्रेमपूर्वक जोर से थपथपाने पर भी प्रसन्नता होती है किन्तु क्रोध-पूर्वक उंगली का स्पर्श भी सहन नहीं होता। कैसा भी कार्य हो परन्तु उसके मूल में जो भावना होती है उसीसे हमें और दूसरों को प्रसन्नता मिलती है।

इससे मालूम होता है कि सदाचार और उस के फल विश्वकल्याण के साथ मनकी शुद्धि का सब से अधिक सम्बन्ध है। मनकी शुद्धि होने पर अर्थात् फलाफलविवेक और वीतरागता होने पर हर एक प्रवृत्ति सदाचार का अंग बन सकती है।

उदारपद

प्रश्न—एक आदमी अपने कुटुम्बियों के पालन पोषण के लिये झूंठ बोलता है दंभ करता है चोरी करता है और अनेक पाप करता है पर खुद बहुत सादगी से रहता है यहां तक कि मुनि या सन्यासी तक बन जाता है इसलिये उसे निःस्वार्थ तो कहना ही पड़ेगा क्योंकि वह अपने लिये कुछ नहीं करता और फलाफलविवेकी भी उसे मानना पडेगा क्योंकि उससे कुटुम्बियों के दुःख दूर होते हैं इस प्रकार आपकी दृष्टि से यह निर्दोष प्रवृत्ति कहलाई परन्तु इस निर्दोष प्रवृत्ति में दुनिया भर के पाप समा सकते हैं, दंभ चोरी आदि करते हुए भी अगर निर्दोष प्रवृत्ति कही जा सकती है तब सदोष प्रवृत्ति किसे कहेंगे। सच तो यह हैं कि प्रवृत्ति को निर्दोष कहना ही व्यर्थ है।

उत्तर—कुटुम्बके लिये पाप करने वाला न तो निःस्वार्थ है न फलाफलविवेकी। अपने स्वार्थ के लिये जो उपयोगी हैं उनकी भलाई बुराई भी अपनी भलाई बुराई है। अथवा मोह या अभि-मानवश जिन्हें हम अपना समझने लगते हैं उन की भलाई बुराई भी अपनी भलाई बुराई है। इसलिये स्वार्थ का क्षेत्र अपनी भलाई बुराई तक सीमित नहीं है। घर कुटुम्ब जाति राष्ट्र आदि भी स्वार्थ की सीमा में समा जाते हैं। हां, यह अवश्य है कि जिसकी सीमा जितनी विस्तीर्ण है वह उतना ही उदार या महान है। इस उदा-रता की दृष्टि से प्राणियों की सात श्रेणियाँ होती हैं जिन्हें **उदारपद** कहते हैं—१ परमस्वार्थी

२ स्वार्थी, ३ संकुचित, ४ अल्पोदार, ५ अर्धोदार ६ उदार ७ परमोदार।

१ परमस्वार्थी वे लोग हैं जो अपने सिवाय किसी भी दूसरे के स्वार्थ की पर्वाह नहीं करते, माता पिता पत्नी पुत्र आदि के लिये भी जो कष्ट नहीं उठाते या उतना ही उठाते हैं जितना अपने स्वार्थ के लिये आवश्यक होता है। आफ्रिका की कुछ जंगली जातियों में बूढ़े मां बाप बेंच दिये जाते हैं जरासी बात में पत्नी और सन्तान की हत्या कर दी जाती है यह परमस्वार्थी का उग्ररूप है। साधारणतः परमस्वार्थी अधिकांश पशुओं में, कुछ असभ्य जातियों में और सभ्य जातियों के कुछ व्यक्तियों में पाये जाते हैं।

२-स्वार्थी वे हैं जो अपना स्वार्थ और अपने घरवालों का स्वार्थ एक बना देते हैं। वे चोरी चपाटी आदि घरके बाहर करेंगे। अपने घरवालों का स्वार्थ सिद्ध हो जाय फिर जाति प्रान्त राष्ट्र और मानवता जहन्नुम में जाय उन्हें कुछ मतलब नहीं। मनुष्यों का एक बहुत बड़ा भाग इस श्रेणी में है।

३ संकुचित वे हैं जो अपने घर वालों की ही नहीं किन्तु रिश्तेदारों और विभक्त हुए कुटुम्बियों की भलाई भी अपनी भलाई समझते हैं उनके साथ कोई अनीति नहीं करते किन्तु उदारता का व्यवहार रखते हैं और उनके लिये कुछ त्याग भी करते हैं।

४ अल्पोदार वे हैं जो अपनी जाति या उपजाति या प्रान्त के लिये उदार हैं स्नेही हैं जाति या प्रान्त की उन्नति या यश को अपनी उन्नति या यश समझते हैं पर राष्ट्र की या मनुष्यता की भलाई पर उपेक्षा करते हैं।

५ अर्धोदार वे हैं जिनमें राष्ट्रीयता पर्याप्त मात्रामें है राष्ट्र से छोटी स्वार्थसीमाओं पर जो उपेक्षा करते हैं राष्ट्रहित का सदा खयाल रखते हैं।

६ उदार वे हैं जो मनुष्यमात्र से प्रेम करते हैं राष्ट्र की सीमाएं भी जिनके प्रेम को कैद नहीं करा सकतीं न अन्याय करा सकती हैं।

७ परमोदार वे हैं जो प्राणिमात्रके स्वार्थ को अपना स्वार्थ समझते हैं ध्येयदृष्टि अध्याय में बतलाया हुआ विश्वहित ही जिनका लक्ष्य होता है।

प्रश्न-उदार या परमोदार व्यक्ति मनुष्यमात्र या प्राणि मात्र के हित पर ही ध्यान देगा वह घर के स्त्री पुत्रों की विशेष पर्वाह नहीं करेगा क्योंकि इससे उसकी उदारता को धक्का लग जायगा इस प्रकार उदारों के स्त्री बच्चों को मौत के मुँह में जाना पड़ेगा। वे जिस राष्ट्र में रहते हैं उस पर कोई अत्याचार भी करे तो भी वे विरोध करना पाप समझेंगे क्योंकि यह बात उदारता के विरुद्ध है। इस प्रकार उदारता का वही फल होगा जो अकर्मण्यता या दंभ का होता है।

उत्तर-उदारता का इतना ही अर्थ है वह न्याय की हत्या न करे इसलिये उसके कुटुम्बी भी अगर अन्यायी होंगे तो वह उनका समर्थन न करेगा परन्तु कुटुम्बियों के विषय में जो उसका उत्तरदायित्व है, उदारता के नाम पर उस पर उपेक्षा नहीं कर सकता। पत्नी का पति के विषय में, पति का पत्नी के विषय में जो कर्तव्य है वह उन्हें पूरा करना ही चाहिये। वह कर्तव्य तो एक प्रकार का ऋण है अगर वह पूरा न करे तो वह पाप करेगा। अपने देश के ऊपर होने वाले अत्याचार को दूर करने का प्रयत्न उसे परमोदार होने पर भी

पहिले करना चाहिये। न्यायरक्षा के लिये तो करना ही चाहिये पर इसलिये भी करना चाहिये कि उस देश में या समाज में रहने के कारण हम अनेक प्रकार से उसके ऋणी हैं। इसके लिये वह अन्याय न करेगा विश्वहित के विरुद्ध न जायगा यही उसकी उदारता है। उदारता से अकर्मण्यता या दंभ का कोई सम्बन्ध नहीं है। जो लोग अकर्मण्यता या द्वेष को उदारता की ओट में छिपाते हैं वे दंभी हैं उदारता से कोसों दूर हैं। उदारता व्यवहार में कोई अड़ंगा नहीं डालती किन्तु व्यवहार को व्यापक, सुखद और न्यायोचित बनाती है।

जिनके जीवन में जिस श्रेणी की बहुलता हो उन्हें उसी श्रेणी में रखना चाहिये। प्रवृत्ति के प्रकरण में उन व्यक्तियों से मतलब नहीं है किन्तु उस श्रेणी के कार्य से मतलब है।

त्रिविध प्रवृत्ति

इनमें से सातवीं श्रेणी पूर्णशुभ अर्थात् शुद्ध शुभ या शुद्ध है। इस तरह की प्रवृत्ति अर्हत् जिन योगी बुद्ध वीतराग स्थितिप्रज्ञ आदि महात्माओं की हुआ करती है। परन्तु प्रारम्भ की जो छः श्रेणियां हैं वे पूर्ण शुभ नहीं हैं उनके साथ थोड़ा न थोड़ा अशुभ लगा ही रहता है। वे अपने स्वार्थ की सीमा के भीतर भले ही शुभ हों पर उस सीमा के बाहर अशुभ होती हैं। उदार श्रेणी का मनुष्य मनुष्य से प्रेम करेगा पर मनुष्य के थोड़े से सुख के लिये पशु के महान से महान कष्ट की भी पर्वाह न करेगा, वह अधिकतम सुख का हिसाब भूल जायगा और लगायगा भी तो सिर्फ मनुष्यों के सुख के विचार में अधिकतम सुख की नीति काम में लेगा। इस प्रकार उसके शुभ कार्य में भी अशुभ का विष मिला रहेगा। और जब यह विष शुभ से अधिक हो जायगा तब इस प्रवृत्ति को अशुभ या पाप ही कहेंगे।

अर्थोदार व्यक्ति राष्ट्र के लिये प्राण भी दे देगा पर राष्ट्र के स्वार्थ के लिये दूसरे राष्ट्र के बर्बाद करने में भी न चूकेगा। इसी प्रकार अल्पोदार आदि भी अपने क्षेत्र के बाहर नीति अनीति का विवेक भूल जाते हैं। इस प्रकार वे भी पापी हो जाते हैं।

जब कोई मनुष्य अपनी स्वार्थ सीमा के बाहर इतना पाप कर जाता है कि वह स्वार्थ सीमा के भीतर के पुण्य से बढ़ जाता है अथवा विश्वहित के नियमों का उल्लंघन कर जाता है तब वह पापी हो जाता है। इस प्रकार जो प्रवृत्ति ध्येयदृष्टि अध्याय में बतलाये हुए विश्वहित के विरुद्ध रहती है वह पाप या अशुभ प्रवृत्ति है। जो इस विश्वहित के विरुद्ध तो नहीं है पर जिस में दृष्टि अनुदार है, प्रवृत्ति का कारण राग है, वह अशुद्ध शुभ प्रवृत्ति है। जिसमें राग नहीं है या सिर्फ विश्वहितोपयोगी गुणानुराग है, दृष्टि विशाल है वह शुद्ध प्रवृत्ति है। अशुद्ध शुभ को अशुद्ध पुण्य और शुद्ध शुभको शुद्ध पुण्य कहना चाहिये। पाप, अशुद्ध पुण्य, और शुद्ध पुण्य इन तीनों के भेद को कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करना ठीक होगा।

एक आदमी अपने राष्ट्र के उत्कर्ष के लिये दूसरे पर आक्रमण करता है उन्हें गुलाम बनाता है तो यह पाप है, एक आदमी अपने पराधीन राष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिये विजयी राष्ट्र पर आक्रमण करता है यह अशुद्ध पुण्य है और एक आदमी अपने ही नहीं किन्तु किसी भी राष्ट्र को गुलाम बनानेवाले राष्ट्र पर आक्रमण करता है, इस दृष्टि से कि दुनिया के सभी राष्ट्र स्वतन्त्रता

का उपभोग करें, तो यह आक्रमण शुद्ध पुण्य या शुद्ध प्रवृत्ति है। अशुद्ध पुण्य और शुद्ध पुण्य की क्रिया एकसी दिखने पर भी उनकी भावना में अन्तर है और भावना के भेद से पीछे फल में भी भेद होता है। इस राष्ट्रोद्धार के कार्य में निम्न लिखित अन्तर दिखाई देगा।

[क] अशुद्धपुण्यी राष्ट्रोद्धारक बदला लेने में मर्यादा का विचार न करेगा, वह सीमोल्लंघन भी कर जायगा जब कि शुद्धपुण्यी सीमोल्लंघन न करेगा।

[ख] अशुद्धपुण्यी की मनोवृत्ति सफल होने पर पाप की तरफ़ जल्दी झुक जाती है, वह स्वतंत्र होने पर दूसरों पर आक्रमण करने के लिये जल्दी तैयार हो जाता है शुद्धपुण्यी समभावी होने से पाप की तरफ़ नहीं झुकता।

[ग] अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता के प्रयत्न में तीसरे राष्ट्र पर कोई अनुचित विपदा तो नहीं आती इसकी पर्वाह अशुद्धपुण्यी को न होगी जब कि शुद्धपुण्यी को होगी।

(घ) अपना राष्ट्र स्वतन्त्र हो जाने पर शुद्ध-पुण्यी दूसरों को स्वतंत्र करने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है जब की अशुद्धपुण्यी इसे शक्ति का अपव्यय समझता है।

इस प्रकार अशुद्धपुण्यी और शुद्धपुण्यी की भावना में जो अन्तर है वह समय पाकर फल में भी अन्तर पैदा करती है। अशुद्धपुण्यी के कार्य विश्वहित में कुछ न कुछ हानि पहुँचाते हैं।

अब एक दूसरा उदाहरण लो। एक आदमी ने धर्मशाला बनवाई कि अमुक जाति के या सम्प्रदाय के या प्रान्त के आदमी ठहर सकें, दूसरों को उसमें ठहरने की मनाई रही तो यह पुण्य तो हुआ पर अशुद्धपुण्य हुआ। क्योंकि इसमें मनुष्य मात्र के बीच में बहनेवाली प्रेमधारा के टुकड़े हुए और इससे सुखवर्धक सहयोग घटा, तुमने अपनी जाति के लिये कुछ किया हमने अपनी जाति के लिये कुछ किया यह पक्षपात धीरे धीरे उपेक्षा और द्वेष में परिणत होकर सुखनाशक और दुःखवर्धक हो जाता है। हां, गुणानुराग खासकर संयमानुराग की दृष्टि से नियम बनाया जाय तो अशुद्धता न होगी। जैसे यहां नियम बने कि इस धर्मशाला में शराबी, मांसभक्षी, व्यभि-चारी, लड़ने झगड़नेवाले, जुआरी आदि न ठहरने पावेंगे तो इस नियम से पुण्य शुद्ध ही बना रहेगा क्योंकि इससे विश्वहित के नियमों को उत्तेजन मिलता है किसी मनुष्य पर उपेक्षा नहीं होती। यह नियम बनाना कि यहां ब्राह्मण ही ठहर सकेंगे अशुद्ध पुण्य है किन्तु विद्वानों को-फिर वे किसी भी जाति के हों—ठहरने का पहिला अवसर दिया जायगा ऐसा नियम बनाने से पुण्य अशुद्ध नहीं होता। यहाँ सत्यसमाजी ही ठहर सकेंगे यह नियम अशुद्ध पुण्य है, यहाँ सर्वधर्मसमभावी ही ठहर सकेंगे शुद्ध पुण्य है। मतलब यह कि गुणानुराग से पुण्य शुद्ध बना रहता है जब कि प्रारम्भिक छः पदों के मोह से पुण्य अशुद्ध हो जाता है। हां, यह अवश्य है कि उदार पदों में पहिले की अपेक्षा दूसरे आदि में पुण्य की अशुद्धि कम है।

ऊपर जो बातें धर्मशाला के विषय में कही गई हैं वे बातें मंदिर, औषधालय, छात्रवृत्ति देना, पाठशाला, अनाथरक्षा आदि सभी कामों में समझ लेना चाहिये।

प्रवृत्ति के इन तीन भेदों से यह पता लग जाता है कि सदाचार, संयम, या चारित्र में

प्रवृत्ति को भी स्थान है। हां, वह प्रवृत्ति पाप या अशुद्ध पुण्य न होना चाहिये। सदाचार के भीतर उसी प्रवृत्ति का समावेश हो सकता है जो शुद्ध पुण्यरूप हो। प्रवृत्ति के रूप इतने भिन्न भिन्न हैं कि इतने से ही उसे पूरी तरह समझ लेना कठिन है। एक प्रवृत्ति जो एक तरफ़ से शुद्ध मालूम होती है दूसरी तरफ़ से अशुद्ध हो सकती है। एक आदमी ने धर्मशाला बनवाई और उसके नियम भी खूब उदार रक्खे जिससे वह शुद्ध प्रवृत्ति कहलावे पर यह सब काम उसने सिर्फ़ इसलिये किया जिससे उसका यश हो और पड़ौसी सेठ को, जिसने छोटी धर्मशाला बनवाई है, नीचा देखना पड़े, ऐसी भावना के साथ उदार से उदार नियमवाली धर्मशाला भी पुण्य नहीं कहला सकती क्योंकि ऐसा यशोलोलुप व्यक्ति यश की वेदीपर जनहित का भी बलिदान करता है, इसके लिये वह पाप से भी सम्पत्ति पैदा करता है, यश न मिले तो वह विश्वासघात भी करता है, दूसरों का अपमान भी करता है इस प्रकार विश्वकल्याण की जगह विश्व का अकल्याण अधिक कर जाता है, कल्याण की उसे पर्वाह नहीं होती। इस प्रकार शुद्धपुण्य रूप दिखनेवाली प्रवृत्ति कैसी अशुद्धपुण्य या नष्टपुण्य होती है यह भी समझ लेना चाहिये। इसके लिये प्रवृत्ति के भेद कुछ विशेष रूपमें बतलाना पड़ेंगे। प्रवृत्ति दस तरह की होती हैं

प्रवृत्ति के दस भेद

१ मूल प्रवृत्ति, २ उरण प्रवृत्ति, ३ गच्छत्पुण्य प्रवृत्ति ४ भुक्तपुण्यप्रवृत्ति ५ नष्टपुण्य प्रवृत्ति ६ अज्ञातपुण्य प्रवृत्ति ७ पाप प्रवृत्ति, ८ अशुद्ध पुण्य प्रवृत्ति ९ पुण्यार्थपाप प्रवृत्ति, १० शुद्ध पुण्य प्रवृत्ति।

१ मूलप्रवृत्ति--जीवन को टिकाने के लिये जो प्रवृत्ति है वह मूल प्रवृत्ति है। खाना पीना, चलना, उठना, बैठना, आदि मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इन्हें न तो पुण्य कह सकते हैं न पाप। इन प्रवृत्तियों के लिये जो दूसरी प्रवृत्तियां की जातीं हैं वे पुण्य या पाप रूप हो जाती हैं जैसे भोजन करना न पुण्य है न पाप, परन्तु भोजन के लिये जबर्दस्ती करना, दूसरों को सताना पाप है। मतलब यह कि मूल प्रवृत्तियों के आधार से पुण्यपाप खड़े होते हैं वे स्वयं न पुण्यरूप हैं न पापरूप हैं, इनसे सदाचार को धक्का नहीं लगता इन्हें सब कोई कर सकता है।

२ उरण प्रवृत्ति-धन पैसा या सेवा आदि का ऋण चुकाना। इस प्रवृत्ति के करने में पुण्य नहीं है पर न करने में पाप अवश्य है इसलिये जिसके सामने इसका अवसर आवे उसे अवश्य यह करना चाहिये। सदाचारी और योगी के लिये भी यह कर्तव्य है।

एक आदमी अपने शरीर पोषण के लिये समाज से लेता है पर उसके बदले में समाज सुखके लिये आवश्यक कुछ देता नहीं है इस प्रकार अगर वह उरण नहीं होता तो पाप करता है।

अपने उपकारी का आदर सेवा विनय आदि करना भी उरण प्रवृत्ति है।

३ गच्छत्पुण्य प्रवृत्ति-अपने पुण्य का फल भोगना। हमने किसी की या समाज की सेवा की उसने हमारा आदर सत्कार किया यश गाया तो उतने अंश में हम पुण्य का फल भोग चुके। जितने अंश में हम आदर सत्कार आदि लेंगे उतने अंश में हमारा पुण्य फल देता हुआ

चला जायगा। सदाचारी योगी परिस्थितिवश गच्छत्पुण्य बन जाता है पर वह गच्छत्पुण्य बनने की इच्छा नहीं करता। प्रत्युपकार स्वीकार करने से और प्राप्त वैभव का भोग करने से भी मनुष्य गच्छत्पुण्य होता है गच्छत्पुण्य होने में पाप नहीं है पर न होने में पुण्यसंचय अवश्य है।

प्रश्न--आपने जो गच्छत्पुण्य भेद बतलाया उससे मालूम होता है कि हमें महात्माओं का, लोकसेवकों का, उपकारियों का आदर सत्कार पूजा आदि न करना चाहिये क्योंकि इससे वे गच्छत्पुण्य होंगे जो कि वे होना नहीं चाहते।

उत्तर--इसका दुष्परिणाम यह होगा कि तुम्हारे मन से भी यह बात निकल जायगी कि लोकसेवा आदि पुण्य है, इसलिये तुम लोकसेवा आदि से वंचित रह जाओगे। जो असर तुमपर होगा वही दूसरों पर होगा, इससे लोकसेवकों के दर्शन दुर्लभ हो जांयगे क्योंकि तुम्हीं में से लोक सेवक आते हैं। जगत में से परोपकार आदि उठ जांय तो प्रलय ही समझो। इसीलिये तो कहा है कि उरण प्रवृत्ति हरएक को करना चाहिये अगर उरण प्रवृत्ति न की जाय तो पाप होगा। उपकारियों का आदर सत्कार पूजा तुम्हें अधिक से अधिक करना चाहिये और उपकारियों को उससे बचने की कोशिश करना चाहिये इस से दोनों की शोभा है दोनों पुण्य संचय करते हैं।

४ **भुक्तपुण्य प्रवृत्ति**--यश पूजा आदि की इच्छा से कोई अच्छा कार्य करना। ऐसा आदमी पुण्य का फल पहिले ही भोग लेता है इसलिये पीछे के लिये उसका पुण्य कुछ बच नहीं रहता। सदाचार में ऐसी प्रवृत्तियों को स्थान नहीं है।

५ **नष्टपुण्य प्रवृत्ति**--पुण्य का फल इस तरह भोग लेना कि उसकी पुण्यता नष्ट हो जाय। जैसे अपनी महत्ता के लिये अपने ही मुँह से अपनी सेवाओं के गीत गाने लगना, ऐसे आदर सन्मान के लिये आगे आगे करना जो अपनी सेवा से अधिक हो, या प्राप्त होने योग्य आदर आदि को जबर्दस्ती छीनने की कोशिश करना, मतलब यह कि ऐसे भद्दे तरीके से पुण्य का फल भोगने की कोशिश करना जिससे पुण्य न रहे, प्रशंसा और यश, निन्दा अपकीर्ति और घृणा में परिणत हो जाय, यह नष्टपुण्य प्रवृत्ति है। एकबार मुझे ऐसे विशाल भोज में शामिल होने का दुर्भाग्य मिला जहां परोसने का इन्तजाम ठीक नहीं था, कुछ लोग घेवर का एक बड़ा टोकना उठा लाये जिस में शायद मनभर घेवर होगा। उसे छीन छीन कर अपनी पत्तल में रखने के लिये इतने आदमी टूट पड़े कि वह सारा घेवर जमीन में बिखर कर पैरोंसे कुचल गया इतना ही नहीं किन्तु पत्तलों में जो पहिले से भोजन परोस कर रक्खा गया था वह भी पैरों से कुचल गया। इस प्रकार लोगों की मूढ़तापूर्ण उतावली या भुखमरापन से मनभर अन्न नष्ट हो गया। इसी तरह बहुत से लोग यश पूजा आदर आदि के रूप में अपनी सेवाओं का फल भोगने के लिये ऐसी उतावली या अदत्तादान करते हैं, एक तरह से भुखमरापन का परिचय देते हैं कि उनकी सेवाओं का पुण्य नष्ट हो जाता है। सदाचार में ऐसी प्रवृत्तियों को स्थान नहीं है।

प्रश्न--कभी कभी मनुष्य को जनसेवा के लिये भी नष्टपुण्य बनने की आवश्यकता होती है। जब हमारे पास कोई जनहितकारी सत्य होता है या शक्ति होती है परन्तु जनता भ्रमवश अथवा अपनी सनातन नीति के अनुसार उस सत्य पर या शक्ति पर अविश्वास कर अपना

अहित करती है तब उस सत्य को या शक्ति को प्रकाश में लाने के लिये मनुष्य को कुछ ऐसा व्यवहार करना पड़ता है या बोलना पड़ता है जिससे उसकी महत्ता की छाप जनता पर पड़े। कभी कभी इससे वे भुक्तपुण्य या नष्टपुण्य हो जाते हैं अथवा भुक्तपुण्य या नष्टपुण्य होने का आरोप तो उनके ऊपर किया ही जा सकता है ऐसी हालत में वे क्या करें ?

उत्तर–भुक्तपुण्य या नष्टपुण्य कहलाने की तो उन्हें पर्वाह न करना चाहिये किन्तु न होने की पर्वाह अवश्य करना चाहिये। यह बात उन की भावना पर निर्भर है अगर भावना हो तो किसी न किसी रूप में उसके कार्य भी दिखाई देने लगते हैं। कुछ चिह्न ये हैं–

१ कभी कभी जीवन में ऐसे प्रसंग आते हैं जब सत्यपथ पर चलने में निंदा उपेक्षा विरोध और अर्थसंकट झेलना पड़ते हैं और सत्यपथ छोड़नेपर पूजा आदि मिलने की पूरी सम्भावना होती है, ऐसी हालत में वह यश धन पद आदर आदि की पर्वाह न करके सत्य या वास्तविक लोकहित की पर्वाह करे।

२– अपनी दृढ़ता का परिचय अपने कार्यों से दे, शब्दों से दृढ़ता का परिचय सिर्फ उसी जगह दे जहाँ न देने से लोग सत्य पर भी अविश्वास करने लगें। पर दृढ़ता के गीत ही न गाता रहे।

३– ऐसी जगह अपने नाम को आगे लाने की कोशिश न करे जहाँ उसकी जरूरत नहीं है। नाम के लिये ही नाम आगे लाया गया है ऐसा न मालूम हो।

४– नाम देने के लिये उत्सुकता जल्दबाजी आदि का परिचय न दे। जहाँ तक हो अपने नाम को अपने हाथ से आगे लाने की कोशिश न करे, ऐसी आवश्यकता आने पर कुछ लज्जितसा होता हुआ अपना नाम आगे लावे।

५– नाम देने, आदि के विषय में शिष्टाचार के नियम का भंग न करे।

६– अन्य सत्यसेवकों का या दूसरों का उचित स्थान छीनने की कोशिश न करे।

७– अपने नाम की छाप वहीं पर लगावे जहाँ नाम देने से सत्य के प्रचार में और महत्त्व में सुविधा हो अथवा जनता की माँग के अनुसार नाम देना आवश्यक हो।

मतलब यह कि सत्यसेवा या जनकल्याण की मुख्यता रहना चाहिये, ऐसा कोई कार्य न करना चाहिये जिससे यह मालूम हो कि तुम अपने नाम के लिये तड़प रहे हो और मौके बेमौके उसे घुसेड़ रहे हो। इस प्रकार विचार और व्यवहार की शुद्धता रहने पर भुक्तपुण्य या नष्टपुण्य होने का डर नहीं रहता। दुनिया को अगर भ्रम होता है तो वह कुछ समय बाद दूर हो जाता है।

६ **अजातपुण्य प्रवृत्ति**–जब हम अपने पाप छिपाने के लिये कोई पुण्य कार्य करते हैं तो वहां वास्तविक पुण्य पैदा नहीं होने पाता। जैसे कड़ी जमीन में हल चलाये बिना बीज डाल देने पर भी खेती नहीं होती उसी प्रकार जो जमीन पाप से कठोर है उस की कठोरता मिटाये बिना उसमें पुण्य का अंकुर नहीं निकल सकता। जब किसी उपाय से जमीन नरम कर ली जाती है हल चलाकर उसके नीचे का भाग खुला कर दिया जाता है तब बीज लग जाता है। उसी प्रकार जबतक मनुष्य पाप की आलोचना तथा प्रायश्चित्त

नहीं कर लेता उसको छुपाये रहता है या छुपाने का प्रयत्न करता रहता है, पुण्य का उपयोग पाप छिपाने के लिये करता है तबतक उसका पुण्य पैदा नहीं होता। एक आदमी इसलिये दान देता है कि लोग उसकी डकैती या बेईमानी की तरफ ध्यान न दें तो उसका दान अजातपुण्य है।

७– पुण्यार्थपाप प्रवृत्ति– विश्वकल्याण के लिये जहाँ थोड़ा बहुत पाप करना अनिवार्य हो वहाँ पुण्यार्थपाप प्रवृत्ति होती है। जैसे लोगों को सदाचार का पाठ पढ़ाने के लिये स्वर्ग के कल्पित चित्र का प्रलोभन देना। अगर लोग ऐसे अन्धश्रद्धालु हों कि वे युक्ति अनुभव की सत्य बातें कहने पर भी विश्वास न करें किसी अद्भुत अलौकिक देव देवी ईश्वर के शब्द पर ही विश्वास करें तो उन्हें समझाने के लिये कहना कि यह तो ईश्वर का सन्देश है यह तुम्हें मानना ही चाहिये तो इतना झूठ पाप, महान पुण्य के लिये होने के कारण पुण्यार्थपाप प्रवृत्ति है। स्मरण रहे कि यहाँ मुख्यता से लोककल्याण की ही भावना होना चाहिये पैगम्बर कहलाकर गौरव प्राप्त करने की नहीं। ऐसा करे ॥ तो यह पाप प्रवृत्ति हो जायगी।

प्रश्न– इसे अशुद्ध पुण्य क्यों न कहना चाहिये? क्योंकि इसका पुण्य पाप से दूषित हो गया है।

उत्तर– अशुद्ध पुण्य में कुछ स्वत्वमोह रहता है जब कि पुण्यार्थ पाप में मोह नहीं रहता। अशुद्ध पुण्य में पुण्य की मलिनता का कारण स्वार्थ या स्वार्थ की संकुचित सीमा है जब कि पुण्यार्थपाप में स्वार्थ वासना नहीं है उस की दृष्टि जगहित पर ही है इसलिये दोनों में काफी अन्तर है।

प्रश्न--इसमें जगहित है और स्वार्थवासना है ही नहीं, तब इसे शुद्ध पुण्य क्यों न कहना चाहिये?

उत्तर-- यद्यपि पुण्यार्थपापवाले को हम पापी नहीं कहसकते बल्कि पुण्यात्मा ही कहेंगे फिर भी वह पुण्यार्थपाप भी समय आने पर जनता का अहित करता है, वह अतथ्य भाषण अपना बुरा फल दिखलाता ही है। जब कोई परीक्षक उस की परीक्षा करता है और मिथ्या पाता है तब उसके सत्यांश पर भी अविश्वास कर बैठता है। इस प्रकार इस का अहित होता है। इसलिये शुद्ध पुण्य में शामिल हो सकने योग्य होने पर भी उसे अलग भेद में गिनाया जिससे यह पता लगे कि निःस्वार्थता होने पर भी पुण्य के लिये जितना पाप कम किया जाय उतना अच्छा। शुद्ध पुण्य में अंकुश लगाने की ज़रूरत नहीं है किन्तु पुण्यार्थपाप पर यथासम्भव अंकुश लगाने की ज़रूरत है, यही बात बताने के लिये इस भेद को शुद्ध पुण्य से अलग गिनाया है।

प्रश्न--यह पुण्यार्थपाप तो बड़े बड़े ज्ञानियों, तीर्थंकरों पैगम्बरों आदि में ही पाया जा सकता है जन साधारण में तो पुण्यार्थपापी नहीं ही होते होंगे।

उत्तर- सब में होते हैं। एक वैद्य रोगी को दिलासा देने के लिये झूठ बोलता है इसमें उसका कोई स्वार्थ आदि न होने से उसे अशुद्ध पुण्य या पाप नहीं कह सकते, वैद्यों के विषय में इस बात को लेकर रोगी के मन में अविश्वास रहता है इसलिये वह शुद्ध पुण्य भी नहीं है तब इसे पुण्यार्थपाप ही कहना चाहिये।

प्रश्न--शुद्ध पुण्य की तरह पुण्यार्थपाप को जीवन के ध्येय में शामिल करना चाहिये या नहीं?

पुण्य के लिये पाप करने की अपेक्षा यही अच्छा कि उस पुण्य और पाप दोनों से दूर रहा जाय।

उत्तर—शुद्ध पुण्य की तरह पुण्यार्थ पाप भी जीवन का ध्येय है क्योंकि वह भी एक तरह का शुद्ध-पुण्य है। कोई ऐसी औषध हो जो किसी खास बीमारी को दूर तो करदे परन्तु बीमारी को दूर करके अपना कुछ बुरा असर--जोकि उस बीमारी से बहुत कम हो—रोगी पर छोड़ जाय, तो उस औषध का उपयोग वैद्य उस समय अवश्य करता है जब किसी दूसरे तरीके से रोगी के बचने की आशा नहीं होती, यह बात वैद्य के कर्तव्य में शामिल है, इसी प्रकार तीर्थंकर पैगम्बर भी जब देखते हैं कि जन समाज को पाप की मौतसे बचाने के लिये अमुक तरह का अतथ्य भाषण अनिवार्य हो उठा है तब वे उपर्युक्त वैद्य की तरह उस पुण्यार्थपाप का प्रयोग करते हैं। इसलिये यह भी जीवन का ध्येय है। हां, शुद्ध पुण्य करते हुए भी जो पुण्यार्थ पाप से बच सके वह उतना ही अच्छा। पर पुण्य भी न किया और पुण्यार्थपाप भी न किया तो इससे श्रेष्ठता नहीं आती। कुछ खराब दवा देकर रोगी को मौत के मुँह में से बचा लेनेवाला वैद्य उस वैद्य से श्रेष्ठ है जो खराब दवा तो नहीं देता किन्तु रोगी को मर जाने देता है। हां, इन दोनों से श्रेष्ठ वह है जो खराब दवा भी नहीं देता और रोगी को बचा लेता है, पुण्यार्थ पाप नहीं करता पर पुण्य कर जाता है।

प्रश्न—पुराने जमाने के महात्मा पुण्यार्थपाप का जितना प्रयोग करते थे आजकल उसका उतना प्रयोग नहीं किया जाता इससे मालूम होता है कि आजकल के महात्मा पुराने जमाने के महात्माओं से श्रेष्ठ हैं।

उत्तर—श्रेष्ठ हैं कि नहीं यह नहीं कहा जा सकता पर यह कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ हो सकते हैं, परन्तु उनकी श्रेष्ठता का कारण यह नहीं होगा कि वे पुण्यार्थपाप का प्रयोग नहीं करते। पुण्यार्थपाप का प्रयोग तो इसलिये भी रोका जा सकता है कि यह दवा आज कारगर न रही हो, आज का रोगी पुराने रोगी की तरह न हो, ऐसी हालत में उसके प्रयोग करने में लघुता तो अवश्य है परन्तु उसके प्रयोग न करने में श्रेष्ठता नहीं है। पुराने जमाने के लोग भूत पिशाच स्वर्ग नरक की कथाएँ कह कर लोगों को धर्म या कर्तव्य का ज्ञान करा दिया करते थे, आज ऐसी कथाओं पर लोग विश्वास नहीं करते इसलिये अब ऐसी कथाएं निरर्थक हैं, जमाना ही ऐसा बदल गया या आगे बढ़ गया है कि ऐसी कथाओं पर विश्वास कराना भी लोगों की वैज्ञानिकता कम करना है इसलिये भी ऐसी कथाएँ निरर्थक हैं इसलिये आज का महात्मा या उपदेशक इन पुण्यार्थपापों का उपयोग नहीं करता, क्योंकि उसकी पुण्यार्थता ही नष्ट हो गई है तब इसे पुराने महात्माओं से श्रेष्ठ कैसे कह सकते हैं? श्रेष्ठता तो तब होती जब ऐसे अतथ्य वक्तव्यों की पुण्यार्थपापता बची रहने पर भी वह इनका प्रयोग न करता फिर भी उतना पुण्य कर जाता।

खैर, पुण्यार्थपाप यथासम्भव कम करना चाहिये पर उसके डरसे पुण्य कम न करना चाहिये।

८ पाप प्रवृत्ति——इन तीनों का स्वरूप तो
९ अशुद्धपुण्य प्रवृत्ति—ऊपर कहा ही जा चुका
१० शुद्धपुण्य प्रवृत्ति--है। बहुत सी प्रवृत्तियाँ जो हमें अशुद्धपुण्य या शुद्ध पुण्य मालूम होती

हैं उनमें ऐसी भी हो सकती हैं जो भुक्तपुण्य नष्टपुण्य या अजातपुण्य हों। प्रवृत्तियों के इन दस भेदों से उनकी परीक्षा करने में सुभीता होगा।

निर्णय निकष

प्रश्न— प्रवृत्ति के इन दस भेदों से प्रवृत्तियों को परखने का काफी मसाला मिला परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सब में श्रेष्ठ शुद्धपुण्य प्रवृत्ति है उसी के प्रभाव से या अविरोध से अन्य प्रवृत्तियाँ भी कर्तव्य में शामिल हो जाती हैं तो यह बतलाइये कि उस शुद्धपुण्य प्रवृत्ति को या अन्य कर्तव्य प्रवृत्तियों को परखने की क्या कसौटी है? अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य निर्णय कैसे किया जाय?

उत्तर— ध्येयदृष्टि अध्याय में विश्वकल्याण का जो रूप बताया गया है उसमें कर्तव्याकर्तव्य निर्णय की कसौटी भी आ जाती है। उस ध्येय की पूर्ति जिससे हो वही कर्तव्य है।

प्रश्न— वह कसौटी जरा कठिन है। सब जगह और सब समय के प्राणियों के सुखदुःख का माप तौल करना और उससे अधिक सुख का निर्णय करना जरा बड़े से पंडित का काम है और उसमें बुद्धि को मिहनत भी बहुत होती है। कर्तव्याकर्तव्य निर्णय के लिये क्या कोई सरल तरीका नहीं है जिससे हम समझ सकें कि उस ध्येय की पूर्ति हो रही है या नहीं?

उत्तर— इसका सरल तरीका है स्वोपमता या आत्मौपम्य। जो व्यवहार हम दूसरों के साथ करते हैं वही व्यवहार अगर हम अपने साथ करें तो हमें कैसा लगे? अगर हमें भी अच्छा लगे तो समझो वह कार्य कर्तव्य है अन्यथा अकर्तव्य है।

प्रश्न— न्यायाधीश बनकर अगर हम चोर को सजा देने बैठें और स्वोपमता से कर्तव्यनिर्णय करें तो चोर को दंड दिये बिना छोड़ देना पड़ेगा क्योंकि न्यायाधीश यही सोचेगा कि अगर मैं चोर होता तो यही चाहता कि न्यायाधीश मुझे दंड न दे, इसलिये मैं चोर को दंड न दूं। इस प्रकार स्वोपमता की दृष्टि से कर्तव्यनिर्णय करने में न्याय का काम ही रुक जायगा और जगत में अंधेर फैल जायगा।

उत्तर—न्यायाधीश के सामने सिर्फ चोर ही नहीं है किन्तु जिसकी चोरी हुई है वह भी है। उसका विचार करते समय उसे यह सोचना चाहिये कि अगर मेरी चोरी होती तो मुझे कैसा लगता इस प्रकार जिसकी चोरी हुई उसे भी लगता होगा। इतना ही नहीं किन्तु चोरी करने वाले चोरसे पूछा जाय कि कोई दूसरा तेरी चोरी करले जाय तो तुझे कैसा लगे तो चोर भी नहीं चाहेगा कि कोई उसकी चोरी करले जाय, चोर भी अपने चोर को दंड दिलाना चाहेगा इस प्रकार आत्मौपम्य पर विशेष विचार करने से कर्तव्य का निर्णय हो जायगा।

प्रश्न—एक गरीब आदमी के पास सिर्फ एक रुपया है वह किसीने चुरा लिया वह चोर ऐसे न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया गया जो लखपति है। जब आत्मौपम्य भाव से न्यायाधीश विचार करता है तो एक रुपये की चोरी उसे बहुत मामूली चोरी मालूम होती है इसलिये वह या तो चोर पर उपेक्षा कर जाता है या इतना थोड़ा दंड देता है जो उस गरीब आदमी के दुःख को देखते हुए पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, ऐसी हालत में आत्मौपम्य भाव से ठीक निर्णय कैसे हो सकता है?

उत्तर—लखपति न्यायाधीश को एक रुपया सम्पत्ति का लाखवाँ हिस्सा है जब कि उस गरीब

की यह पूरी सम्पत्ति है इसलिये लखपति न्याया-धीश को यह सोचना चाहिये कि मेरी सारी सम्पत्ति कोई ले जाता तो मुझे कैसा लगता, तब वह गरीब के एक रुपये की चोरी का मूल्य समझ जायगा। आत्मौपम्य का विचार करते समय सिर्फ घटना के रूप को न देखना चाहिये किन्तु घटना का जो सुख दुःख रूप प्रभाव हो उसे देखना चाहिये तब आत्मौपम्य भाव से ठीक ठीक निर्णय होगा।

प्रश्न-महात्मा ईसा कहा करते थे कि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारे तो तुम दूसरा गाल आगे करदो। ऐसे लोग आत्मौपम्य भाव से विचार करें तो दूसरे गाल पर तमाचा खाना ही कर्तव्य हो जायगा अथवा जैसे वे दूसरे गाल पर तमाचा खाकर दुखी नहीं होते वैसे दूसरों को भी समझ कर किसी को भी तमाचा जड़ देंगे उनका आत्मौपम्य भाव तो यही निर्णय करेगा और इससे तो बड़ा अन्धेर फैल जायगा।

उत्तर—महात्माओं को दुःख नहीं होता यह बात नहीं है बल्कि उनकी सुख-दुःख-संवेदन-शक्ति तीव्र होने से अधिक दुःख होता है परन्तु संयमी या वीतराग होने से वे क्षुब्ध नहीं होते यही उनकी विशेषता है। आत्मौपम्य से वे यह अवश्य समझते हैं कि अमुक व्यवहार से दूसरों को बड़ा कष्ट होता है क्योंकि कष्ट तो उन्हें भी होता है, इसलिये वे किसी को तमाचा न मारेंगे। हां, तमाचा खाते हैं खाने का उपदेश भी देते हैं इसका कारण यह है कि वे भगवती अहिंसा की साधना का एक ऐसा तरीका बताते हैं जिस से मनुष्य अपने शत्रु को प्रेम से जीत सके।

खैर, आत्मौपम्य [स्वोपमता] भावना एक ऐसी कसौटी है जिससे मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य निर्णय कर सकता है। अकषायता से भी कर्तव्या-कर्तव्य के निर्णय में बड़ी मदद मिलती है। नहीं तो अधिक सुख जीवन का ध्येय है ही, जो कसौटी के काम आसकता है।

इस प्रकार कर्तव्याकर्तव्य निर्णय होने से निर्दोष प्रवृत्ति का पता लग सकता है जो कि सदाचार का आवश्यक अंग है।

भगवती अहिंसा के स्वरूप में निवृत्ति की मुख्यता होने पर भी आवश्यक प्रवृत्ति पर उपेक्षा नहीं की जासकती। फिर भी निवृत्ति से प्रारम्भ होने के कारण और उसकी मुख्यता होने के कारण निषेध-परक अहिंसा शब्द का उपयोग उचित और आवश्यक है।

भगवती का मातृत्व

प्रश्न— भगवती अहिंसा में मातृत्व का जो आरोप किया गया है उसका कारण सिर्फ यही मालूम होता है कि अकस्मात् अहिंसा शब्द स्त्री-लिंग निकला। अगर इस के स्थान पर सदाचार या प्रेम शब्द होता तो ईश्वर के दो अंश दो लिंग में न बताये जा सकते। अहिंसा शब्द का आकस्मिक रूप में स्त्रीलिंग होना क्या ईश्वर को नर नारी के रूप में विभक्त करने का पर्याप्त कारण है?

उत्तर-- नर और नारी के मिले बिना पूर्णता नहीं होती और ईश्वर पूर्ण है इसलिये उस में ये दोनों अंश अवश्य हैं। ईश्वर का उपयोग जब जगत्कल्याण के लिये किया जाता है तब उस का विचार और आचार अंश उपयोगी होता है। विचार अंश बीज रूप होने से पुरुष अंश कहाजाता है और आचार अंश कल्याण सृष्टि का व्यापक उपादन होने से नारी

अंश कहाजाता है। सन्तान की सृष्टि और वृद्धि में माता पिता का जो स्थान है वही कल्याण की सृष्टि और वृद्धि में आचार और विचार का स्थान है। इसलिये अहिंसा माता है। अगर अहिंसा शब्द स्त्रीलिंग न होता तो उसे स्त्रीलिंग बनाना आवश्यक हो जाता क्योंकि वह ईश्वर के उसी अंश का वाचक है जिसे नारीत्व कहा जा सकता है।

शब्दों में जो लिंग भेद होता है वह किसी न किसी प्रकार के अर्थभेद का सूचक है। जब शब्द का लिंग अर्थ की लैंगिक भावना के अनुरूप नहीं होता तब हमें रूपक आदि के द्वारा शब्द का लिंग बदलना पड़ता है या कालान्तर में जनता स्वयं उसका लिंग बदल लेती है। विजय शब्द मूल में पुल्लिंग होने पर भी युद्ध में उसका स्थान जब स्वयम्वर की कन्या के समान होगया तब विजय श्री आदि रूपकों से उसको स्त्री लिंग बना दिया गया और हिन्दीवालोंने तो उसे स्वतन्त्ररूप में ही स्त्रीलिंग मान लिया।

भाग्य से अहिंसा शब्द स्त्रीलिंग है अगर इसके स्थान पर प्रेम या आचार शब्द होता तो उनका लिंग बदलना पड़ता क्योंकि ईश्वर के जिस अंश के ये वाचक हैं उसका सम्बन्ध नारीत्व से है।

अहिंसा में मातृत्व का आरोप उसके शब्द-लिंग के कारण नहीं किन्तु ईश्वर के नारीत्व अंश रूप होने के कारण किया गया है।

यह भगवती अहिंसा है, जो जगत के सारे कल्याणों की जननी है। अहिंसा सत्य अचौर्य अपरिग्रह व्रत जिसके अंग हैं, इनके साधक अनेक उपनियम जिसके उपांग हैं, अकषायता निर्वैरता कर्मयोग आदि जिसके प्राण हैं, समस्त धर्म मत या मजहब जिसके वस्त्र हैं, देश काल से सम्बन्ध रखनेवाले बाह्याचार जिसके वस्त्र के रंग हैं, कल्याण के लिये उपयोगी अनेक गुण जिसके आभूषण हैं; वही जगदम्बा भगवती अहिंसा है जिसकी उपासना से सब धर्मों की उपासना हो जाती है और जिसके बिना कोई क्रिया धर्म नहीं कही जा सकती।

सारे नियम यम अंग तेरे वस्त्र तेरे धर्म हैं।
ये वस्त्र के सब रंग दैशिक और कालिक कर्म हैं॥
गुण गण सकल भूषण बने चैतन्यमयि हे भगवती।
हे विश्वप्रेममयी अभय दे अमर ज्योति महासती॥

आचारकांड-दूसरा अध्याय

(भगवती की साधना)

साधना और आराधना

किसी वस्तु को सिद्ध करने का प्रयत्न साधना है। भगवती अहिंसा की साधना का मतलब है कि हम अपना जीवन ऐसा बनावें जिससे हम पर भगवती की कृपा हो और जगत् में सुख वृद्धि हो। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिये कि अपना जीवन विश्वकल्याण के लिये उपयोगी बनाना भगवती की साधना है। हम स्वयं सदाचारी बनें जगत् को सदाचारी बनाने का प्रयत्न करें दुराचार का प्रसार न होने दें उसे हटाने का प्रयत्न करें यह सब भगवती अहिंसा की साधना है।

भगवती के गीत गाना उसकी मूर्त्ति बनाना उसे प्रणाम करना आदि भगवती की साधना नहीं है वह तो सिर्फ आराधना या पूजा है। आराधना साधना की तरफ प्रेरणा करती है परन्तु जितने अंश में साधना की तरफ़ प्रेरणा है उतने ही अंश में आराधना की सार्थकता है। आराधना व्यवहार का विषय है और साधना आचार का इसलिये यहां साधना का ही वर्णन किया जाता है।

ईश्वर और शैतान

भगवती अहिंसा की साधना का वर्णन करने के पहिले कुछ भेद प्रभेदों का समझ लेना जरूरी है क्योंकि उसकी साधना का रूप तभी अच्छी तरह समझा जा सकेगा।

आध्यामिक विश्व दो भागों में विभक्त है एक सत् अर्थात् ईश्वर दूसरा असत् अर्थात् पाप या शैतान। ईश्वर के दोरूप हैं भगवान सत्य और भगवती अहिंसा। पाप या शैतान के दो रूप हैं पापी मिथ्यात्व और पापिनी हिंसा। दृष्टि-कांड में भगवान सत्य का वर्णन विस्तार से हुआ है। उसके विरुद्ध जो विचार या श्रद्धा आदि है वही पापी मिथ्यात्व है। भगवती अहिंसा और पापिनी हिंसा का वर्णन इस आचार कांड में किया जा रहा है।

यह कहा जा चुका है विश्वकल्याण के लिये उपयोगी समस्त बाह्य अभ्यन्तर (कायिक मानसिक) आचार के समुदाय को **भगवती अहिंसा** कहते हैं इसका मतलब यह हुआ कि विश्व-कल्याण के विरोधी समस्त बाह्य आभ्यन्तर आचार को **पापिनी हिंसा** कहते हैं।

व्यवहार पंचक

जब कोई प्राणी हमारे स्वार्थ के सम्पर्क में आता है तब हम उसके स्वार्थ के विषय में पांच तरह का व्यवहार करते हैं १ वर्धन, २ रक्षण, ३ विनिमय, ४ भक्षण, ५ तक्षण, । इन में से वर्धन और रक्षण भगवती अहिंसा के कार्य हैं और भक्षण तक्षण पापिनी हिंसा के। विनिमय न तो हिंसा है न अहिंसा, किन्तु भक्षण और तक्षण के अवसर पर भी विनिमय किया जाय तो वह अहिंसा का कार्य हो जायगा और वर्धन या रक्षण के स्थान पर विनिमय किया जाय तो वह हिंसा का कार्य हो जायगा।

१ **वर्धन**--विनिमय का विचार न रखते हुए दूसरे के सुखको बढ़ाना वर्धन है। जैसे हमने किसी को दान दिया और इस बात की पर्वाह न की कि हमें यश मिलेगा या नहीं तो यह वर्धन हुआ।

२ **रक्षण**--विनिमय का विचार न रखते हुए दूसरे के सुख का रक्षण करना या उसको दुख न होने देना रक्षण है। जैसे किसी की सम्पत्ति को चोर आदि से बचाना।

३ **विनिमय**--ऐसा लेन देन, जिससे अपना भी स्वार्थ सिद्ध हो और दूसरे का भी स्वार्थ सिद्ध हो, विनिमय है। जैसे बाजार में हमने सौदा खरीदा, हमने पूरे पैसे दिये उसने पूरा सौदा दिया यह विनिमय है। परन्तु मानलो मैंने कहा कि मैं जरा दूसरे काम से जाता हूं तुम सौदा तौल कर रखना, सौदा ऐसा है कि अगर दूकानदार थोड़ा बहुत कम तौले तो पकड़ा न जाय फिर भी वह जरा भी कम नहीं तौलता या उस में खराब माल शामिल नहीं करता इस प्रकार भक्षण का अवसर आ जाने पर भी वह विनिमय करता है तो यह उसकी अहिंसा का कार्य है, विनिमय यहां पर रक्षण बन गया है। इसी प्रकार विनिमय जहां भक्षण बन जाय वहां हिंसा कार्य हो जायगा। जैसे माता पिताने सर्वस्व लगाकर पुत्र का पालन किया पुत्र समर्थ होकर इतना कमाने लगा कि वह माता पिता का पोषण कर सके अब माता पिता का रक्षण करना उस का कर्तव्य है पर वह माता पिता से कहता है कि तुम कमाकर लाओ तो खाना दूंगा नहीं तो नहीं, यह रक्षण के स्थान पर जो विनिमय है वह हिंसा है क्योंकि यह विनिमय भक्षण बन गया है। इसमें लिये हुए नैतिक ऋण का चुकाना नहीं है, इसमें कृतघ्नता है इसलिये यह हिंसा है भक्षण है।

भक्षण--अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के जीवन का, उनकी शक्तियों का या उनकी सम्पत्ति का, उचित बदला दिये बिना अर्थात विनिमय का उत्तर दायित्व लिये बिना छल या बल के प्रयोग से उपयोग करना या उसका प्रयत्न करना भक्षण है। जैसे चोरी करना, ठगना, किसी देश को या जाति को या मनुष्य को गुलाम बना लेना आदि। भक्षण जब विश्वहित के विरुद्ध हो जाता है तब हिंसा पापिनी का कार्य कहलाता है।

प्रश्न--एक साधु भिक्षा तो लेता है पर उसके बदले में कुछ नहीं देता न भिक्षा देनेवाली जनता ही इस बात की पर्वाह करती है तो क्या यह भक्षण हिंसा कहलायगा।

उत्तर--साधु के ऊपर समाज सेवा की जो जिम्मेदारी है उसमें विनिमय का सिद्धान्त काम कर रहा है इसलिये साधु भक्षक नहीं है। अगर पेट पालने के लिये या आदर पूजा यश लूटने

के लिये किसीने साधु वेष लिया या और किसी तरह से साधुता का प्रदर्शन किया है तो अवश्य ही वह भक्षक है इसलिये हिंसक है।

प्रश्न— साधुता का चिन्ह यही है कि उस के जीवन में विनिमय का विचार न हो। वह देते समय अधिक से अधिक दे और लेते समय कम से कम ले। अगर वह ऐसा करता है तो जनता को भक्षण का पाप लगता है अगर वह ऐसा नहीं करता तो उसे भक्षण का पाप लगता है ऐसी हालत में साधुता अनर्थकर कहलाई।

उत्तर— अगर साधु अपनी सेवा के मूल्य से अधिक यश आदर या ऐश आराम लेता है तो वह भक्षक है, हिंसक है, क्यों कि उसका वह लेना छल से है साधु वेषकी ओट में वह जनता को धोखा देता है उस के भोले पन का दुरुपयोग करता है, परन्तु अगर वह जनता को अधिक देता है तो वह दानी है साधु है, परन्तु जनता भक्षक नहीं है क्यों कि जनता साधु से लेने के लिये छल या बल का उपयोग नहीं करती। छल और बल ये हिंसा पापिनी के दो शस्त्र हैं जहाँ ये दोनों नहीं हैं वहाँ हिंसा पापिनी निकम्मी हो जाती है।

प्रश्न— कोई साधु वेषी समाज को उचित बदला नहीं देता किन्तु लेता बहुत अधिक है फिर भी उसे भक्षक कैसे कह सकते हैं क्यों कि वह किसी के साथ जबर्दस्ती नहीं करता लोग खुशी से उसे देते हैं तो वह क्या करे?

उत्तर— इससे सिर्फ इतना ही सिद्ध होता है कि वह बल का प्रयोग नहीं करता, पर छल का भी प्रयोग नहीं करता यह नहीं कहा जा सकता। लोगों की अन्धश्रद्धा का उपयोग करना और अन्धश्रद्धा को सन्तुष्ट रखने के लिये या उन के अहंकार को चरितार्थ करने के लिये खुराक देना पर उन की वास्तविक सेवा न करना भयंकर छल है इसलिये यह भक्षण है, हिंसा है।

प्रश्न— वृद्धावस्था या शैशवावस्था या रोग आदि के कारण कोई बदला नहीं दे सकता तो क्या वह हिंसक है?

उत्तर— वृद्ध या शिशु या रोगी छल या बल का उपयोग नहीं करता इसलिये वह हिंसक नहीं है। हाँ कोई मुफ्त में खाने के लिये रोगी या अधिक रोगी या अशक्त बनने का ढोंग करे, कदाचित् इसलिये वह बन भी जाय तो अवश्य वह छली है, हिंसक है।

प्रश्न— वृद्धावस्था में बहुत से लोग काम तो कर सकते हैं परन्तु इसलिये नहीं करते कि उन के काम करने से जवानों को काम नहीं मिलता बेकारी बढ़ती है इसलिये वे वृद्ध बिना सेवा के ही खाते हैं तो क्या उन्हें भक्षक और हिंसक कहा जाय?

उत्तर—बेकारी न बढ़ पावे इसलिये अगर उनने काम छोड़ा है तो उन्हें आजीविका के काम न करना चाहिये पर जनसेवा के और भी ऐसे काम हैं जिनके करने से बेकारी न बढ़ेगी उन कामों को करने में आपत्ति न होना चाहिये।

प्रश्न—कोई आदमी इसलिये काम नहीं करना चाहता कि उसने जीवन में इतना अधिक काम किया है कि अब उसे विश्राम की जरूरत या इच्छा है तो क्या उसे भक्षक कहेंगे?

उत्तर—नहीं, यह तो विनिमय का सवाल है अगर वह इतनी सेवा कर चुका है कि उसके बदले में वह विश्राम ले सकता है तो विश्राम उसकी पहिली सेवा का ही बदला हुआ उसमें

भक्षण न हुआ। परन्तु पुरानी सेवाओं का वास्तविक मूल्य (बाजारू मूल्य नहीं) जानना कठिन है इसलिये जहां तक हो सके उसे सेवा कार्य करना ही चाहिये। हां अगर वह देखे कि मेरी सेवाएँ निष्फल जा रही हैं या लाभ के बदले हानि कर रही हैं तब वह निवृत्त भी हो सकता है या कुछ समय के लिये निवृत्त हो सकता है।

प्रश्न—पशुपालन आदि भी एक तरह का भक्षण हैं क्योंकि इसमें पशुओं की शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग किया जाता है जब कि उन्हें भी मनुष्य के समान स्वतन्त्रता से जीवित रहने का अधिकार है।

उत्तर—इसमें कुछ न कुछ भक्षण होने की सम्भावना पूरी है फिर भी पशुपालन बिलकुल भक्षण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनसे जो सेवा ली जाती है उसके बदले में सेवा की भी जाती है और उनका रक्षण भी किया जाता है इसलिये पशुपालन विनिमय के सिद्धान्त पर खड़ा हुआ है। हां, निर्दयता से सेवा लेना उन की ठीक रक्षा न करना भरपेट खाने न देना अवश्य भक्षण है इसलिये हिंसा है। यद्यपि मनुष्य के समान पशु को भी स्वतन्त्रता से जीवित रहने का अधिकार है परन्तु अधिकार कुछ जिम्मेदारी भी मांगता है। मैंने अपने मकान के पास थोड़ी सी जगह में शाक तरकारी लगाई मैं उसके लिये दिन में दो बार पानी देता हूं जमीन को तयार किया था खाद लाकर डाला था अब भी साफ सफाई करता हूं इस प्रकार मेरे बड़े परिश्रम का फल कोई भी पशु बिना पूछे खा जाता है अगर मैं बांस वगैरह गाड़कर रोक भी लगाता हूं तो वह उसकी भी पर्वाह नहीं करता, और दूसरे पशु का हिस्सा हड़पने में भी नहीं चूकता इस प्रकार जब पशु का जीवन इतना बेजिम्मेदार है तब उसको मनुष्योचित स्वतन्त्रता मिलना कठिन है। उसके अनुरूप विनिमय के सिद्धान्त पर उससे सेवा ली जाय यही ठीक है।

प्रश्न--साधारण पशुपालन को विनिमय कहा जा सकता है पर गोपालन तो विनिमय नहीं कहा जा सकता क्योंकि हम उसका दूध पीते हैं। किसी के दूध पर भी अधिकार जमा लेना तो एक तरह का अन्याय है खास कर बछड़े के साथ तो अन्याय है ही।

उत्तर--जिन जानवरों से दूसरा कोई परिश्रम नहीं लिया जा सकता फिर भी अगर हम उनका पालन पोषण रक्षण करते हैं तो उनसे दूध लेना अनुचित नहीं है। पालन पोषण का उचित बदला मिलना जरूरी है और वह दूध के द्वारा भी मिल सकता है इसलिये दूध लिया जाता है। बछड़े के पालन पोषण की जिम्मेदारी भी हमारे ऊपर है इसलिये बछड़े को भी कुछ त्याग करना पड़ता है फिर भी कुछ दिनों तक तो उसे पूरा दूध देना ही चाहिये दिया भी जाता है बाद में दूध के बदले में कोमल घास दिया जाता है और थोड़ा दूध भी चालू रहता है। एक बात और भी है कि जितना दूध पैदा होता है उतना दूध सदा बछड़ा पीता रहे तो उसके पेट में कीड़े पड़ जाते हैं इसलिये सारा दूध उसे पिलाना भी न चाहिये इस बचे हुए दूध का उपयोग मनुष्य करे तो बुराई नहीं है। मतलब यह है कि बछड़े को भूखा मरना पड़े भूख के कारण उसका विकास रुक जाय ऐसा न होना चाहिये। बछड़े का भी खयाल रक्खा जाय और दुधारू जानवर के पालन के लाभ का अर्थात् विनिमय का भी लक्ष्य रक्खा जाय तो गोपालन आदि में पाप नहीं है।

प्रश्न--शहदमें मधुमक्खियों के धन का छल से या बल से अपहरण ही किया जाता है यह तो भक्षण ही कहलाया इसलिये शहद का उपयोग भी हिंसा मानना चाहिये। जो लोग मधुमक्खी पालते हैं वे भी छलसे अपहरण करते हैं।

उत्तर--हिंसा तो यह है ही, परन्तु है बहुत थोड़ी मात्रा में। शहद मक्खियों का ऐयाशी भोजन है और मनुष्य की दवा है। मधुमक्खी यों तो अपना पेट भर ही लेती हैं संचित मधु के अभाव में वह भूखों नहीं मरती इसलिये हिंसा कम ही रह जाती है फिर औषध के लिये जब मधु का उपयोग किया जाता है तब विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से दुखवर्धकता बहुत कम रह जाती है। चैतन्य की दृष्टि से मधुमक्खी का स्थान मनुष्य या पशु के बराबर नहीं है।

यों तो प्रकृतिने भक्ष्यभक्षकमय संसार बना रक्खा है। मनुष्य जिस दिन से पैदा होता है उसी दिन से हिंसा आदि का विचार किये बिना भक्षण शुरु कर देता है। वायुमण्डल जीवों का पिंड है एक श्वास में ही लाखों सूक्ष्म प्राणी अपना जीवन खोदेते हैं परन्तु इस भक्षण को रोकना मनुष्य के वश के बाहर है इसमें छल तो है ही नहीं बल का भी प्रयोग नहीं है उसका सिर्फ उपयोग है। भक्षण में छलबल के प्रयोग का विचार करना चाहिये उसके प्राकृतिक उपयोग का नहीं, इसलिये यह प्राकृतिक संहार क्षन्तव्य है। शाक भाजी खाने में भी हिंसा होती है जीवन निर्वाह के लिये वह भक्षण भी अनिवार्य है इसलिये क्षन्तव्य है। इस भक्ष्यभक्षकमय संहार में मनुष्य इतना ही कर सकता है कि वह अधिक चैतन्य वाले प्राणियों को कम से कम दुःख दे और वनस्पति आदि हीन चैतन्यवालों को अनावश्यक कष्ट न दे और चैतन्य के माप से विश्वसुखवर्धन की तराजू को सम्हालता रहे। इस दृष्टि से शहद में अल्प मात्रा में ही हिंसा रह जाती है।

तक्षण--विश्वहित की पर्वाह किये बिना प्राणों का नाश करना, प्राणी की शक्ति को नष्ट करना, रोकना, या उसके चित्त को क्लेशित करना तक्षण है। जैसे अहंकारवश किसी को मार डालना गाली देना आदि। यह सब हिंसा पापिनी का कार्य है।

प्रश्न--भक्षण और तक्षण में अन्तर क्या है?

उत्तर--भक्षण में दूसरे की शक्ति आदि का उपयोग करने की मुख्यता है तक्षण में इस की मुख्यता नहीं है किसी दूसरे कार्य के लिये सिर्फ दूसरे की बर्बादी की जाती है। जैसे किसी डाकू ने एक आदमी को इसलिये मार डाला कि उसने डाका डालते समय डाकू को पहिचान लिया था। डाकू को डर था कि वह गवाह बनकर पकड़ा देगा। यहाँ डाकू को उस आदमी का उपयोग नहीं करना था सिर्फ अन्याय्य आत्मरक्षा के लिये उसका नाश करना था।

प्रश्न--म. राम ने सीता के लिये रावण का वध किया यह भी तक्षण कहलाया! क्या यह हिंसा पापिनी का कार्य है?

उत्तर--तक्षण तो यह जरूर है पर यह तक्षण हिंसा पापिनी का कार्य नहीं है। क्योंकि यह विश्वहित के विरुद्ध नहीं है, बल्कि विश्वहित के लिये जरूरी है।

प्रश्न--आत्महत्या बड़ा पाप माना जाता है परन्तु उसमें न तो किसी का भक्षण है न किसी का तक्षण, तब वह पाप क्यों?

उत्तर--उसमें तक्षण है क्योंकि उसमें प्राणों का नाश किया जाता है चित्त को क्लेशित किया जाता है। मनुष्य आत्महत्या तभी करता है जब कोई बात —घटना या परिस्थिति उसकी इच्छा के प्रतिकूल हो जाती है। उसके कारण जब उसके मन में दूसरों पर क्रोध मान या मोह का ऐसा उद्वेग पैदा होता है जिसे वह सह नहीं सकता तब आत्महत्या करता है। जहाँ आत्महत्या विश्व-सुख वर्धन का अंग है वहाँ वह भगवती अहिंसा का प्रसाद बन जाती है इसलिये वह धर्म है।

भगवती अहिंसा की साधना के लिये यह आवश्यक है कि हम वर्धन और रक्षण का कार्य करें भक्षण सीमित और कम से कम करें तक्षण से बचें अथवा उतना ही तक्षण करें जितना वर्धन या रक्षण के लिये अनिवार्य हो उठा हो। हिंसा पापिनी के दो शस्त्र हैं छल और बल, इन शस्त्रोंका उपयोग हम न करें न्याय को ही परम शस्त्र समझें। परन्तु जहाँ न्याय के लिये या वर्धन और रक्षण के लिये या हिंसा पापिनी को पराजित करने के लिये उसी के शस्त्र की जरूरत हो वहाँ छल और बल का भी उपयोग करें पर इन्हें एक प्रकार से अपवाद समझें।

साधना के अंग

भगवती की साधना के तीन अंग हैं। १ मन २ जीवन और ३ लोक। अपने मन को पवित्र अर्थात् अकषाय बनाना **मन साधना है।** कषाय मन की वह मलिन अवस्था है जो अपने और दूसरों के दुःख का कारण है, जैसे क्रोध लोभ मद आदि। मन की चंचलता का नाम मलिनता नहीं है और न मन की स्थिरता का नाम शुद्धता। दुर्ध्यान में भी मन स्थिर हो जाता है और पवित्र हृदय भी आनन्दनृत्य करता है इसलिये सब मनोवृत्तियों को कषाय नहीं कहते। इस बात को अच्छी तरह से समझने के लिये मनोवृत्तियों के भेद प्रभेदों को अच्छी तरह जान लेना चाहिये।

मनोवृत्ति के भेद

मनोवृत्ति दो तरह की होती है १ **इच्छारूप** २ **अनिच्छारूप**। इच्छारूप के तीन भेद हैं १ **प्रेम** (उत्तम) २ **रुचि** (मध्यम) ३ **मोह** (जघन्य)। अनिच्छारूप के तीन भेद हैं १ **विरक्ति** (उत्तम) २ **अरुचि** (मध्यम) ३ **द्वेष** (जघन्य)। प्रेम और विरक्ति एक ही सिक्केकी दो बाजू की तरह हैं, इसी प्रकार रुचि और अरुचि, मोह और द्वेष। प्रेम के तीन भेद हैं १ **भक्ति** २ **वात्सल्य** ३ **मैत्री**। रुचि के पांच भेद हैं १ **काम** २ **हास्य** ३ **आशा** ४ **उत्साह** ५ **आश्चर्य**। उसमें काम के चार भेद हैं १ **भोग** २ **उपभोग** ३ **सहभोग** ४ **स्वभोग**। मोह के चार भेद हैं १ **अर्थ** मोह (लोभ) २ **नाम** मोह, ३ **जाति** मोह ४ **कुल** मोह। विरक्ति दो तरह की है १ **चिकित्सा** २ **उपेक्षा**। अरुचि पांच तरह की है १ **घृणा** २ **शोक** ३ **चिन्ता** ४ **भय** ५ **आश्चर्य**। द्वेष तीन तरह का है १ **क्रोध** २ **मान** ३ **छल**। मोह क्रोध मान और छल इन चारों को कषाय कहते हैं।

मनोवृत्तियों के जो भेद प्रभेद यहाँ बताये गये हैं उन सबके अर्थात् प्रत्येक के दो दो रूप होते हैं एक वह जो बहुत समय तक अन्दर ही अन्दर संस्कार रूप में बना रहता है दूसरा वह जो क्षणिक आवेगों के रूप में आता है और शीघ्र मिट जाता है संस्कार रूप में वह बहुत समय तक नहीं रहता। उत्तम श्रेणी की मनोवृत्तियों के

संस्कार रूप को तेज कहते हैं आवेग रूप को छाया। मध्यम श्रेणी के संस्कार रूप को धारा कहते हैं आवेग रूप को लहरी। जघन्य श्रेणी के संस्कार रूप को किट्ट कहते हैं और आवेग रूप को कालिमा। अब इन सब का स्वरूप वर्णन कर दिया जाता है।

प्रेम--अपने को दूसरों के अनुकूल बनाने की भावना प्रेम है। जब हमारे मनमें विश्वके अनुकूल बनने की भावना होती है तब विश्वप्रेम पैदा होता है। इस अवस्था में मनुष्य पूर्ण निष्पक्ष और निःस्वार्थ हो जाता है इसी का नाम वीतरागता वीतमोहता जिनत्व बुद्धत्व कैवल्य या स्थितिप्रज्ञता है।

पात्र के भेद से प्रेम के तीनरूप होते हैं भक्ति, वात्सल्य और मैत्री।

भक्ति--अपने से अधिक गुणियों में, उपकारियों में, वयोवृद्धों में जो आदर सहित प्रेम होता है वह भक्ति है। जैसे ईश्वरप्रेम आदि।

वात्सल्य--अपने से छोटे व्यक्तियों के विषय में जो प्रेम होता है उसे वात्सल्य कहते हैं। दया करुणा आदि वात्सल्य के ही पर्याय नाम हैं।

मैत्री--छोटे बड़े का विचार किये बिना या बराबरी के भाव से जो प्रेम होता है वह मैत्री है।

इन तीनों में अनुकूल बनने की भावना है सुख वृद्धि की भावना है इसलिये ये तीनों कषाय-रूप नहीं है।

प्रश्न--भक्ति अगर प्रेम है तो उसमें अनुकूल वृत्तिता होना ही चाहिये पर ईश्वर भक्ति में वह कैसे होगी? क्योंकि ईश्वर तो कृतकृत्य है उसे अनुकूल क्या और प्रतिकूल क्या?

उत्तर--ईश्वर को हमारी अनुकूल प्रतिकूलता की पर्वाह भले ही न हो पर हमारे मनमें वह भावना रहना चाहिये। अथवा ईश्वर के बनाये हुए संसार के अनुकूल रहना उसके संदेश के अनुसार चलना ईश्वर के अनुकूल होना है।

प्रश्न--किसी ऐसे देव की भक्ति भी गुणाधिकता के कारण हो सकती है जो जगत बनाने वाला भी न हो और जो संदेश भी न देता हो, जैसे जैन लोग सिद्धभक्ति करते हैं। सिद्ध अर्थात् मुक्तात्मा न तो जगत्कर्ता माने जाते हैं न उपदेशक, फिर उनके विषय में भक्त की अनुकूलता क्या?

उत्तर--उनकी विशेषता को अनुकरणीय मानना यथाशक्ति उसका अनुकरण भी करना अनुकूलता है।

प्रश्न-- आपके मतानुसार प्रेमकी पराकाष्ठा से मनुष्य वीतराग होता है परन्तु व्यवहार में इससे उल्टा ही देखाजाता है। माता बेटेसे अधिक से अधिक प्रेम करती है फल यह होता है कि वह बेटेके सौ खून माफ करने को तैयार रहती है पर पुत्रविरोधी बड़े से बड़े न्यायी और वीतराग से भी द्वेष करती है इसलिये प्रेम तो अनर्थका ही मूल है।

उत्तर-- जो अनर्थका मूल है वह प्रेम नहीं है मोह है। मोह और प्रेम में बड़ा अन्तर है। प्रेम में विवेक और विश्वकल्याण है मोह में अविवेक और स्वार्थ है। उपर्युक्त माता के उदाहरण में प्रेम नहीं मोह है।

प्रश्न-- भक्तिपात्र के साथ मैत्री का और मैत्री योग्यके साथ वात्सल्यका व्यवहार करने से दुःख भी बढ़ता है इसलिये मैत्री और वात्सल्यको

प्रेम रूप कैसे कह सकते हैं अथवा उसे अकषायता कैसे मान सकते हैं ।

उत्तर-- यहाँ अहंकार है मैत्री और वात्सल्य नहीं। जब हम किसी भक्तिपात्र के साथ सिर्फ मैत्रीका व्यवहार करते हैं उस समय हमारे मन में बराबरी प्रगट करने का या व्यक्तित्व का अन्तर मिटाने या कम करने का अहंकार रहता है इसलिये यहाँ प्रेम न रहा अहंकार रहा। अहंकार द्वेष रूप होने से कषाय है। प्रेम कषायरूप नहीं है।

प्रश्न-- जिससे हमें प्रेम होता है उस की स्मारक वस्तु से भी प्रेम होता है। मनुष्य गुरु की जूती की तरफ भी प्रेम की निगाह से देखता है आदर भी करता है ऐसे प्रेम को किस भेद में रक्खा जाय ? मैत्री आदि तो प्राणियों से रक्खी जाती है जड़ पदार्थों से नहीं।

उत्तर-- जड़पदार्थों में भी भक्ति प्रेम वात्सल्य रक्खा जाता है यह सब उसीके अनुसार होता है जिसके वे स्मारक हैं स्मारक तो एक तरह की मूर्त्ति है सहारा है। मूर्त्ति की भक्ति वास्तव में मूर्त्ति की भक्ति नहीं होती किन्तु मूर्त्तिके द्वारा किसी अन्य की भक्ति होती है उसी प्रकार स्मारक के द्वारा हम स्मरणीय का ही प्रेम करते हैं। इसलिये स्मारक और स्मरणीय के प्रेम में अन्तर नहीं होता दोनों एक ही भेद में शामिल होते हैं।

प्रश्न-- जिस वस्तु का सम्बन्ध दूसरे से है उस में भक्ति मैत्री या वात्सल्य रक्खा जासकेगा पर एक चीज ऐसी है जिसका दूसरों से कोई सम्बन्ध नहीं। जैसे मानलो मैं असफलताओं से निराश होकर बैठा हूं सोचता हूं कि पहिले कैसा वैभव था रंग राग था पर अब तो सब कुछ चलागया, इसी समय बादलों पर दृष्टि पड़ी सन्ध्या की ललाई उनपर छाई थी थोड़ी देर में अँधेरा हुआ ललाई उड़गई बादलों की आकृतियाँ बिखर गईं कुछ बूंदे गिरीं गर्मी में कुछ ठंडक सी मालूम हुई मैंने सोचा--- बनना बिखरना तो दुनिया का स्वभाव है रंग जाता है रस आता है क्या बुरा है, इस विचार से निराशा और खेद उड़ गये पर तभी से बादलों को देखकर प्रेम का अनुभव करता हूं बादल जड़ है उससे मैत्री आदि नहीं हो सकती दूसरों का संस्मरण भी उससे नहीं होता जिससे उनके अनुरूप बादल में भाव लाया जाय जैसे मूर्त्ति में भक्ति लाई जाती है। अब बतलाइये यहाँ प्रेम का कौन रूप है।

उत्तर-- जो वस्तु हमें अज्ञान से ज्ञान में लाने का निमित्त बनती है उसके विषय में भक्ति पैदा होती है, जो किसी काम में सहायक होती है उससे मैत्री का भाव आता है, जिस में छोटेपन के भाव के साथ प्रेम होता है उस में वात्सल्य आता है। फिर भी एक बात हमें ध्यान में रखना चाहिये कि इस प्रकार का वस्तुप्रेम बहुत ही जल्दी मोह बन जाता है। इस प्रकार की अधिकांश मनोवृत्तियाँ अर्थमोह या कुटमोह की श्रेणी में चली जातीं हैं पर अगर मोह न बने तो उन की योग्यता या उपकार के अनुसार उनमें भक्ति वात्सल्य या मैत्री की मनोवृत्ति होती है।

रुचि--दूसरों के नैतिक अधिकार छीने बिना आवश्यकताओं को पूरी करने का भाव रुचि है। प्रेम में स्वार्थ गौण है विश्वहित या परहित मुख्य है, रुचि में नैतिक स्वार्थ की मुख्यता है परहित गौण है। रुचि अगर न्याय के बाहर चली जाय विश्वहित के विरुद्ध हो जाय तो मोह बन जायगी। स्थितिप्रज्ञों योगियों और अर्हतों में भी रुचि पाई जाती है पर मोह नहीं पाया जाता।

काम--रुचि के पांच भेदों में पहिला भेद

काम है। यहां काम का अर्थ है मन या इंद्रियां की प्यास बुझाना। यह रुचि का भेद होने से रुचि की मर्यादा इसे भी लागू है इसलिये वह विश्वहित के विरुद्ध न होना चाहिये। स्वादिष्ट भोजन की इच्छा, सुगंध लेने की इच्छा, गीत संगीत आदि सुनने की इच्छा, प्राकृतिक या और किसी तरह के सुदृश्य देखने की इच्छा, कोमल विस्तर आदि की इच्छा, या पति पत्नी सम्मिलन की इच्छा, यश आदर सत्कार की इच्छा, यह सब काम है। यह प्रायः सभी को होती है। पर जो संयमी है वह इनमें से उतने का ही सेवन करता है जो विश्वप्रेम या विश्वहित के विरुद्ध न जाय जब कि मोही व्यक्ति इनका इतना सेवन कर जाता है कि विश्वहित नष्ट हो जाता है न्याय अन्याय की उसे पर्वाह नहीं होती। काम मर्यादित हो तभी वह रुचि का भेद बनता है।

इस काम के चार भेद हैं भोग उपभोग सहभोग स्वभोग। किसी चीज का ऐसा उपयोग करना जिससे दूसरे बार अपने लिये उसकी वैसी उपयोगिता न रहे **भोग** है। जैसे रोटी खाना पानी पीना आदि। रोटी खा लेने पर खाई गई रोटी फिर अपने लिये खाने की चीज नहीं रहती इसलिये यह भोग है। रोटी पेट में जाने पर वहां के कृमियों के खाने के काम भले ही आवे पर वह अपने खाने के काम नहीं आ सकती इसलिये भोग है। ऐसा उपयोग कि एकबार उपयोग लेने के बाद भी वस्तु दूसरे बार अपने उपयोग में आ सके **उपभोग** है जैसे पलंग आदि। एक ही चीज किसी दृष्टि से भोग है किसी दृष्टि से उपभोग। एक फूल देखने और सूंघने की दृष्टि से उपभोग है किन्तु आवश्यकतावश मसलकर उसका लेप कर लिया जाय तो भोग हो जायगा। तेल का मालिश कर लेना भोग है उसे सूंघ लेना उपभोग है।

प्रश्न-- जो परमाणु सूंघ लिये जाते हैं वे तो फिर नहीं सूंघे जाते इसलिये उन्हें भोग ही क्यों न कहना चाहिये ?

उत्तर-- भोग उपभोग का विचार फूल की दृष्टि से करना है उसकी गंध की दृष्टि से नहीं। गंध तो स्वाभाविक रीतिसे फैल ही रही है। फूल के जो गन्ध परमाणु हवा में फैल रहे हैं वे नाक में गये या और कहीं इस का फूल से कोई सम्बन्ध नहीं इसलिये वह फूल का उपभोग ही कहलाया।

जहाँ दो प्राणी एक ही क्रिया से एक दूसरे का एक तरह का भोग करते हैं उसे **सहभोग** कहते हैं। भोग और उपभोग में एक कामी रहता है एक काम का विषय, सहभोग में दोनों कामी रहते हैं दोनों ही काम के विषय। जैसे पतिपत्नी की कामक्रीड़ा में दोनों एक दूसरे का एक तरह का भोग करते हैं दोनों को स्पर्श सम्बन्धी सुख मिलता है इसे सहभोग कहते हैं। भोग उपभोग में भोज्यभोजकभाव एकतर्फा रहता है सहभोग में दुतर्फा, यही सहभोग की विशेषता है।

कभी कभी सहभोग उपभोग भी बन जाता है। एक में काम की इच्छा हो और दूसरे में काम की इच्छा न हो इस प्रकार एक की रुचि और दूसरे की अरुचि में जो सहभोग की क्रिया की जायगी वह सहभोग न रहेगी उपभोग हो जायगी। क्योंकि इस में अरुचिवाला प्राणी भोक्ता नहीं बनपाता। बलात्कार की घटनाएँ सहभोग नहीं हैं उपभोग हैं।

प्रश्न-- एक आदमी सुन्दर गान गारहा है उसके गान से लोग खुश हो रहे हैं और लोगों

की खुशी से गानेवाले का भी आनन्द बढ रहा है इस प्रकार दोनों ही आनन्दमग्न हो रहे हैं इसे सहभोग कहा जाय या उपभोग ?

उत्तर– यह उपभोग ही है क्यों कि दोनों का भोग एक तरह का नहीं है। लोगों को संगीत का आनन्द आरहा है जब कि गायक को अपनी सफलता का आनन्द आरहा है-इससे मुझे यश मिलेगा, आदर मिलेगा, पैसा अधिक मिलेगा आदि। मतलब यह कि गायक कर्णसुख देने का आनन्द ले रहा है कर्णसुख लेने का नहीं। सहभोग में दोनों का आनन्द एक ही जाति का होता है। मात्रा में भले ही सूक्ष्म अन्तर हो।

प्रश्न– गायक जो गाता है वह श्रोता के कान के समान गायक के कान में भी जाता है इसलिये दोनों का सुख एक ही जाति का कहलाया। तब इसे सहभोग क्यों न कहा जाय ?

उत्तर– दोनों को कर्णसुख है पर जैसे गायक से मिला हुआ कर्णसुख श्रोता को है उस तरह श्रोता से मिला हुआ कर्णसुख गायक को नहीं है। सहभोग में यह आवश्यक है कि दोनों एक दूसरे के विषय हों।

अपने को विषय बनाकर अपना भोग करना **स्वभोग है**। एक आदमी अकेले में गाता है और खुद ही अपने स्वर का आनन्द लेता है दूसरा ले तो ठीक, न लेतो न सही, वह खुद ही अपने गाने में नाचने में मस्त है यह स्वभोग है।

हास्य– आनन्द का उफान हास्य है। आनन्द का वेग जब इकदम इस प्रकार उठता है कि भीतर समाने को उसे जगह नहीं मिलती तब मनुष्य खिलउठता है इसी का नाम हास्य है।

आशा– किसी इच्छित कार्य की मन में बाट देखना।

उत्साह– इच्छित कार्य करने की उमंग।

आश्चर्य– सम्भावना से अधिक कार्य या वस्तु के अनुभव में आने से पैदा होने वाला भाव।

रुचि के ये पांचों भेद जब विश्वहित के साधक होते हैं तब प्रेमरूप हो जाते हैं, जब विश्वहित के बाधक होते हैं जब मोहरूप बन जाते हैं, विश्वहित के अविरुद्ध जब स्वार्थ के लिये होते हैं तब रुचि कहलाते हैं।

आश्चर्य रुचि का भी भेद है और अरुचि भी, सम्भावना से अधिक इच्छित कार्य में रुचि-रूप आश्चर्य होता है और सम्भावना से अधिक अनिष्ट कार्यमें अरुचि रूप आश्चर्य। आकस्मिक सुख से भी आश्चर्य होता है और आकस्मिक दुःख से भी।

मोह– विवेकरहित आसक्ति को मोह कहते हैं। प्रेम में विवेक रहता है इसलिये वह अन्याय को सहारा नहीं देता। प्रेमपात्र के सिवाय दूसरों से द्वेष करने को उत्तेजित नहीं करता जब कि मोह में यह विवेक नहीं रहता। मोह प्रेम की वह विकृत अवस्था है जिस का एक भाग बहुत गहरा हो गया है और दूसरा भाग द्वेष बनगया है। कषायका मूल यही है द्वेष भी इस मोह का ही परिणाम है। निमित्त के भेद से इस के चार भेद हैं।

अर्थमोह– जीवन के लिये उपयोगी वस्तु या इन्द्रियविषयसामग्री या उसे प्राप्त कराने वाली सामग्री का मोह अर्थमोह है। जैसे अन्न वस्त्र का मोह या अन्न वस्त्र को प्राप्त कराने वाले रुपये पैसे आदि का मोह अर्थमोह है। अर्थमोह को लोभ भी कहते हैं। लोभी कहने से अर्थमोही का ही ज्ञान होता है।

नाममोह– हमारा नाम बढ़े, फैले, भले ही इस के लिये दूसरे की निन्दा करना पड़े दूसरे का

उचित यश या आदर छीनना पड़े यह सब नाममोह है । यदि न्यायप्राप्त यश का उपभोग हो यश की वेदी पर विश्वहित का बलिदान न हो तो नाममोह नहीं है वह मानसिक काम है जो कि रुचिका भेद है ।

मोह के जो ये भेद किये गये है वे निमित्त-भेद से हैं मनोवृत्ति के भेद से नहीं । जैसे द्वेष के भेद क्रोध मान छल में मनोवृत्ति सम्बन्धी जातिभेद है वैसा अर्थमोह नाममोह आदि में नहीं है इसलिये मोह को एक कषाय माना गया है जब कि द्वेष के भेद क्रोध मान छल तीनों स्वतन्त्र कषाय माने गये हैं ।

जातिमोह– धर्म, देश प्रान्त नगर गली, व्यवसाय, गुण, आकृति, रूप, परिमाण, कार्य, नाम, आदि के भेद से जातिभेद की कल्पना अनेक तरह की होती है । बिना किसी रिश्ते के या स्वार्थ के सिर्फ उपर्युक्त बातों की समानता देखकर जो एक तरह का पक्षपात पैदा हो जाता है वह जातिमोह है ।

कुलमोह– जो कुटुम्बी हैं, रिश्तेदार हैं मित्र या सहयोगी हैं जिनसे किसी स्वार्थवश या परिचयवश एक तरह की आत्मीयता पैदा हो गई है उससे जो आसक्ति पैदा होती है वह कुलमोह है । कुलमोह मनुष्यों के साथ ही नहीं पशुपक्षियों के साथ भी हो जाता है । पशुपक्षी जब सम्पत्ति के रूप में समझे जाते हैं तब अर्थमोह होता है जब साम्पत्तिक सम्बन्ध गौण हो जाता है तब उन के विषय में कुलमोह होता है । किसी किसी को अपने पालतू प्राणी कुत्ता शुक मैना आदि इतने प्यारे होते हैं कि उन की मौतसे उन्हें आर्थिक क्षति का ही कष्ट नहीं होता किन्तु सन्ततिवियोग का भी कष्ट होता है । बाल्यावस्था की एक बात मुझे याद आती है कि हमारे घर में एक बैल था जिसके साथ मैं स्वतन्त्रता से खेलता था, कभी उसकी पीठ पर कभी गर्दनपर चढ़जाता पूँछ से लटक जाता पर वह शान्त रहता मानों वह मुझे अपना बछड़ा ही समझता हो । जब व्यापारिक असुविधा के कारण वह बेचा गया तब मैं उसके लिये काफ़ी रोया । यद्यपि बैल के पूरे दाम मिले थे परन्तु बैल धन ही नहीं था कुटुम्बी भी था इसलिये उसका मोह अर्थ मोह नहीं कुलमोह था ।

प्रश्न– इसे मोह क्यों कहा जाय प्रेम क्यों न कहा जाय ? ।

उत्तर– मोह में विश्वहित अहित, न्याय अन्याय का विवेक नहीं रहता प्रेम में रहता है । इसलिये प्रेम है या मोह इसका विचार विवेक के आधार पर कर लेना चाहिये । यों तो पशुओं से प्रेम भी हो सकता है और मोह भी । एक हिन्दू गाय को समाजोपकारी समझकर जब उस की भक्ति करता है तब प्रेम है, भूतदया से प्रेरित हो कर जब उस की सेवा करता है तब वात्सल्य है, अपना पालतू प्यारा प्राणी समझकर पक्षपात करता है वह किसी का नुकसान कर आती है तो भी वह पर्वाह नहीं करता तब कुलमोह है, और उसे सम्पत्ति समझकर सिर्फ आर्थिक स्वार्थ की दृष्टि से उस पर भाव रखता है तब अर्थमोह है ।

विरक्ति– विश्वकल्याण के मार्ग में जो बाधक है उन्हें हटाना या उनसे हटना विरक्ति है । एक आदमी जनसेवा के लिये गृहत्याग करता है इस प्रकार वह बाधकों से हटता है तो यह विरक्ति है जैसी कि म. महावीर या म. बुद्ध ने की थी, और एक आदमी नीतिभंग करनेवाले अपराधी को दंड देता है इस प्रकार बाधक को हटाता है यह भी विरक्ति है । पहिली उपेक्षा

रूप है दूसरी चिकित्सा रूप है। न्यायाधीश निःपक्ष न्याय करके अपराधी को जो दंड देता है वह चिकित्सा है। म. रामने रावण को जो दंड दिया वह भी चिकित्सारूप विरक्ति है। विरक्ति में द्वेष नहीं होता किन्तु नीतिरक्षण का विवेक होता है इसलिये विरक्ति का कार्य है कि जगत को और अपने को पाप या पापी से दूर रक्खे।

अरुचि– अरुचि के पांच भेद रुचि के उल्टे हैं। जैसे इन्द्रिय मन के अनुकूल विषय में काम होता है प्रतिकूल विषय में घृणा। इसी प्रकार प्रतिकूलता का अनुभव अरुचि है। यद्यपि विरक्ति और द्वेष के मूल में भी प्रतिकूलता का अनुभव होता है परन्तु ये भाव प्रतिकूलता के अनुभव रूप नहीं है किन्तु उस अनुभव के बाद होने वाले विशेष भाव हैं इन भावों से मन दूसरों पर असर डालने के लिये क्रियाशील हो जाता है परन्तु अरुचि में ऐसा नहीं होता। उसमें सिर्फ अनुभव ही होता है। जैसे मानलो हमें किसी का दुष्ट कार्य देखकर उससे घृणा हुई। ऐसी घृणा योगी या अर्हत् को भी हो सकती है इसमें कुछ क्रियाशीलता नहीं है। परन्तु इसके बाद योगी *अर्हत और संयमी में विरक्ति पैदा होगी असंयमी* में द्वेष पैदा होगा। ये भाव अरुचि से भिन्न हैं।

कभी कभी घृणा आदि भाव कषाय के बाद भी बनें रहते है तब कषाय के फलरूप ये भाव *कषायकिङ्ग बन जाते हैं उस समय ये कषायरूप* ही बन जाते है।

घृणा– किसी चीज को अपने सम्पर्क में न रखने का भाव घृणा है।

शोक– किसी दुःखपूर्ण घटना का ध्यान कर करके दुःख का अनुभव करना शोक है।

चिन्ता—किसी दुःखद घटना के दूर करने के सुखद घटना के पाने के विषय में दुःखानुभव करते हुए विचार करना चिन्ता है। चिन्ता में भी दुःखानुभव होता है पर शोक से कम होता है और इसमें विचार की प्रबलता रहती है शोक में दुःखानुभव की प्रबलता है विचार की नहीं।

भय— अपनी असमर्थता का अनुभव करते हुए हानि की सम्भावना से किसी से दूर रहने का भाव भय है। घृणा और भय की बाह्य-क्रिया कुछ मिलती जुलती होती है पर दोनों में काफी अन्तर है। घृणा में हम किसी को तुच्छ समझते है जब कि भय में उसे शक्तिशाली समझते हैं कभी कभी एक ही वस्तु के विषय में हमें घृणा और भय दोनों होते हैं। पाप से भय भी होता है और घृणा भी पर दोनों का रूप जुदा जुदा है। घृणा में पाप को तुच्छ समझा जाता है भय में उसे प्रबल समझा जाता है।

प्रश्न— भक्तिभय में दूर रहने का भाव नहीं होता किन्तु प्रेम होता है निकटता की इच्छा होती है तब भय को दूर रहने का भाव क्यों कहा?

उत्तर— जिस अंश में निकट रहने की इच्छा होती है उस अंश में भय नहीं होता। जिस अंश में भय होता है उस अंश में दूर रहने की इच्छा भी होती है। गुरु की पूरी भक्ति करते हुए भी शिष्य बिना काम के गुरु के पास नहीं बैठना चाहता दूर रहता है कि कोई अशिष्टता न हो *जाय गुरु को कोई कष्ट न हो जाय*। यह भय विनय का फल है लेकिन दूर रहने की वृत्ति इस में अवश्य है। भय तीव्र नहीं है इसलिये दूर रहने की वृत्ति भी तीव्र नहीं है साथ ही विनय भक्ति सेवाभाव आदि होने से यह भय कर्तव्य में बाधक नहीं किन्तु साधक ही होता है

आश्चर्य के विषय में रुचि के भेद कहते समय कह दिया गया है ।

प्रश्न— रुचि या अरुचि के भेद में लज्जा को क्यों नहीं गिनाया ?

उत्तर— लज्जा एक तरह की विनय भक्ति या आदर है इसलिये उसका समावेश प्रेम में होता है अथवा जब बुरा कार्य हो जाने से लज्जित होना पड़ता है तब लज्जा विरक्ति में शामिल होती है । लज्जा रुचि अरुचि के समान मध्यम श्रेणी की नहीं किन्तु प्रेम आदि के समान उत्तम श्रेणी का भाव है । लज्जा एक तरह का संयम है इसीलिये निर्लज्ज एक बड़ी भारी गाली है ।

प्रश्न— बहुत से लोग लज्जा के मारे व्याख्यान नहीं दे पाते क्या इस निर्बलता को विनय कहा जाय ?

उत्तर— जिसको कुछ आता नहीं वह यदि व्याख्यान नहीं दे पाता तो यह लज्जा नहीं अज्ञान है । आता है फिर भी व्याख्यान नहीं दे पाता तो कलाहीनता है, व्याख्यान कला का काफी परिचय है फिर भी अमुक व्यक्तियों के सामने व्याख्यान नहीं दे पाता तो यह विनय है । व्याख्याता को व्याख्यान देते समय अपने महत्त्व का कुछ अनुभव करना पड़ता है वह महत्त्व या तो ज्ञान का होता है या कलाका या दोनों का, परन्तु जिन को इस विषय की त्रुटि का ध्यान रहता है वे लज्जित होते हैं वे अपने महत्त्व का अनुभव नहीं कर पाते इसलिये यह विनय ही है ।

प्रश्न— तब तो जो व्याख्यान देते समय लजाते हैं वे विनयी कहलायें और जो जरा भी नहीं लजाते वे अविनयी कहलायें ।

उत्तर—उत्तम श्रेणी का कोई भाव तभी उत्तम श्रेणी का रहता है जब उसके साथ विवेक हो, विवेक न हो तो जघन्य श्रेणी का बन जाता है, जैसे भक्ति मैत्री वात्सल्य, मोह बन जाते हैं, विरक्ति द्वेष बन जाती है उसी प्रकार लज्जा, जो कि प्रेम का एक रूप ही है, विवेकशून्य होने पर मोह बन जाती है । इसलिये व्याख्यान देते समय जो लजाते हैं वे विनयी हैं मोही नहीं हैं यह नहीं कहा जासकता । जिनके पास कुछ कहने को है और जो कहना जानते हैं फिर भी वे श्रोताओं में गुरुजनों या विद्वानों को देखकर लजाते हैं तो यह लज्जा विनय ही है जिनके पास कुछ कहने को नहीं है और व्याख्याता कहलाने के लिये बोलते चले जाते हैं वे अविनय ही करते हैं । हां, गुरुजनों ने व्याख्यान कला सिखाने के लिये बोलने का अवसर दिया हो तो यह बात दूसरी है । मतलब यह कि लजाना विनय तो है पर उसका प्रयोग विवेकपूर्वक आवश्यकतानुसार करना चाहिये ।

प्रश्न (क) एक आदमी गाना नहीं जानता इसलिये गाने में शरमाता है (ख) एक आदमी गाना जानता है पर उसे छोटा काम समझकर शरमाता है (ग) एक आदमी किसी काम को बुरा काम समझकर उसके करने में शरमाता है । [घ] एक आदमी जीवन के आवश्यक कामों में भी शरमाता है जैसे विवाह शादी के काम में, या सबके सामने भोजन करने में भी शरमाता है इस प्रकार लज्जा के जो नाना रूप हैं क्या उन्हें विनय कहना चाहिये ।

उत्तर–(क) विनय है । अयोग्य योग्यता के आसन पर नहीं बैठना चाहता यह विनय है । (ख) अभिमान है । परिस्थिति को देखते हुए यह काम करना उसका अनुचित हो तो फिर

अभिमान न कहके उसे आत्मगौरव कहेंगे। आत्म-गौरव विरक्ति रूप है इसलिये उत्तम श्रेणी का है। (ग) में विरक्ति है इसलिये विनय है ही। (घ) जीवन के आवश्यक कामों में भी शरमाना विनय है। दूसरा भोजन न करता हो और खुद भोजन करे तो इसमें थोड़ा अविनय तो है ही। विवाह शादी की चर्चा में जो शरमाते हैं वे इस-लिये कि अपने गुरुजनों की बराबरी के पास पहुंचने में उन्हें संकोच होता है। विवाहित हो जाने पर वे साधारण बालक बालिका नहीं रह जाते किन्तु माता पिता के समान गृहस्थ हो जाते हैं, जिनके सामने शिशु बनकर रहे उनके सामने कुछ बराबरी के आसन पर पहुंचने में विनयी को कुछ लज्जा आती है। पर लज्जा के साथ विवेक होना चाहिये। लज्जा शिष्टाचार तक ही सीमित रहे वह जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं में आड़े न आवे। जो लड़की माँ बाप के द्वारा बूढ़ेके साथ बाँधी जाने पर भी लज्जा के नाम पर कुछ न बोले और अपना जीवन बरबाद कर ले उसकी लज्जा मूढ़ता है मोह है निर्बलता है।

लज्जा एक महान गुण है, इसके द्वारा दूसरों की सुविधाओं का उनके सन्मान का, अपनी अनुचित कृतियों को दूर करने का खयाल रहता है। हां, इसमें निरतिवादी दृष्टि का पूरा खयाल रखना चाहिये।

प्रश्न--लज्जा अगर गुण है तो घूँघट आदि की कुप्रथा भी उचित समझी जा सकेगी।

उत्तर--नहीं, १-घूँघट में अतिवाद है। २ अविवेक है जहां करना चाहिये वहाँ नहीं किया जाता जहाँ नहीं करना चाहिये वहाँ किया जाता है। समान आदरणीय व्यक्तियों में किसी के साथ किया जाता किसी के साथ नहीं किया जाता। ३-लैंगिक विषमता है अर्थात नारीत्व का अपमान है। ४-व्यवहार में असुविधा होती है। ५--स्वास्थ्य नष्ट होता है। इन बातों का विचार व्यवहार कांड में किया जायगा।

साधारणतः लज्जा रुचि अरुचि का अंग नहीं है प्रेम का रूप है इसलिये उसे मध्यम श्रेणी में नहीं रक्खा भक्ति में शामिल किया।

क्रोध-द्वेष के तीन भेदों में यह पहिला है, इच्छानुसार कार्य न होने पर उसके लिये मन में आक्रमणकारी क्षोभ होना क्रोध है। क्रोध में पूर्ण या आंशिक संहार का भाव आता है। इसलिये क्रोध में मनुष्य मारने पीटने गाली देने स्वर को कठोर करके उसे अपमानित करने का कार्य करता है।

प्रश्न-- क्रोध तो कभी कभी माता पिता पुत्र पुत्री गुरुजन आदि पर भी आ जाता है कभी कभी अपने पर भी क्रोध आता है तो क्या यह माना जाय कि इसमें किसी तरह का संहार करने का भाव है ?

उत्तर-- माता पिता गुरु आदि जब अपनी रुचि के विरुद्ध कोई बात कहते हैं तब या तो हमें नम्रभाव से अपनी भूल समझकर कार्य करना चाहिये, भूलके लिये लज्जित होना चाहिये, अगर उनकी भूल हो तो उचित अवसर पर नम्रता से विरोध करना चाहिये, पर जब ऐसा नहीं किया जाता और क्रोध आ जाता है तब उसमें उन्हें अपमानित करने का भाव है अपमान भी एक तरह का आंशिक संहार है। हां, माता पिता गुरुजन आदि को कभी कभी सुधार के लिये क्रोध आजाता है और जो जितना प्रिय हो उस पर क्रोध भी उतना ही अधिक आता है, परन्तु यह वास्तव में क्रोध नहीं है किन्तु क्रोध की

कालिमा है जो मोह या वात्सल्य पर लग गई है। यह क्रोध क्षणस्थायी होता है और इसके मूल में अविवेकी में मोह और विवेकी में वात्सल्य रहता है। फिर भी क्रोध की कालिमा कुछ अच्छी चीज नहीं है इससे जीवन में दाग तो लगता ही है इसलिये इसका कम से कम होना या न होना ही उचित है।

यों तो हरएक कषाय बुरी है पर उन सब में क्रोध बहुत प्रबल है, यह मनुष्य को पापी तो बना ही देता है किन्तु अविनयी और असभ्य भी बना देता है। क्रोध को अग्नि की उपमा दी जाती है यह बहुत ही ठीक उपमा है, अग्नि के समान यह खुद को जलाता है और दूसरों को भी जलाता है। क्रोध शराब से भी बढ़कर नशा है। जैसे शराबी से विनय विवेक संयम की आशा रखना व्यर्थ है अच्छे मनुष्य भी शराबी की हालत में घोर दुर्जन और असभ्य भी बन जाते हैं उसी प्रकार क्रोधी भी संयम विवेक विनय आदि भूल जाता है। मनुष्य क्रोध में क्या कहडालेगा और क्या कर डालेगा इसका कोई भरोसा नहीं। इसलिये क्रोधविजय पर सब से अधिक ध्यान रखना चाहिये।

मान--मान शब्द का सीधा अर्थ तो है मापना, पर कषाय के रूपमें जब इस शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उसका अर्थ होता है व्यक्तित्व के माप में गड़बड़ी करना अर्थात् दूसरे का जितना व्यक्तित्व है उसको उससे कम समझना और अपना जितना व्यक्तित्व है उसको अधिक समझना, इस प्रकार व्यक्तित्व के विषय में पक्षपाती विचार रखना मान है। जहां माप में गड़बड़ी न होगी विवेक होगा वहाँ मान कषाय न होगी। जैसे मानलो कोई आदमी धनवान है अधिकारी है या शरीर से बलवान है इसलिये वह अपने को महान समझता है और अच्छे से अच्छे समाजसेवी परोपकारी विद्वान को कुछ नहीं समझता, ऐसी हालत में वह आदमी मानी या घमंडी है पर वह समाजसेवी विद्वान सोचता है कि उस धनवान का या अधिकारी का वह अभिमान अनुचित है मुझे धन, अधिकार, या पशुबल के आगे झुकना उचित नहीं है इसलिये वह अपने व्यक्तित्व के उचित मान का रक्षण करता है तो यह आत्मगौरव है मान कषाय नहीं है। आत्मगौरव एक तरह की विरक्ति है वह कभी चिकित्सा रूप भी होता है कभी उपेक्षा रूप भी। उस समय वह जघन्य श्रेणी की मनोवृत्ति न होकर उत्तम श्रेणी की बन जाती है।

कोई कोई सन्त पुरुष गरीबों के यहां बिना बुलाये या बिना आदर सत्कार के चले जाते हैं पर अमीरों के यहाँ या समाज में साधारणतः जो अधिकार आदि के कारण बड़े आदमी गिने जाते हैं उनके यहाँ बिना बुलाये नहीं जाते कुछ सन्मान की अपेक्षा रखते हैं तो इसे आत्मगौरव कहेंगे। किसी के यहाँ बिना बुलाये न जाने का विचार इसलिये होना कि जाने से उसे कष्ट होगा उसका समय जायगा उसे संकोच होगा तो इस जगह प्रेम कहलाया। अगर इसलिये नहीं जाता है कि इससे उसके धनमद बलमद अधिकारमद को खुराक मिलेगी जोकि न देना चाहिये तो यह आत्मगौरव होगा इसे विरक्ति (चिकित्सारूप) समझना चाहिये। अगर इसका कारण सिर्फ एकान्त साधना है व्यर्थ ही लोगों के सम्पर्क में न पड़ने की भावना है तो भी यह विरक्ति (उपेक्षारूप) है। अगर दूसरों के व्यक्तित्व को तुच्छ समझकर न जाने का भाव है तो मान कषाय

है। दूसरों की महत्ता समझते हुए भी, अपने धन अधिकार आदि के कारण उसे तुच्छ समझना मान कषाय है, या इस विचार से उसकी महत्ता न समझना कि इससे अपना व्यक्तित्व फीका पड़ जायगा, मान कषाय है।

मोह और मान ये दो कषायें समस्त पापों के मूल हैं।

छल-अपना अनुचित स्वार्थ सिद्ध करने के लिये किसी की अजानकारी की ओट लेना छल है। मालिक की अजानकारी की ओट लेकर चोर चोरी करता है यह छल है, कोई साधु-वेष लेकर दुनिया को अजानकार बनाकर साधु आचरण नहीं करता है यह छल है, मन में कुछ और है पर मुँह से कुछ और कहकर अर्थात झूठ बोल कर दुस्वार्थ सिद्ध करना छल है चोरी विश्वासघात दंभ आदि सब छल के ही कार्य हैं। हां, जहां अनुचित स्वार्थ न हो वहाँ अजानकारी की ओट लेना छल नहीं है। जैसे दो मित्र विनोद के लिये तास खेल रहे हैं, तास के खेल में पत्तों को छुपाकर रखना पड़ता है दूसरे को पता लग जाय तो खेल का रस चला जाय यह अजानकारी का उपयोग छल नहीं है क्योंकि इसमें कोई अनुचित स्वार्थ नहीं है। मैं अपने घरू लड़ाई झगड़ों को बाहर नहीं कहता क्योंकि बाहर कहने से कौटुम्बिक कलह बढ़ता है क्रोध की कालिमा क्रोध की निंद्य बनती है तो इस प्रकार दूसरों की अजानकारी की ओट लेना छल नहीं है क्योंकि इसमें कोई अनुचित स्वार्थ नहीं है।

मनोवृत्तियों के इन सब भेद प्रभेदों में मोह, क्रोध, मान और छल, ये चार ही मनोवृत्तियाँ ऐसी हैं जिन्हें कषाय कहते हैं भगवती अहिंसा की साधना के लिये इनका त्याग करना चाहिये। इनके त्याग करने से मनुष्य संयमी बनता है। बाकी की मनोवृत्तियों में उत्तम श्रेणी की कुछ संयम रूप हैं कुछ असंयम को रोकने वाली हैं ये आवश्यक हैं। बाकी मध्यम श्रेणी की मनोवृत्तियाँ जीवन चिह्न हैं स्वाभाविक हैं क्षन्तव्य हैं। पाप इन में तभी है जब ये कषायरूप हो जाती हैं। फिर भी जहां तक बन सके अरुचि को घटाना चाहिये क्योंकि अरुचि से अपने को कष्ट होता है और दूसरों पर भी इससे दुःख की छाया पड़ती है।

चार कषायों में मोह और मान हस्तकषायें हैं और क्रोध और छल ये शस्त्रकषायें हैं क्योंकि क्रोध और छल से आघात किया जाता है और मोह और अभिमान क्रोध और छल को प्रेरित करते हैं, जैसे हाथ शस्त्र को प्रेरित करता है। हाथ जैसा जोर लगायगा शस्त्र उतने ही जोर से आघात करेगा उसी तरह मोह अभिमान जितने प्रबल होंगे क्रोध और छल उतना ही तीव्र होगा। मोह और अहंकार के दबा देने से क्रोध और छल भी दब जाते हैं।

तेज और छाया--उत्तम श्रेणी की मनोवृत्ति के दो रूप है तेज और छाया। जब उत्तम मनोवृत्ति स्थिर होती है, उसके अनुसार हमारा जीवन भी बन जाता है तब उसे तेज कहते हैं। अर्हंत योगी आदि के यही हुआ करता है। परन्तु जब उत्तम श्रेणी का मनोभाव स्थायी नहीं होता तब उसे छाया कहते हैं। छायाचित्र में सफेद कपड़े पर ही सब दृश्य दिखते हैं पर होता कुछ नहीं है इसी प्रकार उत्तमश्रेणी की मनोवृत्ति का क्षणिक आवेग होता है इसे छाया कहते हैं। जैसे मरघट में वैराग्य आ जाता है और जीवन पर उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। जीवन की उत्तमता तेज से है छाया से नहीं।

धारा और लहरी—रुचि या अरुचि जब स्थायी हो जाती है तब उसे धारा कहते हैं और जब अस्थायी होती है तब लहरी। लहरी जीवन्मुक्त योगी अर्हत् आदि में भी पाई जाती है बल्कि लहरी का होना आवश्यक भी है। जीवार्थ जीवन के प्रकरण में बतलाया है। कि-आदर्श जीवन वही है जिस में धर्म अर्थ मोक्ष के साथ काम भी हो। काम भी एक जीवार्थ है। यह काम जीवन्मुक्त में भी लहरी के रूप में मर्यादित होता है। हाँ, काम अगर धारारूप में हो तो मोह बन जाने का डर है इसलिये कामधारा से यथाशक्य बचने की कोशिश करना चाहिये। हास्य आशा उत्साह और आश्चर्य ये तो अपने सुख और दूसरों के सुख के लिये आवश्यक ही हैं। इनकी धाराएँ भी बुरी नहीं होतीं। हाँ, जब बहुत लम्बी हो जाँयँ तो इन में भी खराबी आ जाती है। एक बात को लेकर आप दिन भर हँसते ही रहें तो इसमें कुछ बेहूदापन आ जाता है। हाँ, रुचि जब उत्तमश्रेणी की बन जाती है तब उसकी धारामें भी बुराई नहीं रहती। जैसे विश्वहित की आशा में मनुष्य जीवन-भर कार्य करता रहे, सफलता मिले या न मिले पर आशा न छोड़े, उत्साह-भंग न करे तो यह धारा भी उचित है।

अरुचि की लहरी योगियों में भी होती है पर धारा नहीं होती। जीवन में रुचि को जितना स्थान मिलना चाहिये उतना अरुचि को नहीं। रुचि सुखरूप होती है और अरुचि दुःखरूप। जब कोई दुःख सिर पर आजाता है तब उसे भोगना तो पड़ता ही है पर उस में अरुचि जितनी कम हो और जितने कम समय रहे उतना ही अच्छा। हाँ कोई कोई अरुचि, प्रेम या विरक्ति का अंग होती हैं वह योगी संयमी आदि को भी आवश्यक है। जैसे मांस से घृणा, यह विरक्ति का अंग है किसी के ऊपर अन्याय अत्याचार हो या और कोई विपत्ति आजाय तो उसका शोक, यह प्रेम का अंग है। मानवसमाज की मूढ़ता दूर करने की चिन्ता, यह प्रेम का अंग है, पाप से भय, और अप्रत्याशित पाप देखकर होने वाला आश्चर्य ये भी विरक्ति के अंग हैं। इस प्रकार की अरुचि आवश्यक है। कोई जनसेवक विपत्ति में पड़जाय और तुम्हें उसकी चिन्ता शोक न हो और इस निश्चिन्तता और अशोकता को तुम वीतरागता समझो तो यह दंभ या मूढ़ता है। जनसेवा सदाचार आदि में जो जितना महान् है और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से अपने निकट है उसके दुःख में हमें उतना ही अधिक शोक चिन्ता होना चाहिये। अन्यथा उससे प्रेम का भंग होगा, द्वेष होगा।

इस प्रकार रुचि-अरुचि का जीवन में आवश्यक स्थान है। ख़याल इतना ही रखना चाहिये कि ये सीमासे बाहिर न होजाँयँ, प्रेम और विरक्ति की तरफ़ झुकतीं रहें, कषायकिट्ट न बनने पायें, न कषाय की कालिमा इन्हें लगने पाये।

किट्ट और कालिमा—कषाय जब स्थायी हो जाती है तब बाहर से वह दिखाई दे या न दे उसे किट्ट कहते हैं और कषाय का जो क्षणिक आवेग है उसे कालिमा कहते हैं। कभी कभी कषाय किट्ट के ऊपर प्राणी प्रेम की छाया डाल देता है परन्तु इससे कषाय की बुराई में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। भीतरी या स्थायी द्वेषादि जब तक निर्मूल नहीं हो जाते तब तक मनुष्य कितनी ही सतर्कता से काम ले, किट्ट अपना प्रभाव दिखला ही देती है। हम सोचते हैं कि हमने तो ऐसा सद्व्यवहार किया फिर भी इसका बदला हमें क्यों नहीं मिलता ? पर बात यह है कि जहाँ कषाय-किट्ट है वहाँ प्रेम की

छाया का कोई विशेष असर नहीं होता। जहां हमारे शिष्टाचार की सफलता न होती हो वहां यह देखना चाहिये कि हममें कषाय-किट्ट तो नहीं है। अगर कषाय किट्ट हो तो शिष्टाचार की निरर्थकता पर खेद न करके कषायकिट्ट को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। जीर्णज्वर की तरह कषाय-किट्ट जीवन की बहुत बर्बादी करता है।

कषाय-कालिमा एक प्रकार का आवेग है। कालिमा किट्ट की तरह हानिकर नहीं है इसमें किट्ट की अपेक्षा असंयम कम रहता है पर निर्बलता अधिक रहती है। आवेग मानसिक निर्बलता का परिणाम है।

कालिमा किट्ट से कम खराब है इसका यह मतलब नहीं है कि उसपर उपेक्षा करना चाहिये। कभी कभी कालिमा किट्ट से भी अधिक भयंकर हो जाती है। एक आदमी साधारणतः शान्त और सरल है, समझाने से अपनी भूल जल्दी मान लेता है, पछताता भी है पर कषाय का अवसर आने पर वह अपने को नहीं सम्हाल पाता। ऐसा आदमी क्रोध आने पर किसी का खून भी कर सकता है, मारपीट कर सकता है कठोर से कठोर और विषैले वचन भी बोल सकता है, निन्दा कर सकता है, अपमान कर सकता है, घर की चीज़ों की बर्बादी कर सकता है, अपना सिर फोड़ सकता है, किसी के शरीर या मन में ऐसे घाव कर सकता है जिनमें कभी रूझ न आवे, ऐसा आदमी अगर थोड़ी देर में शांत भी हो जाय तो भी आवेग में जो अपनी या दूसरों की हानि कर चुका है उसे वापिस नहीं ला सकता। फ़ूस की आग स्वयं जल्दी बुझ जायगी पर अपनी क्षणिक ज्वालाओं से अगर वह किसी प्राणी को जला जाय या गांव में घरों को आग लगा जाय तो फ़ूस की आग बुझ जाने पर दूसरी जगह लगी आग न बुझेगी। यही कारण है कि व्यवहार में लोग कषाय-किट्ट वाले से जितना डरते हैं, कषाय-कालिमा वाले से भी उतना ही अथवा उतने से भी अधिक डरते हैं।

कषायकिट्ट से तो असंयम सिद्ध होता ही है, पर कषाय—कालिमा भी अगर अधिक परिमाण में हो तो उससे भी असंयम सिद्ध होता है। किट्टकालिमा के निमित्त से जीवन के पांच भेद होते हैं—१. महापापी, २. पापी, ३ अर्धपापी, ४. पुण्यात्मा और ५. शुद्ध पुण्यात्मा।

१. महापापी– जिसमें किट्ट और कषाय दोनों बहुत मात्रा में हों।

२. पापी– जिसमें किट्ट बहुत हो और कालिमा थोड़ी हो।

३. अर्धपापी– जिसमें किट्ट थोड़ी हो पर कालिमा बहुत हो।

४. पुण्यात्म – जिसमें किट्ट न हो या न होने के बराबर हो, कालिमा भी थोड़ी हो।

५. शुद्ध पुण्यात्मा– दोनों बिल्कुल न हों। यह संयमी जीवन का आदर्श है। बड़े बड़े महात्मा भी इस श्रेणी में नहीं आ पाते। फिर भी इसे कठिन से कठिन ही कहा जा सकता है असम्भव नहीं।

किट्ट और कालिमा की तरतमता से इन पांच के असंख्यात भेद होते हैं।

प्रश्न— जिसमें किट्ट अधिक है पर कालिमा थोड़ी है उसे संयमी क्यों न कहा जाय? कषाय को भीतर दबाये रखने के लिये संयम और मनोबल की आवश्यकता होती है।

उत्तर-- इसमें मनोबल की आवश्यकता तो है पर मनोबल के सिवाय जो दूसरा कारण है वह संयम भी हो सकता है और असंयम भी। अगर उस कषाय की बुराई जानकर उसने कषायोंको दबाया है तो संयम है पर इस के होनेसे किट्ट अवश्य कम हो जायगा, तब वह पापी से पुण्यात्मा की श्रेणी की तरफ़ झुक जायगा अथवा छोटे दर्जेका पुण्यात्मा हो जायगा; पर जिसने कषाय को इसलिये दबाया है कि क्या करें कषाय प्रगट करने की ताक़त नहीं है, प्रगट करने का फल अधिक बुरा होगा इसलिये मौके पर इस कषाय का उपयोग किया जायगा; इस प्रकार कषाय को चरितार्थ करने के लिये मौके की ताक में रहने वाला मनुष्य जो कषाय-किट्ट रखता है उससे वह मनोबली ही होगा पुण्यात्मा नहीं, उसे पापी ही समझना पड़ेगा।

यहाँ जो मनोवृत्ति के भेद बताये गये हैं वे संयम असंयम की दृष्टि से बताये गये हैं, ज्ञान अज्ञान या सुख दुःख की दृष्टि से नहीं। संशय स्मरण आदि मन की अवस्था भगवती अहिंसा की साधना के अंग नहीं हैं। हाँ, जहाँ ये ज्ञानरूप मनोवृत्तियाँ संयम या असंयम का फल होतीं हैं, वहां भगवती की साधना में विचारणीय हो जाती हैं। हम किसी कर्तव्य को इसलिये भूल जाते हैं कि हमें उसकी पर्वाह नहीं है या हमारे दुःस्वार्थ में बाधक है तो इस विस्मरण का कारण असंयम होगा पर अगर इसलिये भूलते हैं कि स्मरण-शक्ति कम है और जानने की बातों का बोझ ज्यादा है तो इसे असंयम न कहेंगे। अहिंसा का प्रकरण होने से यहाँ मनोवृत्ति के ज्ञान--सम्बन्धी भेद नहीं बताये गये हैं।

अकषायता का रूप

भगवती की साधना के अंगों में अकषायता मुख्य और मूल अंग है। और इसे ही मन-साधना कहते हैं। मोह और छल, मान क्रोध, इन चार कषायों को बिलकुल दूर कर देने से अकषायता आती है। यद्यपि अकषायी में रुचि पाई जाती है फिर भी अरुचि से जितना बचा जाय उतना ही अच्छा। अकषायी मनुष्य किट्ट और कालिमा दोनों से रहित होता है। फिर भी जब तक संसार में असंयमी प्राणी हैं तब तक योगी के जीवन में भी कषाय-कालिमा का होना स्वाभाविक है पर वह तीव्र मात्रा में नहीं होती और न भक्षण तक्षण के लिये होती है। कषायकालिमा वहीं क्षन्तव्य है जहां वह चिकित्सा के लिये हो।

सब से अधिक हानिकर है कषाय-किट्ट। कषाय की वासना जितने अधिक समय तक ठहरती है उतना ही अधिक दुःख वह जगत को और अपने को देती है। योगी मनुष्य में एक तो कषाय पैदा होती ही नहीं है अगर कभी विरक्ति के कार्य में कषाय की कालिमा लगती भी है तो तुरंत ही छूट जाती है।

कषाय-वासना की तरतमता से हमारे जीवन के असंख्य भेद हैं। दृष्टिकांड के पांचवें अध्याय में सिद्ध योगी, साधक योगी (लवसाधक अर्ध-साधक बहुसाधक) भेद किये हैं उन योगियों में अकषायता की दृष्टि से भेद होता है। सिद्धयोगी को कषायकिट्ट नहीं रहती जब तक घटना हो तभी तक कषायकालिमा मालूम होती है। बाद में वह दूर हो जाती है या अधिक से अधिक एक घंटे में दूर हो जाती है। बहुसाधक के कषाय-वासना एक दिन से अधिक नहीं रहती वह प्रार्थना के समय या सोते समय या सुबह उठते समय दिन भर की कषाय-वासनाएं हटा देता है अर्धसाधक व्यक्ति सात दिन तक ही कषाय-वासना रखता है। सातदिन में या सप्ताह की

प्रार्थना आदि के समय वह कषायवासना को हटा देता है। लवसाधक अधिक से अधिक एक वर्ष तक कषाय-वासना रखता है। वर्ष में वह जिस दिन को सब से पवित्र दिन समझता है उसदिन या अपने जन्म-दिन पर वह पिछले वर्ष की कषाय-वासनाएँ दूर कर देता है। जो एक वर्ष से भी अधिक कषाय-वासना रखता है वह लवसाधक भी नहीं है। वह इस दृष्टि से असंयमी है।

प्रश्न—कषाय-वासना तभी दूर हो सकती है जब हम किसी व्यक्ति को या उससे सम्बन्ध रखनेवाली अनिष्ट घटनाको भुला दें। पर भूलने न भूलने का सम्बन्ध संयम-असंयम से नहीं ज्ञान अज्ञान से है। किसी आदमी ने अन्याय किया और वह अन्याय हमें जीवनभर याद रहता है तो इसमें हमारा क्या दोष? स्मरण-शक्ति की तीव्रता को हम क्या करें?

उत्तर—याद रहना कषाय-वासना नहीं है किन्तु वैर या मोह रहना कषाय-वासना है। ज्ञान-स्मृति एक बात है और आचार-स्मृति दूसरी बात है। ज्ञानस्मृति से संयम-असंयम का सम्बन्ध नहीं है जब कि आचार-स्मृति से संयम-असंयम का सम्बन्ध है। यह ज्ञानस्मृति है या आचारस्मृति, इसका पता लगाना हो तो यह देखना चाहिये कि उस स्मृति से कुछ कार्य करने की प्रेरणा अथवा कार्य न कर पानेका पश्चात्ताप होता है अथवा नहीं होता। यदि होता हो तो समझो आचार-स्मृति है न होता हो तो समझो ज्ञानस्मृति है। यद्यपि आचारस्मृति के मूल में ज्ञानस्मृति है क्योंकि ज्ञानस्मृति के बिना आचारस्मृति नहीं हो सकती फिर भी ज्ञानस्मृति वहीं तक है जहां तक स्मृति से मन में भक्षणतक्षण आदि के भाव न आने पावें। रक्षणतक्षण आदि के लिये जो स्मृति होगी वह आचार-स्मृति कहलायगी। इन भावनाओं से निरपेक्ष जो स्मृति होगी वह ज्ञानस्मृति कहलायगी।

जैसे किसी न्यायाधीश ने अपराधी को दंड दिया उस मामले में मैं गवाह था, अब जब जब मुझे उस घटना का स्मरण होता है तब मुझे उस घटना के विषय में कुछ कर्तव्य नहीं मालूम होता है सिर्फ धारणा-शक्ति के कारण स्मरण होता है। परन्तु अपराधी को जब जब स्मरण होता है तब तब न्यायाधीश पर क्रोध भर आता है, अवसर मिले तो वह थोड़ा बहुत अपकार भी करे इसलिये उसकी यह आचार-स्मृति है। ज्ञान की धारणा से ज्ञानस्मृति होती है कषाय की वासना से आचारस्मृति होती है। किट्टकषायी न होने के लिये कषाय की वासना के त्याग की जरूरत है ज्ञानकी धारणाके त्यागकी ज़रूरत नहीं।

प्रश्न—पति-पत्नी के बीच में आचारस्मृति जीवन भर रहती है, रहना भी चाहिये तब क्या इसे कषाय किट्ट कहना चाहिये? अगर कषाय किट्ट समझकर इसका त्याग किया जाय तो जगत् में सहयोग का अभाव ही हो जायगा! दाम्पत्य और कौटुम्बिकता नष्ट हो जायगी।

उत्तर— दाम्पत्य और कौटुम्बिकता में कषाय की ज़रूरत नहीं है वहां प्रेम की-भक्ति, मैत्री और वात्सल्य की-ज़रूरत है। इनकी स्थिरता को तेज कहते हैं किट्ट नहीं। तेज पाप नहीं है।

प्रेम और मोह

प्रश्न— पर केवल प्रेम से जगत का काम नहीं चल सकता, वहां मोह ज़रूरी है क्योंकि प्रेम में निष्पक्षता या न्यायपरायणता आवश्यक है पर निष्पक्षता में घनिष्ठता नहीं होती और

घनिष्टता के बिना कौटुम्बिकता या दाम्पत्य नहीं रह सकते। पूर्ण निष्पक्षता के होने पर प्रेम विश्वप्रेम बनेगा। अगर पत्नी, पति के विषय में या पति, पत्नी के विषय में विश्व-प्रेम के समान ही प्रेम रक्खे, उसके दुःख में वह उतना ही दुःखी हो जितना विश्व के किसी प्राणी के विषय में दुःखी हुआ जाता है तब क्या ऐसे उथले प्रेम से पति-पत्नी, मित्र, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य का रिश्ता रह सकता है? इसके लिये तो स्थायी पक्षपात चाहिये जिसे आप मोह-किट्ट कहेंगे तब बतलाइये कि अकषायता और कौटुम्बिक कर्तव्य-परायणता इन दोनों का समन्वय कैसे हो?

उत्तर— कौटुम्बिकता स्थायी विनिमय के सिद्धांत पर खड़ी है और इसमें विनिमय का रूपभी माप नहीं अमाप है। **माप-विनिमय** में देने लेने में बराबरी का विचार रक्खा जाता है। कम मिले तो कम देना, अधिक मिले तो अधिक देना—ऐसा हिसाब रहता है। व्यापार, नौकरी आदि में माप-विनिमय होता है। पर **अमाप विनिमय** में ऐसा हिसाब नहीं होता। वहां एक दूसरे के प्रति समर्पण होता है। प्रति-पत्नी एक दूसरे को समर्पण करते हैं। समर्पण के बाद हो सकता है कि पत्नी को पति से कम मिले या पति को पत्नी से कम मिले पर कम मिलने के कारण वे देने में कमी नहीं कर सकते। कोई विश्व-प्रेमी जिन जिन से विनिमय के आधार पर बँधा हुआ है, उन उन की विशेष सेवा करना उसका कर्तव्य है। यह विशेष कर्तव्यपरायणता मोह नहीं है, प्रेम है। मोह तो उस आसक्ति को कहते ह जिससे प्राणी दूसरे प्राणियों का भक्षण या तक्षण करने को तैयार हो जाता है। घनी-भूत प्रेम का नाम मोह नहीं है। कौटुम्बिक कर्तव्य-परायणता के लिए घनीभूत प्रेम की जरूरत है—मोह की नहीं। इसलिये अकषायी मनुष्य कौटुम्बिक कर्तव्य-परायणता का परिचय दे सकता है। उसकी कर्तव्य-परायणता अगर स्थायी है तो उसे हम किट्ट न कहेंगे। उसे हम तेज कहेंगे।

प्रश्न— प्रेम और मोह में जो आपने अन्तर बतलाया है उसको जानलेने के बाद मनुष्य प्रेम से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, प्रेमी की अपेक्षा वह मोही को ही अधिक पसन्द करेगा। विश्वसनीयता भी प्रेम की अपेक्षा मोह में अधिक है। मोह-वाली पत्नी तो अच्छे बुरे सब कामों में हमारा अनुकरण करेगी किन्तु प्रेमवाली पत्नी अच्छे बुरेका विचार करती रह जायगी तब पति मोहिता-पत्नी पर ही अधिक विश्वास कर सकेगा इसी प्रकार पत्नी को भी मोही-पति अधिक पसन्द आयगा प्रेमी-पति तो जब देखो तब उचित-अनुचित का विचार करता रहेगा, मोही अन्धपक्षपाती होकर हर हालत में उस की रक्षा करेगा। इससे मालूम होता है कि दाम्पत्य और कौटुम्बिकता के लिये प्रेम की अपेक्षा मोह अधिक उपयोगी है।

उत्तर— भगवती की साधना स्वार्थ-परायणता से नहीं स्वपर-कल्याणसे होती है इसलिये हरएक आदमी को बुराई के कार्य में अपने कुटुम्बियों से भी आशा न रखना चाहिये। बुरे कार्य में कुटुम्बजिन विश्वासपात्र न हों यह विश्व के लिये और अपने भविष्य के लिये अच्छा ही है। रहगई प्रेम की अपेक्षा मोह में अधिक विश्वसनीयता या अधिक उपयोगिता, सो मोह की अपेक्षा प्रेम ही अधिक उपयोगी और विश्वसनीय है।

मोह तो एक आसक्ति है–भूख है। भूख बुझजाने पर या कोई दूसरी अच्छी चीज़ मिलजाने पर मोह नष्ट हो जाता है या शिथिल हो जाता है जब कि प्रेम बना रहता है वह कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करता। रावण को मन्दोदरी से मोह था इसलिये सीता के देखते ही वह शिथिल हो गया और वह सीता को चुरा लेगया। किन्तु राम सीता में परस्पर प्रेम था–मोह नहीं था, इसलिये रावण की असीम साम्राज्य-लक्ष्मी देख कर भी सीताजी का राम प्रेम कम न हुआ और रामचन्द्र जी भी सीताजी की रक्षा के लिये एक बड़े सम्राट् से भी भिड़ पड़े, किन्तु प्राणों की बाजी लगाकर भी जिस सीता को लाये उसे प्रजानुरञ्जन के लिये छोड़ भी सके, और छोड़ने पर भी वफ़ादार रहे, उनने सीता को दिल से न हटाया, यज्ञ के लिये सहधर्मिणी की आवश्यकता हुई तो सीता की मूर्ति रक्खी पर दूसरा विवाह न किया। प्रेम और मोह में क्या अन्तर है यह बात म. राम और रावण की मनोवृत्तिके भेद से समझी जा सकती है। प्रेमी-राम कर्तव्य-परायण रहे, विश्वसनीय रहे, अपना भी भला किया, जगत का भी भला किया, मोही-रावण न विश्वसनीय रहा न कर्तव्य-परायण, स्वयं नष्ट हुआ, हज़ारों का नाश कराया। इसलिये प्रेम स्वर्ग है मोह नरक है।

प्रश्न--प्रत्येक प्राणी गुण दोषों का पिंड है, सभी से अपराध होते हैं उनका बहाना निकाल कर कोई भी पत्नी पति से घृणा कर सकती है या पति पत्नी से घृणा कर सकता है कि मैं तो प्रेमी हूं मोही नहीं हूं इसलिये मोहवश हो कर दोषों का पक्ष नहीं लेसकता इस प्रकार प्रेम की यह निःपक्षता दाम्पत्य को नष्ट ही कर देगी।

उत्तर-- यहां प्रेम नहीं है, छल नामक कषाय-किट्ट है, अपने को प्रेमी कहलेना एक बात है पर प्रेमी होना दूसरी बात है। दाम्पत्य या कौटुम्बिकता या मित्रता में कोई अपने मित्र के बुरे काम का विरोधी हो सकता है, पर अपने मित्र का विरोधी नहीं हो सकता। मन्दोदरीने रावण के बुरे काम का विरोध किया पर रावण की सेवा नहीं छोड़ी। हालाँ कि रावण का अपराध इतना बड़ा था कि मन्दोदरी अगर अपना पुनर्विवाह करलेती तो भी वह क्षम्य होती पर उसने यह नहीं किया तब जीवन की छोटी छोटी भूल दिखाकर के प्रेम कम करना या छोड़ देना पूरा दंभ है–छल है। प्रेम पाप में सहायता करने को प्रेरित नहीं करता पर अपने कर्तव्य के उत्तरदायित्व को नहीं भूलने देता।

जहाँ प्रेम है वहाँ न्यायपरायणता और कौटुम्बिक उत्तरदायित्व इन दोनों का निर्वाह कैसे होता है यह बात कल्याणी देवी की कथा से साफ़ हो जायगी।

कल्याणी देवी की कथा

पुराने समय में भारतवर्ष में कल्याणी देवी नाम की एक विदुषी महिला रहती थी। उनके पति का नाम था शारदाचरण। वे राज-पुरोहित थे, राजकोष की तरफ़ से उन्हें काफ़ी धन मिलता था। दोनों बड़े मज़े में रहते थे। पति पत्नी का अधिकांश समय विद्या व्यासंग में आराम से कट जाता था। कुछ दिन बाद राजदर्बार में एक महर्षि आये जिनने अपने अनुभव और विचार से सरस्वती की उपासना की थी। उस समय के रिवाज़ के अनुसार दोनों में वाद हुआ और देश में कोई बड़ा विद्वान न होने से कल्याणी देवी ही मध्यस्था बनाई गई। कल्याणी देवी को यह बात जची कि महर्षि का पक्ष ही सच्चा सिद्ध

हुआ है। एक तरफ़ पति-प्रेम था दूसरी तरफ़ सत्य था पर प्रेम सत्य और न्याय में बाधक न हुआ, इसलिये कल्याणी देवी ने महर्षि की ही विजय घोषित की।

राज्य का ऐसा नियम था कि जो राजपंडित को जीत लेगा वह राजपंडित माना जायगा। इसलिये महर्षि राजपंडित माने गये। परन्तु महर्षि ने जिनका नाम सत्यशरण था, कहा—अगर शारदाचरण सत्य को स्वीकार कर मेरे पास दीक्षा ले लें तो मैं उन्हें ही राजपंडित बनाऊँगा। अभिमानी शारदाचरण ने यह बात स्वीकार न की। और लज्जावश वे नगर छोड़कर जंगल में जाने लगे। कल्याणी देवी भी साथ चलने लगीं। शारदाचरण ने कहा—तुम्हें जंगल में चलने की कोई ज़रूरत नहीं है, पराजय मेरा हुआ है न कि तुम्हारा।

कल्याणी ने कहा—मेरे देवता, नारी के पराजय होने की ज़रूरत नहीं है। पति की जय ही उसकी जय है पति का पराजय ही उसका पराजय है। और फिर जो कुछ सीखा है वह मैंने आपही से सीखा है आप मेरे पति भी हैं और गुरु भी।

शारदाचरण– यदि ऐसा था तो तुमने मेरा पराजय घोषित क्यों किया ?

कल्याणी– मैं आपका पराजय घोषित कर रही हूँ यह मुझे ख़याल ही नहीं आया। मुझे तो यही ख़याल आया कि सत्य के आगे मैं झुक रही हूँ, मैं अपना ही पराजय घोषित कर रही हूँ।

शारदाचरण– तो तुमने महर्षि के पास दीक्षा क्यों न ले ली कदाचित् महर्षि तुम्हें ही राजपंडिता बना देते।

कल्याणी– राजपंडिता बनने की अपेक्षा आपकी अनुचरी (पीछे पीछे चलनेवाली) बनने में मुझे अधिक सुख है - मेरा कर्तव्य भी यही है धर्म की भी यही आज्ञा है।

लोगों के आवागमन से रहित एक जंगल में जाकर वे दोनों तपस्वी की तरह रहने लगे। जंगल के फल-कन्द-मूल आदि खाकर गुज़र करते थे, वल्कल पहिनते थे। एक झोंपड़ी बनाकर रहते थे। झोंपड़ी को स्वच्छ रखना, उसके चारों तरफ़ जो आँगन बनाया गया था उसे साफ़ रखना, फूलों की क्यारियों में पानी देना, फल-मूल लेने पति के साथ जाना, उन्हें अच्छी तरह पत्तों में संजाकर पति को परोसना, बचे हुए समय में तत्वचर्चा करना, काम करते समय भी हँसी-विनोद से पति के विषण्ण चित्त को प्रसन्न रखना, ये सब काम कल्याणी देवी उत्साह से करती थीं। 'कल्याणी देवी ने ही मुझे पराजित घोषित किया' इस बात को लेकर शारदाचरणके मन में जो एक शल्य था वह कल्याणीदेवी की सेवा-परायणता और प्रेमी जीवन से दूर हो चुका था और जब एक बार तीन दिन को शारदाचरण बीमार पड़े तब कल्याणीदेवी ने जो दिन-रात अटूट सेवा की उससे शारदाचरण का मन बिलकुल पिघल गया और उनने रोते रोते कहा कि 'तुम्हारी निष्पक्षता के कारण तुम्हारे प्रेम पर मुझे अविश्वास हुआ था किंतु उस भूल का अब मुझे गहरा पश्चात्ताप हो रहा है।'

कल्याणीने समझा मेरी तपस्या फल गई। आज प्रेम की पूरी जय हुई। उस जंगल में जब ये दम्पति स्वजन परिजन वैभव आदि से रहित जीवन बिता रहे थे और शारदाचरण के तीन दिन के लंघन के बाद जब कल्याणीदेवी उन्हें

पथ्य दे रही थीं उसी समय मनुष्यों का कलकल सुनाई दिया। कोई कह रहा था इधर इधर। कल्याणी ने देखा कि वह एक ब्राह्मण-कुमार है जिसे कि उनने उस दिन राजसभा में महर्षि के साथ देखा था। उस के पीछे पीछे ही ब्राह्मण-बटुकों के साथ खुद महर्षिजी चले आते थे। कल्याणी ने उन्हें बैठने के लिये तृणासन देते हुए कहा—महाराज, हम गरीब लोग इस जंगल में आपका और क्या स्वागत कर सकते हैं?

महर्षिने कहा--बेटी, तुम्हारी इस गरीबी पर हजारों राज्यवैभव न्यौछावर किये जासकते हैं। कीचड़ मिले पानी में शक्कर डालने से मिठास तो आयगी पर वह शुद्धजल की बराबरी न तो स्वाद में ही कर सकता है न स्वास्थ्य में ही। तुम्हें इस जंगल में जो सुख मिला है वह राजाओं को भी न तो राजसिंहासन पर मिल सकता है न रणवास में। उसमें कितनी ही शक्कर पड़ी हो पर कीचड़ सारा मजा किरकिरा कर देता है और उस में जो रोगोत्पादक कृमि होते हैं उनका विचार किया जाय तो दुःख के पहाड़के आगे सुख कण सा ही दिखाई देता है।

कल्याणी ने विनयपूर्ण लज्जा के कारण सिर झुका लिया किन्तु महर्षि कहते ही गये—

बेटी, एक दिन तूने राजसभा में अपने पति का पराजय घोषित किया था किन्तु आज मैं अपना पराजय घोषित करने के लिये इस जंगल में आया हूं।

कल्याणी ने कहा—महाराज, यह आपकी नम्रता है। उस दिन जो सत्य मालूम हुआ वह अपने विरुद्ध होने पर भी मैंने स्वीकार किया। अगर मैं ऐसा न करती तो मैंने सत्य की अवहेलना करके पति-प्रेम के बदले पति-मोह का परिचय दिया होता। पति-मोह से मैंने पति को भी खोया होता और सत्य को भी खोया होता। पति-प्रेम से आज दोनों को पाया है।

महर्षि— इसीलिये तो कहता हूं कि उस दिन तेरी ही जय हुई थी पर मेरा पराजय हुआ था।

कल्याणी— नहीं महाराज, अगर आपकी जय न हुई होती तो उस दिन आपकी जय कभी घोषित न करती। मेरा क्या? मैं तो उस दिन मध्यस्थ थी--वादी-प्रतिवादी नहीं, इसलिये मेरी जय क्या और पराजय क्या?

महर्षि—निःसंदेह उस दिन शब्दवाद में मेरी जय थी पर अर्थवाद में तेरी ही जय हुई। प्रेम और मोह में क्या अन्तर है यह बात मैं जीवन भर शब्दों में ही कहता रहा हूं पर तूने उसे जीवन में उतार कर बताया। जीवन की परीक्षा में मैं उतना उत्तीर्ण नहीं हुआ जितनी तू हुई है। जिस दिन से तुम दोनों ने घर छोड़ा उस दिन से मैं और मेरे शिष्य गुप्त रूप से तुम्हारी गति-विधि पर बराबर ध्यान देते रहे हैं। कल जब शारदाचरण की बीमारी और तेरी सेवा-परायणता के मुझे समाचार मिले तब तेरा पुण्य-तेज मेरे लिये असह्य हो गया और आज रोता हुआ उसी तरह मैं चला आ रहा हूँ जैसे कोई बाप अपने बेटी-बेटों के लिये दौड़ा आ रहा हो।

इसी समय शारदाचरण झोपड़ी में से धीरे२ बाहर आये और महर्षि की चरण-वंदना करके बोले—गुरुदेव, उस दिन मैं शब्द से पराजित हुआ था आज अर्थ से पराजित हो रहा हूँ इसलिये मैं आपको अपना गुरु मानता हूँ। प्रेम

और मोह का अन्तर तो कल्याणीदेवी ने अपने जीवन से बतला दिया पर उस अन्तर को परखनेवाले जगत में कहां हैं ! आप उन्हीं पारखियों में से हैं। आपको गुरु बनाकर आज मैं कृतार्थ हो रहा हूँ।

महर्षि– बेटा, गुरु बनाकर कोई शिष्य कृतार्थ नहीं होता वह कृतार्थ होता है गुरु-दक्षिणा देकर।

शारदाचरण– गुरुदेव ! आज मेरे पास क्या है जो आपको गुरु-दक्षिणा में दूँ ? फिर भी जो कुछ मेरे पास सर्वस्व कहलाने लायक हो वह आप मांग लीजिये।

महर्षि– एक दिन वादी बनकर मैंने तुम्हारा वह घर उजाड़ा था आज यह घर उजाड़ता हूँ। गुरु-दक्षिणा में तुम्हारी यह झोपड़ी ले लेता हूं।

कल्याणी– गुरुदेव·······।

महर्षि— नहीं नहीं, अब मैं कुछ न सुनूंगा। तुम लोग इसी समय मेरी झोपड़ी में से निकल जाओ और अपने पुराने घर में चले जाओ। वहां तुम्हारा सारा वैभव तुम्हारी बाट देख रहा है। कुछ मुट्ठी-दो-मुट्ठी मेरा भी उसमें शामिल हो गया है।

कल्याणी– पर ये बीमार जो हैं, गुरुदेव !

महर्षि– रहने दो, तुम दोनों के लिये दो पालकियां तैयार हैं। जाने में कोई कष्ट न होगा।

कल्याणी की आंखों में आंसू भर आये, शारदाचरण ने भी आंखें पोंछीं, महर्षि बड़ी कठिनता से आँसू रोक पाये। भरे गले को साफ़ करते हुए उनने कहा– बेटी, प्रेम और मोह में आकाश पाताल का अन्तर है। पर रंगरूप में उनमें कैसी असाधारण समानता है !

कल्याणी गला भर जाने से कुछ बोल न सकी। उसने गुरुदेव के पैर छुए और विदा ली। महर्षि ने उसी सुख-दुःख के साथ कल्याणी को विदा किया जैसे बाप बेटी को विदा करता है।

प्रेम कभी कभी कठोर मालूम होता है पर भीतर कोमल से कोमल होता है। प्रेम की वह बाहिरी कठोरता जगत् की सुव्यवस्था के लिये भी उपयोगी होती है और प्रेम-पात्र की भी उन्नति करती है। यह बात एक प्रेमी-पिता की कहानी से भी स्पष्ट हो जायगी।

प्रेमी-पिता

पुराने ज़माने में भारतवर्ष में एक विद्वान रहते थे जिनने अपने पुत्रको खूब पढ़ाया था यहाँ तक कि आसपास के सब विद्वानों को वह वाद-विवाद में हरा देता था। पिता चाहते थे कि वह अभिमान में आकर अपनी उन्नति का द्वार बन्द न करदे इसलिये समयसमय पर उसकी त्रुटियाँ बताया करते थे। जब बेटा कभी नादानी कर जाता तब उसे झिड़क भी देते थे। वे चाहते थे कि यह कोरा पंडित ही न बने किन्तु विचारक भी बने, व्यवहार-कुशल भी बने, विवेकी और संयमी भी बने इसलिये भी उसके दोष दिखाते रहते थे। बेटे को यह मालूम होता था कि मैं छोटी उम्र में ही बड़ा विद्वान् हो गया हूं इसलिये पिता ईर्ष्या करते हैं। मेरा यश उन्हें सहन नहीं होता। इसलिये वह अपने विद्वान् पिता पर क्रुद्ध रहता था। एक दिन उसने सोचा कि रात में मैं पिता से कहूंगा कि या तो तुम मेरी निन्दा बन्द करदो नहीं तो मैं तुम्हें मार डालूंगा।

इस विचार से जब वह अपने पिता के शयनागार पर पहुँचा तो मालूम हुआ कि माता-पिता

दोनों जाग रहे हैं और कुछ बातें कर रहे हैं। वह सुनने के लिये यह चुपचाप द्वार पर खड़ा हो गया। माता पिता से कह रही थी-तुम लड़के की छेड़खानी क्यों करते रहते हो? जब देखो तब उसकी भूल ही बताते रहते हो? मैं देखती हूं, इससे वह सदा अप्रसन्न रहता है। ऐसे होश्यार लड़के से तुम प्रेम क्यों नहीं करते?

पिताने कहा–तुमने कैसे समझा कि मैं प्रेम नहीं करता, प्रेमकरता हूं तभी तो उसे डाटता डपटता रहता हूं। मुझे डर है कि उसमें अहंकार न आजाय, वह अपने को सर्वज्ञ न समझने लगे, अपने मुँह से अपनी तारीफ़ न करने लगे। इन दोषों से मनुष्य का विकास रुक जाता है, वह यश लूटने जाता है, पर यश के योग्य होने पर भी वह यश के बदले निन्दा, और हँसी पाता है, वह सन्मान लूटने जाता है पर घृणा और अपमान पाता है। सन्मान और यश दूसरों के दिये हुए ही अच्छे होते हैं। इनकी छीनाझपटी से ये नहीं मिलते और जो कुछ मिलते हैं उनमें स्वाद भी नहीं रहता बल्कि उनके सम्पर्क से पुराना यश और मान भी बेस्वाद हो जाता है इसीलिये मैं उस पर अंकुश लगाता हूं। मैं चाहता हूं कि वह मुझ से भी बड़ा विद्वान् और संयमी बने। यह तभी हो सकता है जब वह मेरी सारी बातें जल्दी से जल्दी सीखले मेरे बाद कुछ अपनी कमाई भी करे। इसीलिये मैं उसे जीवन की और विद्वत्ता की त्रुटियाँ बताया करता हूं। ऐसा न करूंगा तो तुच्छ विद्या में ही वह कृतकृत्य मानकर अपने को नष्ट कर लेगा।

विद्वान् बेटेने जब पिता के इस गुप्त प्रेम का पता पाया तब उसका मन पश्चात्ताप से जलने लगा। द्वार खुलवाकर वह पिता के चरणों पर गिर पड़ा और अपने मानसिक पापका प्रायश्चित्त मांगा। बाप ने कहा-बेटा! अगर सच्चा पश्चात्ताप हो जाय, ऐसा पश्चात्ताप जो उस पाप की लेश मात्र भी पुनरावृत्ति न होने दे और किसी भी रूपमें न होने दे तो अलग प्रायश्चित्त की ज़रूरत नहीं रहती।

मतलब यह है कि प्रेम स्वपर-कल्याणकारी होता है। हाँ, प्रेम करना और प्रेम पहिचानना दोनों ही कठिन है। मोह सरल और आकर्षक है पर अन्त में उससे दोनों का नुक़सान होता है। मोहिनी माता के दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

मोहिनी माता

एक नगर में एक विधवा स्त्री रहती थी जिसका एक ही लड़का था। एक तो इकलौता बेटा फिर दूसरा कोई सहारा नहीं, इसके अतिरिक्त मोहिनी मूढ़ भी काफ़ी थी इसलिये उसे अपने लड़के का गहरा मोह था। निरंकुश रहने से लड़का उद्दंड होने लगा। जब वह कोई बदमाशी करता और पड़ौसी उलहना देते तो वह लड़के के अपराध का विचार किये बिना पड़ौसियों से लड़ने लगती। अगर पड़ौसी इतना प्रभावशाली होता कि उससे लड़ना कठिन होता तो वह लड़के को अंचल से ढककर रोने लगती। इस प्रकार कहीं जीभ चलाकर और कहीं आंसू दिखाकर वह पड़ौसियों को हरा देती और अपने लड़के पर आंच तक न आने देती।

परिणाम यह हुआ कि लड़का चोर, बदमाश और क्रूर हो गया। और जवानी के प्रारम्भ में ही वह रंडीबाजी भी करने लगा। उसकी प्यारी वेश्या से जब एक दूसरे आदमी ने संबन्ध जोड़ा तो इसने उस आदमी का और

वेश्या का खून कर दिया। जब सरकार से उसे मृत्युदण्ड मिला और अधिकारियों ने जब दण्ड देने के समय उसकी अन्तिम इच्छा जानना चाही तो उसने माता से मिलने की इच्छा प्रगट की। जब माँ उससे मिलने आई तो उसने माँ की नाक काट ली और कहा, 'अगर तूने मेरी छोटी अवस्था में ही मोह में भूलकर मुझे उद्दण्ड न बनने दिया होता, पड़ौसियों के उलहनों का विचार करके मुझे सुधारा होता तो आज मेरी यह दशा न हुई होती।

इस प्रकार मोह से मोहिनी का जीवन भी बर्बाद हुआ, दूसरों की भी हानि हुई और उसका प्यारा लड़का भी जान से गया। सन्तान से प्रेम और वात्सल्य रखना चाहिये, मोह नहीं, मोह से अपना भी नुकसान होता है और सन्तान का भी जीवन बर्बाद होता है।

प्रेम की अपेक्षा मोह कुछ मीठा तो अवश्य मालूम होता है और विश्वसनीय भी लगता है पर अन्त में वह बहुत कडुआ निकलता है और विश्वसनीयता की भी पोल खुल जाती है। मोही व्यक्ति को विश्वसनीय नहीं समझना चाहिये। प्रेमी नीतिप्रधान है जब कि मोही स्वार्थ-प्रधान है। यह बात हिप्रोजा की कहानी से और भी साफ़ हो जायगी।

हिप्रोजा की कथा

महात्मा ईसा से भी पुरानी बात है। उस समय यूनान दार्शनिकों का विख्यात केन्द्र था। प्रसिद्ध दार्शनिक जयनो के अनुयायी धर्म के नाम पर आत्महत्याएं करने लगे थे जब कि अति-सुखवादी एपीक्युरस के अनुयायी विषय भोगों के गुलाम बनकर नीति-अनीति भूल गये थे। इस दलके दार्शनिक वेश्याओं से सम्पर्क रखने में ज़रा भी शर्मिन्दा न होते थे। ऐसे दार्शनिकों में हिप्रोजा नामका एक दार्शनिक पंडित था जो इलिया नाम की एक वेश्या के सौंदर्य पर बिक गया था। इलिया एकदम किशोरी और सुन्दरी थी इसलिये अच्छे अच्छे दार्शनिक विद्वान् उसके एक एक कटाक्ष के लिये न्यौछावर होने को तैयार रहते थे। जगत्प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के साम्यवादी विचारों ने कुटुम्ब-संस्था को काफ़ी ढीला कर दिया था इसलिये बहुत से दार्शनिक वेश्याओं के यहां पड़े रहते थे, इससे जहां दार्शनिकों के चरित्र का पतन हुआ था वहां दार्शनिकों के संसर्ग से वेश्याओंका बौद्धिक विकास और शास्त्रीय ज्ञान भी बढ़ गया था। इसलिये इलिया वेश्या होने के साथ कुछ विदुषी भी थी। हिप्रोजा उसे प्राणपण से चाहता था और इलिया भी उसे सच्चे दिल से चाहती थी। दोनों इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि उनमें से कोई किसी के साथ कभी विश्वासघात करेगा।

एक दिन इलिया ने हिप्रोजा से कहा-प्यारे हम दोनों आपस में विवाह क्यों न करलें?

इलिया की बात सुनकर हिप्रोजाने हँस दिया और कहा--प्यारी, तुम्हें यह पागलपन कहाँ से सूझा? विवाह वे करते हैं जिनमें प्रेम नहीं होता और अविश्वास होता है। उन्हें डर रहता है कि कहीं कोई किसी को धोखा न दे दे। उनमें सच्चा आकर्षण नहीं होता इसलिये विवाह के बन्धन से एक दूसरे को बाँध कर रखना पड़ता है पर हम दोनों तो एक दूसरे को कब्र में भी न छोड़ेंगे। तुम्हारे एक एक कटाक्ष पर मैं मोर की तरह नाचता हूं। क्या तुम विश्वास कर सकती हो कि मैं तुम्हें कभी छोड़ सकूंगा? तुम्हारी ये मदमाती आंखें, ये घुंघराले लम्बे लम्बे केश, यह

कलंकहीन चन्द्रमा सरीखा मुखड़ा, कहां तक कहूं तुम्हारा एक एक अंग एक एक उपांग चुम्बक की तरह मुझे खींचता है, मैं इस आकर्षण से कभी नहीं छूट सकता तब विवाह की बला किसलिये?

यह कहकर हिम्रोजा ने ऐसी तिरछी आंखों से देखा और मुसकरादिया कि इलिया लज्जित हो गई। विवाह की बात दूर रही और दोनों चैन से रहने लगे।

कुछ समय बाद इलिया गर्भवती हुई। गर्भ-भार से उसके शरीर में आलस्य रहने लगा वह चंचलता न रही। हिम्रोजा की कामुकता में बाधा पड़ने लगी। उसने देखा आंखों में अब वह कटाक्ष नहीं है वह चपलता नहीं है। कुछ समय बाद हिम्रोजा के ऊपर इलिया की सेवा का भी भार आने लगा। हिम्रोजा ने देखा अब इलिया का रसस्रोत सूखा जा रहा है या किसी दूसरी तरफ़ बह रहा है इसलिये हिम्रोजा किसी दूसरी वेश्या के यहां आने जाने लगा।

दुर्भाग्य से बच्चा होने के दो तीन दिन पहिले इलिया के पेट में काफ़ी दर्द रहा। यह देखकर हिम्रोजा ने इलिया के यहां आना बिलकुल बन्द कर दिया। अंतिम दिन तो इलिया की हालत बहुत खराब रही। पड़ौसिनें अगर उसको मदद न पहुंचातीं तो प्रसूति के दिन वह मर गई होती पर इस प्राण संकट के समय भी हिम्रोजा दूसरी वेश्या के यहां मौज कर रहा था।

अब इलिया को प्रेम और मोह का अन्तर समझ में आया और यह भी समझा कि हिम्रोजा ने विवाह के लिये क्यों मना कर दिया था? ख़ैर दो तीन महीने बाद इलिया की तबियत अच्छी हो गई, उसके शरीर पर फिर पहिले सरीखी रौनक आने लगी। तब कहीं इलिया को एक दिन हिम्रोजा के दर्शन हुए। प्रेम की ओट में मोह रखनेवाले विश्वासघाती हिम्रोजा का मुँह देखना भी इलिया को पसन्द न था पर अब वह विश्वासघात का बदला लेना चाहती थी इसलिये उसने हिम्रोजा का आदर किया, शराब पिलाई किन्तु एक प्याले में विष मिलाकर उसने हिम्रोजा के प्राण ले लिये। इस प्रकार मोही जीवन का अन्त हो गया। हिम्रोजा मोही था इसलिये वह विश्वासपात्र सिद्ध न हुआ और इस अविश्वास की प्रतिक्रिया इलिया के जीवन में भी हुई।

प्रश्न--प्रेम और मोह का भेद आपने साफ़ तो किया फिर भी जीवन में ऐसी ऐसी घटनाएं होतीं रहतीं हैं कि यह पता लगाना मुश्किल है कि उनके मूल में प्रेम समझा जाय या मोह समझा जाय। कहीं कहीं तो प्रेम की उपयोगिता ही नहीं मालूम होती और मोह ही उचित मालूम होता है, मोह के बिना समाज में बड़ी अव्यवस्था हो जायगी। जैसे एक आदमी ने हमारे ऊपर बहुत उपकार किया पालन पोषण किया जीवन दिया पूरा विश्वास रक्खा, पर हमें मालूम हुआ कि वह पाप करता है दूसरों को ठगता है। अब आवश्यकता होने पर भी अगर मैं उसके पापकों प्रगट नहीं करता हूं तो मोही हूं। अगर प्रगट करता हूं तो कृतघ्न और विश्वासघाती हूं। इसका परिणाम भी ऐसा बुरा होगा कि कोई आदमी किसी का उपकार न करेगा न विश्वास रक्खेगा। इसी प्रकार धर्म समझ कर पति के लिये प्राण देने वाली पत्नी में प्रेम माना जाय या मोह? इन सब बातों का निर्णय कैसे किया जाय?

उत्तर-- जीवन विरोधों से भरा हुआ है। कभी दो बुराइयां इस तरह हमारे सामने आ जाती हैं कि उनमें से किसी एक का अपनाना

लाज़िमी हो जाता है । ऐसे अवसर पर व्यापक विचार करके जिससे निःस्वार्थता का अधिक परिचय मिले और सामूहिक रूप में समाज-हित अधिक हो वही काम करना चाहिये, अगर एक तरफ़ न्यायरक्षा हो और दूसरी तरफ़ विश्वास-घातकता हो तो दोनों का बलाबल देखकर ही कर्तव्य-निर्णय करना उचित है । यद्यपि पहिले कुछ दृष्टांतों द्वारा प्रेम और मोह का अन्तर और उनका परिणाम बताया जा चुका है फिर भी यह विषय इतना जटिल है कि इसको अधिक से अधिक साफ़ करने की ज़रूरत है, इसलिये एक उदाहरणमाला के द्वारा कर्तव्य-निर्णय करते हुए प्रेम और मोह का अन्तर दिखाया जाता है—

१. विभीषण ने रावण के अन्याय से ऊब कर राम का पक्ष लिया । अगर विभीषण में लङ्का के राज्य हथियाने की वासना बिलकुल न हो तो विभीषण में न तो रावणद्वेष माना जा सकता है न राममोह, दोनों जगह प्रेम है । अगर राज्य हथियाने की वासना हो तो न्यायपक्ष लेकर भी वह स्वार्थी मोही आदि है ।

२— एक राजाने मेरे देशमें इसलिये धर्मप्रचारक भेजे कि उसके धर्म का प्रचार होने से उसे साम्राज्य बढ़ाने में सुभीता होगा, अगर धर्मप्रचारकों को सताया या मारा जायगा तो मेरे देश पर आक्रमण करने का उसे बहाना मिलेगा, ऐसी हालत में मैं उस धर्मप्रचार का भी विरोध करूं तो यह देश-मोह नहीं, देश-प्रेम होगा ।

३— एक डाकू अपने बेटे को खूब चाहता है और कोशिश करता है कि यह मुझसे भी बढ़िया डाकू बने । बेटा भी बापको खूब चाहता है पर बड़ा होने पर वह डकैती को पाप समझकर पिता का साथ नहीं देता । डकैती में कभी बाप घायल होकर आजाता है तो वह बाप की सेवा करता है पर बाप डाका न डालने पावे इस की कोशिश भी करता है, जहाँ डाका डालने का विचार किया जाता है वहाँ के लोगों को चौकन्ना भी कर देता है । बाप इस पर क्रुद्ध होकर बेटे को दंड देता है, बेटा चुपचाप विनयपूर्वक दंड सहलेता है पर अपने पापी बापसे द्वेष नहीं करता न उसे दुःखी देखना चाहता है तो वह बेटा मोही नहीं —प्रेमी है ।

४— एक आदमी इसलिये अपने धर्म की तारीफ़ करता है कि वह उसका धर्म है तो यह धर्मप्रेम नहीं धर्ममोह है । इस प्रकार जाति कुल देश प्रान्त आदि की भी बात समझना चाहिये ।

५— एक आदमी ने एक अनाथ लड़के का पुत्र की तरह पालन किया, वह आदमी व्यापार में कुछ मिलावटी चीज़ों का उपयोग करता है लड़के को इस रहस्य का पता है, वह इसे अनुचित समझता है इसलिये उस में भाग नहीं लेता फिर भी अपने पालक का रहस्य इसलिये जगत् को नहीं बतलाता कि इससे पालक के मनमें अनाथ बच्चों को पालने से घृणा न हो जाय, ऐसी हालत में वह लड़का अपने पालक का प्रेमी है मोही नहीं । पर अगर वह आदमी किसी भी स्त्री पर बलात्कार करने या हरण करने का षड्यन्त्र रचता है और लड़केको मालूम हो जाता है लड़के को अवसर है कि वह उस स्त्री को सतर्क करदे फिर भी वह नहीं करता तो लड़के को प्रेमी नहीं मोही कहना चाहिये । साधारण मिलावटी चीज़ मिलाने में और एक स्त्री पर बलात्कार करने में पापका इतना अन्तर है कि एक जगह मौन क्षम्य है दूसरी जगह नहीं है ।

६-- अपनी पत्नी का अनुचित अपमान होने पर उस अपमान का बदला देना पत्नी-प्रेम है किन्तु मातापिता कोई अच्छी बात सिखाना चाहें, काम का अभ्यास कराना चाहें, उचित सेवा लेना चाहें तो पत्नी का पक्ष लेकर माता-पिता से लड़ना पत्नी-मोह है ।

प्रेम और मोह का अन्तर बतानेवाली कथामाला और भी लंबाई जा सकती है। सार बात बस इतनी ही है कि मोह के मूल में स्वार्थ और अविवेक रहता है जब कि प्रेम के मूल में स्वपर-हित और विवेक होता है । प्रेम बहुत फैल सकता है और उसकी सीमा पर ऐसी धार नहीं होती जिससे वह दूसरों को काटे, प्रेम अपनी चरमसीमा में वीतरागता कहलाने लगता है, मोह संकुचित होता है और उसकी सीमा पर ऐसी धार होती है जिससे वह दूसरे को काटे। मोह की सीमा द्वेष से घिरी रहती है जब कि प्रेम की सीमा पर द्वेष नहीं होता बल्कि उसके चारों ओर 'स्वागतम' लिखा रहता है । प्रेम पुण्य है, धर्म है। मोह कषाय है पाप है । इसलिये भगवती की मनसाधना के लिये मोह का त्याग करना चाहिये और प्रेम को अपनाना चाहिये ।

निरभिमानता

भगवती की मनसाधना का दूसरा अंग है निरभिमानता । मानकषाय का स्वरूप इसी अध्याय में पहिले कह दिया गया है और यह भी बतला दिया गया है कि अभिमान और आत्म-गौरव में क्या अन्तर है ! अभिमान कषाय है, आत्मगौरव कषाय नहीं । यहां तो भगवती की साधना के लिये अभिमान स होने वाली बुराई और निरभिमान से होने वाले लाभ का विवेचन किया जाता है ।

यद्यपि सबसे प्रबल और व्यापक कषाय मोह है पर कई दृष्टियों से उसमें स्वाभाविकता अधिक है, जीवन की आवश्यकता-पूर्ति के लिए भी मोह का उपयोग हो जाता है पर मान इतना स्वाभाविक और आवश्यक न होने पर भी तीव्र होता है इसलिये यह मोह की अपेक्षा कम क्षन्तव्य है । अभिमान का उपयोग सिर्फ इतना ही है कि हम दूसरों के सिर पर अपना महत्व लादें । महत्वानन्द की भूख बुझाने लिये मनुष्य अभिमानी बनता है । मनुष्य महान् बने- इसमें कोई बुराई नहीं है, पर मनुष्य बड़ा बनना नहीं चाहता बड़ा कहलाना चाहता है और इसीलिए अभिमान पाप-रूप हो जाता है ।

अभिमान से अनेक हानियाँ होतीं हैं । नमूने के रूप में कुछ का उल्लेख यहां किया जाता है । इससे पता लगेगा कि बड़े कहलाने के लिये हम जितना अभिमान करते हैं, उतने ही तुच्छ होते जाते हैं और तुच्छ कहलाते भी जाते हैं ।

१-- आत्मप्रशंसा---साधारण मनुष्यों में जरूरत बेजरूरत अपनी तारीफ करने की आदत होती है और इसके लिये वे अतिशयोक्ति या मिथ्यावाद से भी काम लेते हैं । ऐसे लोगों को समझना चाहिये कि अगर कोई हमारे सामने अपनी तारीफ के पुल बांधता आवे तो जैसे हम उसे क्षुद्र समझकर हँसने लगते हैं, प्रत्यक्ष में न करें तो परोक्ष में उसकी निंदा करने लगते हैं, हमें उसकी तारीफ सहन नहीं होती उसी प्रकार दूसरों को भी हमारी तारीफ सहन नहीं होती और वे भी निन्दा और घृणा करने लगते हैं । आनन्द तो हमें महान् बनने या महान् कहलाने दूसरों से आदर और सेवा पाने से मिल सकता

है पर आत्मप्रशंसा से हम अनादर असहयोग और घृणा ही पाते हैं इसलिये आत्मप्रशंसा बेकार है, इतनाही नहीं वह हमारा स्थान नीचा भी बनाती है? भले ही मूढ़तावश हम इसे समझ न सकें। तारीफ़ तो दूसरे के मुंह से ही अच्छी मालूम होती है अपने मुंह से अपनी तारीफ़ में न तो मज़ा है न स्थिरता है और न व्यापकता है।

२–कायिक आत्मप्रशंसा--आत्मप्रशंसा बचन से ही नहीं होती, शरीर से भी होती है जिससे कि अहंकार का परिचय मिलता है और आत्मप्रशंसा से जो हानियां ऊपर बतलाई गई हैं वे हानियां उठाना पड़तीं हैं। तुम जब ऐसी सभा में बैठे हो जहां सेवा आदि के महत्त्व के अनुसार बैठने का विचार किया जाता है वहां अपने से बड़े लोगों का स्थान झपट लेना कायिक आत्मप्रशंसा है। इसी प्रकार, फोटो खिचवाने की सामूहिक व्यवस्था में अपने उचित स्थान से ऊंचे दर्जे पर बैठना जिससे तुम्हारे अनुचित महत्त्व की घोषणा होती हो, साथ चलने में इस प्रकार बढ़ बढ़ कर चलना जिससे योग्य मनुष्यों का महत्त्व छिपता हो, योग्य व्यक्तियों से स्वयं पहिले शिष्टाचार न करना या शिष्टाचार की क्रिया या वचनों का योग्य उत्तर न देना, जरूरी और योग्य सेवा को तुच्छ समझकर उससे दूर रहना, आदि कायिक आत्मप्रशंसा है इससे हम दुनिया की दृष्टि में घृणास्पद और नीच बनते हैं।

३--कुटिलआत्मप्रशंसा--आत्मप्रशंसाके और भी रूप हैं। कभी कभी हम आत्मप्रशंसा सीधे शब्दों में न करके कुछ ऐसे टेढ़े शब्दों में या टेढ़े व्यवहार में करते हैं कि अगर हमें कोई अभिमानी सिद्ध करना चाहे तो हम शब्दों की पकड़में न आयें यह कुटिल आत्मप्रशंसा है इसका परिणाम भी बुरा होता है। बल्कि छल का मिश्रण होने से इसमें मन की अशुद्धि बढ़ भी जाती है। इस विषय में मेरे जीवन के कुछ संस्मरण और अन्य कथाएं उपयोगी होंगी।

क--जब मैं अन्तर्जातीय-विवाह का आन्दोलन करता था तब बहुत से विद्वान् मेरे विरोध में लेख लिखते थे। जिनने बहुत दिनतक मेरे विरोध में लिखा और सब से अधिक जोरदार लिखा ऐसे एक विद्वान् का मत अन्त में बदल गया और इस विषय में वे मेरे क्रियात्मक समर्थक हो गये। कुछ दिनबाद जब मैं दूसरा आन्दोलन करने लगा और उनने उस दूसरी बात का विरोध किया तब मैंने लिखा 'अन्तर्जातीय-विवाह' के आन्दोलन में आपने जैसी निःपक्षता का परिचय दिया वैसी आज भी देंगे तो फिर मेरे समर्थक बन जाँयगे।

इन शब्दों में मेरा अभिमान छलछला रहा था–सत्यनिष्ठा का तो बहानामात्र था। इसका फल यह हुआ कि उनका भी अभिमान जग पड़ा और थोड़ा बहुत मेरा जो प्रभाव उन पर पड़ा था वह भी उनने अस्वीकार किया और आगे के किसी भी आन्दोलन में वे मेरे समर्थक नहीं हुए इस प्रकार मेरी इस कुटिल आत्मप्रशंसा ने मेरा उनका और समाज का काफ़ी नुकसान किया।

ख–एकबार बहुत से नेता लोग एक समारोह में मेहमान होकर गये थे। गांव के हजारों लोग उसमें हाजिर थे उनने सब मेहमानों के बैठने के लिये, खासकर जो उस समारोह में व्याख्यान देने आये थे–उनके लिये कुर्सियों का इन्तजाम किया। मेहमानों में से एक सज्जन उस समारोह के अध्यक्ष चुने जाने वाले थे। उनने सोचा कि मेरे साथ सब मेहमान कुर्सी पर बैठें तो मेरी विशेषता क्या रही? इसलिये उनने वहां के लोगों

से कहा-आप लोग कुर्सियां उठालेजाइये हम लोग जमीन पर बैठेंगे, मेहमान हैं तो क्या आपके सिर पर बैठने के लिये। उनकी इस विनीतता से खुश होकर लोगों ने कुर्सियां उठाली पर जब आप अध्यक्ष बनाये गये तो आपको कुर्सी की जरूरत पड़ी तब आप कुर्सी का असपत्न राज्य पाकर आराम से कुर्सी पर बैठे। इससे वे आसमान में कितनी ऊँचाई पर पहुँचे यह तो किसे माळूम पर उनके मित्रों के दिल में उनका स्थान सदा के लिये बहुत नीचा हो गया। यह कुटिल आत्मप्रशंसा का फल था।

ग—एक बार मुझे एक ऐसे श्रीमान् का मेहमान बननेका दुर्भाग्य प्राप्त हुआ जिन्हें कुटिल आत्मप्रशंसा की बीमारी थी। उनने मुझे अनेक तरह की मिठाइयां और अच्छे अच्छे व्यञ्जन परोसे यह कल्पना तो मुझे अच्छी न लगी कि उनने अपने वैभव का प्रदर्शन किया है, मैंने तो यही समझा कि मेरा असाधारण आदर करने के लिये उनने यह तकलीफ उठाई है। भोजन के बाद उनने कहा—चलिये, घूमने चलें उनने बग्घी मँगाई। उसमें एक साथ दो आदमी बैठ सकते थे पर श्रीमान् जी ने आधी जगह पर रुई की बढ़िया गादी बिछा रक्खी थी और पीछे टिकने के लिये एक तकिया था। बाकी आधी जगह पर यह सब नहीं था। जब गाड़ी पर चढ़ने का अवसर आया तो आपने मुझे पहिले बैठने के लिये कहा—अभिमान न माळूम हो इसलिये मैं खाली जगह पर बैठ गया, सोचता था कि विद्वान् कहलाने के लिहाज से नहीं तो मेहमान कहलाने के लिहाज से ही ये श्रीमान् जी अवश्य मुझ से गादीवाले आसन पर बैठने का अनुरोध करेंगे। पर मैं जितना तुच्छ था श्रीमान्‌जी उससे कुछ कम तुच्छ न थे, वे गादीवाले आसन पर जमकर बैठ गये। अब मुझे वह गादी भीष्म की बाणशय्या से भी अधिक कँटीली माळूम होने लगी उनने खिलापिला कर जो मेरा आदर किया था वह सब मिट्टी में मिल गया उनकी तुच्छता पर मुझे हँसी भी आई और घृणा भी हुई। उनने तो सोचा होगा कि मैं प्रभावित होगया इसलिये इस कुटिल आत्मप्रशंसा का उपयोग किया गया पर इससे उनने घृणा ही पाई। पीछे तो माळूम हुआ कि ये श्रीमान्‌जी उन महाशयों में से हैं जो पांच का दान करके दस रुपया उस मे विज्ञापन में खर्च करते हैं इसलिये बेचारे यश के लिये बहुत परिश्रम करते हैं पर निन्दा ही पाते हैं।

घ— बात काफी पुरानी है, उस समय मगध में बहुत से गणतन्त्र राज्य थे जो कि आसपास के एकतंत्री राज्यों की आँखों में खटकते थे। एक गणतन्त्र के मुखिया दो भाई थे जो बड़ी बहादुरी और होश्यारी से अपने गणतन्त्रकी रक्षा करते थे। एक बार उन्हें पता लगा कि उनके राज्य पर आक्रमण होनेवाला है इसलिये एक भाई सैन्यसंग्रह के काम में लग गया और जैसे आदमी मिले वह सेना में भरने लगा, दूसरे भाई ने कहा चुने हुए आदमियों को ही सैनिक बनाना चाहिये इस प्रकार भीड़ इकट्ठी करने से कुछ लाभ नहीं पर पहिला भाई भीड़ इकट्ठी करता रहा। पर ज्यों ज्यों लड़ाई का अवसर पास आने लगा त्यों त्यों सैनिक भागने लगे इसलिये उसने सोचा यह ठीक नहीं इनमें से अच्छे अच्छे सैनिक चुन लेना चाहिये। पहिले भाई का यह परिवर्तन देखकर दूसरे भाई को कुछ घमंड आया कि आखिर इन्हें मेरे रास्ते पर ही चलना पड़ा। घमंड को वह दबा न सका। उसने पहिले भाई से कहा—

आखिर आपको मेरे रास्ते पर ही आना पड़ा मुझे आपके मतपरिवर्तन से प्रसन्नता हुई है, अब अपना काम अच्छा चलेगा।

पहिले भाई का मतपरिवर्तन हो ही गया था पर दूसरे भाई ने अच्छा काम चलने के बहाने जो आत्मप्रशंसा की उसने विष घोल दिया। अब सुव्यवस्था का प्रश्न न रह गया। प्रश्न अपने अहंकार का रह गया। अब पहिले भाई ने यही समर्थन करना शुरू कर दिया कि जैसे भी मिलें सैनिक भरती किये जाँयँ दूसरे ने कहा-नहीं, चुने हुए आदमी ही सैनिक बनाये जाँयँ। अब काफ़ी शक्ति इन झगड़ों में जाने लगी, अव्यवस्था भी फैली, दोनों में विरोध भी बढ़ा, विरोधियों को पता लगा, मौका पाकर उनने उस गणतंत्र को नष्ट कर डाला। इस प्रकार अभिमानवश थोड़ी-सी आत्मप्रशंसा ने सर्वनाश कर दिया।

ङ-उस जमाने की बात है जब भारतवर्ष में आर्य और नागद्राविड़ आदि में संस्कृतिक एकता का प्रयत्न चल रहा था इसलिये शिव और विष्णु एक ही परमात्मा के अंश माने जाने लगे थे और उनमें अविरोध बतलाकर दोनों जातियों का सम्मिलन कराया जाता था। जनमेजय का नागयज्ञ बन्द करानेवाले आस्तीक मुनि की परम्परा में नागार्य नाम के एक महर्षि हुए थे जिनने हरिहर मन्दिर बनाकर आर्य-अनार्य सब को एक स्थान पर मिलाने की कोशिश की थी। इस मन्दिर में विष्णु और शिव दोनों की मूर्तियां थीं इसके प्रताप से शैव और वैष्णव आर्य और अनार्य का भेद मिटता जाता था।

महर्षि नागार्य के मरने के बाद उनके शिष्य शिवनारायण के हाथ में मंदिर का प्रबंध आया। नागार्य को लोग बड़ी श्रद्धा से देखते थे उनके शिष्य का भी लोग काफ़ी आदर करते थे। शिवनारायण त्यागी और विद्वान् था पर उसमें कुटिल आत्मप्रशंसा की बड़ी बीमारी थी, इसके लिये वह एक न एक कुटिल उपाय काम में लाया करता था। पहिला काम उसने यह किया कि हरिहरमंदिर का नाम शिवनारायणमंदिर कर दिया। हरिहर शब्द उच्चारण में सरल और छोटा होने पर भी अर्थ में कैसा कठिन है इस पर उसने एक दिन अच्छा व्याख्यान भी दे डाला। पर शब्दों की दीवार शब्दों से ही अभेद्य हो सकती है, वह दिल से अभेद्य नहीं हो सकती। दिल तो उसे भी पारकर तथ्य को पकड़ लेता है, इसलिये लोग चौकन्ने हो गये। उनने कहा तो कुछ नहीं, पर समझ लिया कि शिवनारायण पुजारी भगवान के बहाने अपनी पूजा और कीर्तन कराना चाहता है। पर शिवनारायण तो कुटिल आत्मप्रशंसा में अन्धा हो रहा था, लोगों की अरुचि उसे न दिखी और उसे शिवनारायण की बीमारी हो गई। उस समय लोग आपस में शिष्टाचार के तौर पर 'हरिहर' बोलते थे जैसे कि आजकल 'रामराम' बोलते हैं। पर शिवनारायण ने 'हरिहर' की जगह 'शिवनारायण' का प्रयोग करना शुरू किया।

महर्षि नागार्य को जब कोई प्रणाम करता तब वे 'कल्याणमस्तु' कहकर आशीर्वाद देते थे पर शिवनारायण को जब कोई प्रणाम करता तो 'शिवमस्तु' कहकर आशीर्वाद देता था। फल यह हुआ कि लोगों को यह शिव शब्द भी काँटेसा चुभने लगा।

हरिहरमंदिर को साधारणतः लोग मंदिर कहा करते थे। हरिहर तो प्रकरण से ही समझ

लिया जाता था पर शिवनारायण को सिर्फ़ मन्दिर कहने में संतोष नहीं होता था, वह बातबात में शिवनारायण-मंदिर कहा करता था । इसप्रकार अवलम्बन न रहने से हरिहर शब्द छूट गया और लोगों ने यह समझकर कि भगवान के बहाने यह पुजारी अपनी पूजा कराना चाहता है, शिवनारायण शब्द भी छूट गया और इस तरह मंदिर भी छूट गया ।

लोगों के इस असहयोग से पुजारी का क्रोध बढ़ने लगा । अन्त में फल यह हुआ कि महिनों तक लोग न उस मंदिर में आते न पुजारी से मिलते । मंदिर की मरम्मत भी न होती, कुछ दिनों बाद मंदिर की दीवारें गिरने लगीं, पुजारी भी चल बसा । लोगों में यह अफ़वाह फैली कि पुजारी मरकर मंदिर में भूत हुआ है, इससे लोगों ने उस रास्ते से निकलना भी बन्द कर दिया ।

इस प्रकार पुजारी की कुटिल आत्मप्रशंसा से महर्षि नागार्य का लगाया हुआ पौधा असमय में ही सूख गया इस प्रकार कई शताब्दियों के लिये सांस्कृतिक एकता का कार्य रुक गया ।

इस प्रकार तथ्यातथ्यरूप सत्यकथाएं और भी लिखी जा सकतीं हैं पर इतने से भी बात पूरी समझ में आ जाती है । सार यह है कि आत्मप्रशंसा के काम में हम कितनी ही कुटिलता या चतुराई से काम लें हमारे मनका पाप छिपा नहीं रह सकता । दुनिया हमारे मुँह पर नहीं बोलती इसका यह अर्थ नहीं है कि वह नहीं समझती । ऐसी बातें तो साधारण आदमी भी समझ जाते हैं फिर चतुरों की तो बात ही दूसरी है । यहां हम जितना ही घूंघट लगाते हैं दुनियां की आंखें उतनी ही सतर्क होतीं हैं । आत्मप्रशंसा में बड़ा से बड़ा विद्वान् भी मूर्ख से मूर्ख साबित होता है ।

४ **परनिंदा**—साधारण मनुष्यों को सब से रोचक समाचार है परनिन्दा । जहां पर अच्छे से अच्छे विद्वत्तापूर्ण और कलापूर्ण भाषण के लिये श्रोता न मिलते हों वहां भी निन्दापूर्ण भाषण के लिये श्रोताओं की कमी नहीं रहती । मनुष्य को निन्दा करने की और सुनने की जो आदत है उसका कारण उसका एक भ्रम है । वह समझता है कि दूसरों की निन्दा से मैं बड़ा या भला कहलाने लगूंगा जब कि बात इससे उल्टी है । दूसरों की निन्दा से अगर हम बड़े बनने लगें तो हमारी निन्दा से दूसरे भी बड़े बनने लगेंगे । टोटल बराबर ही रहेगा । हाँ, सामूहिक रूपमें सब का पतन अवश्य होगा ।

जैसे आत्मप्रशंसा से दुनिया हमें बड़ा नहीं समझने लगती उसी प्रकार परनिंदा से हमारी निर्बलता ही साबित होती है ।

आत्मप्रशंसा के विषय में जिन बातों का उल्लेख ऊपर किया गया है उन्हें परनिन्दा के विषय में भी समझ लेना चाहिये । परनिन्दा भी कायिक तथा कुटिल हुआ करती है । किसी की उचित तारीफ़ न सहकर दूसरों की तारीफ़ करने लगना कुटिल परनिन्दा है । निन्दा किसी प्रकार भी घुमाफिरा कर की जाय जब हमारे मन में अहंकार है तो उसका दुष्परिणाम होगा ही ।

अपवाद—मान कषाय का स्वरूप कहते समय यह बतला दिया गया है कि अभिमान पाप है-आत्मगौरव बुरा नहीं है । अभिमान के द्वारा हम दूसरे का महत्व नष्ट करना चाहते हैं और अपना महत्व किसी भी तरीके से बढ़ाकर दूसरों पर लादना चाहते हैं, जब कि आत्मगौरव में अपने उचित महत्व की रक्षा का भाव होता है,

आत्मगौरव के द्वारा न तो दूसरों का उचित महत्व गिराया जाता है, न अपना अनुचित महत्व बढ़ाया जाता है। इसलिये अभिमान दूर करके मनुष्य को आत्मगौरव का ख़याल रखना चाहिये। तुम में आत्मगौरव है या अभिमान ? इसका निर्णय दुनिया कर ही लेती है पर अगर कुछ समय के लिये लोग भ्रम में भी पड़ जाँय तो उस भ्रम को सहन करके भी आत्मगौरव की रक्षा करना चाहिये।

ऐतिहासिक व्यक्तियों की आलोचना करने में अभिमान नहीं है, रावण आदि की निंदा पर-निन्दा नहीं है क्योंकि इसमें अपना महत्व बढ़ाने का विचार नहीं होता किन्तु पाप-पुण्य की आलोचना का विचार होता है, पाप का दमन और पुण्य को उत्तेजन देने की सद्भावना होती है। हाँ, किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को अपना समकक्ष समझकर अपना महत्व बढ़ाने के लिये उसकी निन्दा की जाय तो यह भी पर-निन्दा होगी। अपने प्रांत, देश, जाति आदि का होने से किसी ऐतिहासिक व्यक्ति की प्रशंसा की जाय और उसे बढ़ाने के लिये दूसरे प्रांत, देश, जाति आदि के ऐतिहासिक व्यक्ति की निन्दा की जाय तो यह भी परनिन्दा है। वर्तमान के प्रसिद्ध व्यक्तियों के विषय में भी इसी नीति से विचार करना चाहिये।

सन्तान या सन्तानोपम व्यक्तियों की निंदा उनके सुधार के लिये की जाय तो यह परनिन्दा नहीं है। ऐसे व्यक्तियों के सामने अगर अपने जीवन की ऐसी सचाई रक्खी जाय जिससे वे कुछ सीख सकें, तो सिखाने की दृष्टि से आत्म-प्रशंसा में भी अभिमान का दोष न होगा।

किसी कार्य में अपनी दृढ़ता का परिचय देने के लिये कुछ ऐसे वचन कहे जाँयँ जिससे दूसरे को आश्वासन मिले तो ऐसी जगह जो आत्मप्रशंसा होगी उसमें भी अभिमान का दोष न होगा। जैसे किसी ने कहा, आप चिन्ता न करो मेरे रहते आपका कौन क्या कर सकता है ? वैद्य रोगी को इसी प्रकार आश्वासन दें तो यह आत्म-प्रशंसा न कहलायगी। हां, आश्वासन देने का भाव न हो या गौण हो किन्तु ठगने का भाव मुख्य हो तो यहां लोभ छल अभिमान आदि दोष हैं ही। क्रान्तिकारी या सुधारक लोग जो अपने प्रयत्नों की अमोघता बताने के लिये दृढ़ता का परिचय देते हैं वह भी अभिमान नहीं है। हाँ, इस बहाने से अपने गीत गाना हो तो अभिमान है ही।

जिस जगह हमारा व्यक्तिगत स्वार्थ न हो सिर्फ नीति-अनीति का विचार हो वहाँ भी निन्दनीय कार्य की या कर्ता की निन्दा परनिन्दा नहीं है। जगत में भले बुरे आदमियों का जो यश-अपयश फैलता है वह ऐसी ही निरपेक्ष स्तुति निन्दा के आधार पर फैलता है। धर्मी की प्रशंसा के समान पापी की निन्दा भी मानव स्वभाव है और उसकी समाज में उपयोगिता भी है इसलिये इसे अभिमान या द्वेष नहीं समझना चाहिये। हां, उसने हमारा अमुक काम नहीं कर दिया इसलिये खराब है और हमारा अमुक काम कर दिया इसलिये अच्छा है इस स्वार्थ को लेकर जो निन्दा-प्रशंसा की जाती है वह स्वभाव का अच्छापन नहीं है, वह हेय है

प्रश्न— प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभव के आधार से किसी के गुण दोष समझा करता है उसके लिये जो अच्छा साबित होता है उसी को अच्छा कहता है, जो उस के लिये बुरा साबित

होता है उसे बुरा कहता है । इस में स्वभाव का बुरापन क्या है ?

उत्तर-- अच्छे बुरे का निर्णय विश्वहित की दृष्टि से ही किया जाना चाहिये । एक पहरेदार अगर हमें चोरी कर लेनेदे तो हमें वह अच्छा लगेगा पर नौकर की ऐसी नमकहरामी या विश्वास-घातकता अच्छी चीज़ हो तो जगत के व्यवहार में इतनी गड़बड़ी आजाय कि उससे वह नौकर, हम सरकार आदि सब नष्ट होजाँयँ । खुद हम भी ऐसा नौकर रखना पसन्द न करेंगे । इसलिये अच्छे बुरे का निर्णय विश्वहित की दृष्टिसे करना चाहिये अपने स्वार्थ की दृष्टि से नहीं ।

अपवादों की भी कोई गिनती नहीं है । लोग अहंकार को भी अपवाद में शामिल कर सकते हैं आर अपवाद पर भी अहंकार की छाप लगा सकते हैं पर प्रायः अन्त में असली बात छिपी नहीं रहती । इसलिये दुनिया की अपेक्षा भीतर टटोलना चाहिये कि मनमें अभिमान तो नहीं है । इस प्रकार निरभिमानी व्यक्ति में एक तरह का व्यक्ति-समभाव रहता है । मूल में न वह किसी व्यक्ति को बड़ा समझता है न छोटा । अगर किसी में गुणों की विशेषता है, सेवकता है तो वह अपने व्यक्तित्व का खयाल न कर उसका आदर करता है अगर कोई गुणों में विशेष नहीं है न उस में सेवकता बहुत है तो बड़ा महर्द्धिक पदाधिकारी और यशस्वी होने पर भी वह उसे साधारण दृष्टि से देखता है । इस प्रकार उस में आत्मगौरव और विनय दोनों का उचित सम्मिश्रण रहता है । जो लोग विनय के नामपर आत्मगौरव खोदेते हैं वे वास्तव में जगत को कुछ नहीं दे पाते ।

एक बार एक साधु की प्रशंसा सुनकर एक राजा दर्शन करने के लिये आया । साधुने जब सुना कि राजा साहिब दर्शन करने के लिये आरहे हैं तो वह राजा साहिब के स्वागत के लिये आगे बढ़ा । राजाने देखा कि साधु जी मेरे स्वागत के लिये आरहे हैं तो वह लौट गया ।

साथियों ने पूछा, आप लौट क्यों आये ? राजाने कहा--मैं साधु के पास कुछ लेने गया था ज्ञान का भिखारी बनकर गया था, अगर साधु मुझे कुछ देने लायक होता तो इस तरह मेरे स्वागत के लिये आगे न बढ़ता, जब आगे बढ़ा तब मैंने समझा कि वहीं मुझसे कुछ लेना चाहता है । तब मैं देने के लिये उसके पास क्यों जाऊँ ?

आत्मगौरव को छोड़ने का ऐसा ही परिणाम होता है और होना भी चाहिये ।

इस प्रकार आत्मगौरव के नाम पर जो विनय छोड़ देते हैं उनकी भी साधना व्यर्थ जाती है । एकबार एक सेठने ज्ञानी बनने के लिये एक विद्वान को बुलाया सेठजी पलंग पर लेटे-लेटे पढ़ने लगे और विद्वान को नीचे जमीन पर बैठकर पढ़ाने को कहा । पर बहुत दिन होने पर भी सेठजी कुछ सीख न सके । तब सेठजी पंडितजी को मूर्ख समझकर और कुछ मेवा लेने लगे । एक दिन सेठजी बोले पंडितजी, मुझे प्यास लगी है मेरे मुंहमें गिलास से धीरेधीरे पानी डाल दीजिये ।

पंडितजी ने पानी लिया और जमीन पर बैठे बैठे पानी डालने लगे। सेठजी गुस्से से बोले-- क्या जमीन पर बैठे बैठे पानी डालने से मेरे मुंह में पानी चला जायगा ?

पंडितजी ने कहा--जब विद्या चली जाती है तब पानी क्यों न चला जायगा ?

तब सेठजी समझे कि मुझे विद्या क्यों नहीं आ रही है ? तब अभिमान छोड़कर सेठजी नीचे बैठने लगे और धीरे धीरे विद्वान् बनने लगे।

विनय और आत्मगौरव दोनों का उचित समन्वय करके निरभिमानी बनना भगवती की मन-साधना के लिये अत्यावश्यक है।

मोह और अभिमान समस्त पापों के मूल हैं। मोह और अभिमान नष्ट हो जाने पर क्रोध और छल नहीं रहपाते। जैसे हाथ के कट जाने से तलवार का उपयोग नहीं हो सकता इसी प्रकार मोह और अभिमान नष्ट होने पर क्रोध और छल का उपयोग नहीं हो सकता। इसीलिये मोह और अभिमान को हस्त-कषाय और क्रोध और छल को शस्त्र-कषाय कहा है। भगवती की साधना में इन दोनों का त्याग मुख्य है।

अक्रोध

क्रोध का स्वरूप पहिले कह दिया गया है। मोह और अभिमान से पाप की प्रेरणा मिलती है पर दुनिया के साथ संघर्ष होने में क्रोध और छल का सीधा उपयोग होता है। क्रोध में अन्य कषायों से एक विशेषता यह है कि वह दुःख देनेवाला ही नहीं दुःखात्मक भी है या अन्य कषायों से अधिक दुःखात्मक है। मोह और अभिमान का फल दुःख है पर उनका संवेदन इतना दुःखात्मक नहीं होता। मोह से इष्ट-वियोग आदि के समय दुःखानुभव होता है स्वयं तो मोह दुःखात्मक नहीं मालूम होता; अभिमान में भी कुछ छाती ही फूलता है पर क्रोध में तो मनुष्य तड़पता है चिल्लाता है फड़फड़ाता है इस प्रकार उसी समय उसे तकलीफ का बहुत अनुभव करना पड़ता है।

क्रोध में दूसरी कषायों से एक दूसरी विशेषता यह भी है कि अन्य कषायों की कालिमा का प्रभाव जितनी जल्दी वापिस लिया जा सकता है उतनी जल्दी क्रोध की कालिमा का प्रभाव वापस नहीं लिया जा सकता। क्रोध तीव्र शस्त्र होने से अपने पर या दूसरे पर जो आघात करता है वह आघात वापिस नहीं आता।

क्रोध का आवेग तीव्र होने से मनुष्य की विचारक शक्ति नष्ट हो जाती है और वह आवेग में कुछ का कुछ कर जाता है। इस तरह की यह कहानी प्रसिद्ध है।

एक स्त्री ने एक नौला पाल रक्खा था। वह अपने शिशु को पालने में झुलाकर जब पानी भरने गई तो नौले को शिशु की रक्षा के लिये छोड़ गई। इतने में एक सर्प आया और पालने पर चढ़ने लगा पर ज्यों ही नौले की नज़र पड़ी नौले ने सर्प को मार डाला और उसके टुकड़े टुकड़े कर दिये। जब बच्चे की माँ आई और उसने नौले के मुँह में खून लगा देखा तो उसने सोचा कि नौले ने मेरे बच्चे को मार डाला है बस गुस्से में उसने सिर का घड़ा नौले पर पटक दिया, बेचारा नौला मर गया। पर जब उसने पालन में अपने बच्चे को सुरक्षित देखा और सांपके टुकड़े देखे तो पश्चात्ताप करने लगी पर पश्चाताप से नौला जीवित न हुआ।

क्रोधके आवेशमें मनुष्य ऐसी ऐसी गालियाँ बकजाता है, गुरुजनों, उपकारियों तथा अच्छे से अच्छे सज्जनों पर भी ऐसे वचनबाण छोड़ जाता है जो कभी वापिस नहीं आते, इस प्रकार वह धर्म परोपकार आदि के मार्ग में रोड़े तो अटकाता ही है, व्यवहार का नाश तो करता ही है, किन्तु खुद भी स्थान-भ्रष्ट होता है।

क्रोध प्रगट करने के बाद यह बहुत कठिन है कि सच्चे दिलसे क्षमा माँगी जाय। क्षमा का रिवाज़ पूरा कर भी दिया जाय तो भी उसका

विशेष फल नहीं होता। क्रोध करना और क्षमा माँगना फिर क्रोध करना और फिर क्षमा मांगना इस प्रकार मनको नचाने से भी दूसरा यही समझता है कि हमें धोखा दिया जा रहा है। अगर वह इतना न सोचेगा तो इतना तो समझेगा ही कि यह आदमी मौके पर चोट अवश्य करेगा पीछे भले ही मरहमपट्टी के समान क्षमा माँगले पर मरहमपट्टी के भरोसे कोई अपना चमड़ा कटाने के लिये राज़ी नहीं होता।

प्रश्न— बहुत से आदमी ऐसे होते हैं कि वे गाली आदि बकलेने पर ही शान्ति पाते हैं अगर वे ऐसा न करें तो उन का क्रोध क्रोध-किट्ट बनकर अपनी और दूसरों की हानि करता रहे।

उत्तर— वमन (उल्टी) होजाने से पेट साफ़ रहता है इसलिये उल्टी होजाना अच्छा भले ही कहा जाय पर जिसे उल्टी करने की आदत है उससे लोग बचने की कोशिश करें यह स्वाभाविक है। उल्टी के भरोसे खाते जाने वाला व्यक्ति गंदा तो है ही, पर अपनी और दूसरों की परेशानी भी बढ़ाता है। अच्छा तो यह है कि अन्न को विकृत किए बिना पचाया जाय अगर कभी थोड़ी बहुत विकृति होजाय तो अनशन आदि से पचने का अवकाश दिया जाय, अनशन के प्रयोग से भी विकार शान्त न हो तो उल्टी द्वारा निकाल दिया जाय। इसी तरह अच्छा यह है कि क्रोध पैदा न हो, हो जाय तो न्याय-विनय आदि के द्वारा उसे पचाया जाया। उसे पचा न सकना अर्ध-पाप है और किट्ट बनालेना पाप है किट्ट और कालिमा दोनों रखना महापाप है। यह ठीक है कि पापी से अर्ध-पापी अच्छा पर कभी कभी ऐसा होता है कि अर्ध पाप की ओट में महापाप जगह बना लेता है।

प्रश्न— अगर आप क्रोध-किट्ट और कालिमा को इस तरह पाप कहेंगे तो कहना पड़ेगा कि इस पाप के बिना जगत में धर्म भी नहीं रह पायेगा क्योंकि धर्म के लिये सज्जनता के अनुग्रह के साथ दुर्जनता के निग्रह की भी ज़रूरत है, दुर्जनता के निग्रह के लिये क्रोध कालिमा की आवश्यकता तो है ही, पर अगर वर्षों तक किसी दुर्जनता का निग्रह न हो पाये तो वर्षों तक क्रोध को सुरक्षित रखना पड़ेगा इस प्रकार क्रोध-किट्ट भी आवश्यक हो जायगा।

उत्तर— दुर्जनता के निग्रह के लिये क्रोधादि कषायकी ज़रूरत नहीं है किन्तु चिकित्सा-मनोवृत्ति की ज़रूरत है। न्यायाधीश अपराधी को दंड दे यह चिकित्सा है--क्रोध नहीं। भले ही दंड देने का कार्य वर्षों में हो तो इसे चिकित्सा ही कहा जायगा। कभी कभी तो ऐसा होता है कि क्रोध प्रगट करना ही दंड का रूप बनजाता है। कल्पना करो कि अपने बेटेने कोई अपराध किया हमने कुछ कर्कश स्वर से डाटदिया तो इसे कषाय न कहेंगे दंड कहेंगे इसलिये इसे चिकित्सा में शामिल किया जायगा। हां, यह बात दूसरी है कि इस प्रकार क्रोध-रूप दंड देना सफल हो या असफल, यह तो दंडविज्ञान का विचार कहलाया, पर साधारणतः यह चिकित्सा-रूप है।

प्रश्न— तब तो हर एक आदमी यह कह सकेगा कि मैं तो कषाय नहीं रखता हूं किन्तु दंड दे रहा हूं। यह चिकित्सा है कि कषाय है इसकी कसौटी क्या?

उत्तर— कषाय और चिकित्सा का अन्तर समझने के लिये चार बातों का विचार करना चाहिये १— चिकित्सा में वर्धन और रक्षण किया जाता है कषाय में भक्षण और तक्षण। २— चिकित्सा

में न्याय की मुख्यता रहती है कषाय में स्वार्थ की। ३-- चिकित्सा में प्रतीकार की मर्यादा का विचार रहता है कषाय में मर्यादा लुप्त हो जाती है। ४-- चिकित्सा में शिष्टाचार का विचार बना रहता है कषाय में शिष्टाचार का विचार नष्ट हो जाता है। इन चारों बातों को कुछ सफ़ाई के साथ समझलेना ठीक होगा। १-- एक आदमी अपथ्य-सेवन करता है इसलिये हम उस पर नाराज़ होते हैं या प्रमाद आदि के कारण ही अपनी सन्तान आदि पर नाराज़ी प्रगट करते हैं तो इस में तक्षण नहीं है रक्षण और वर्धन है। अथवा न्यायाधीश किसी को दंड देता है तो इस में भी रक्षण है। कदाचित् दंडनीय व्यक्ति का न हो पर जनता का रक्षण है इसलिये इसे रक्षण ही कहेंगे। व्यवहार-पंचक का विवेचन इस अध्याय के प्रारम्भ में किया गया है उसके अनुसार विश्वहितकारी रक्षण-वर्धन जहाँ हो वहाँ कषाय के बदले चिकित्सा की ही अधिक सम्भावना है।

२ कभी कभी रक्षण और वर्धन के कार्य में भी मनुष्य चिकित्सक की अपेक्षा कषायी बन जाता है। जैसे किसी को सुधारने की अपेक्षा आज्ञा चलाने की लालसा तीव्र हो तो इस स्वार्थ-प्रधानता के कारण रक्षण-वर्धन गौण हो जाँयगे इसलिये वहां चिकित्सा-वृत्ति न होगी कषाय-वृत्ति होगी। हां, अगर सुव्यवस्था के लिये आज्ञापालन कराना भी कर्तव्य में शामिल हो तो बात दूसरी है। जैसे एक सेनाध्यक्षने एक सैनिक को आज्ञा दी पर सैनिक कुछ उद्दंड या लापर्वाह है इसलिये उसने आज्ञा की उपेक्षा की, सेनाध्यक्ष जानता है कि अगर वह यह आज्ञा न भी पाले तो भी कोई काम अड़ न जायगा पर इससे आज्ञा की उपेक्षा करने की जो आदत पड़ जायगी उससे व्यवस्था में बड़ी गड़बड़ी होगी इसलिये आज्ञा पालन कराना भी न्याय है, स्वार्थ नहीं। इस प्रकार के विशेष प्रसंगों की बात दूसरी है पर साधारणतः आज्ञा-पालन कराने की ओट में स्वार्थपरता आदि का प्रवेश न हो जाय इस का ध्यान रखना चाहिये।

३ कभी कभी न्याय के नाम पर मनुष्य बहुत कड़ाई कर जाता है प्रतीकार की मर्यादा भूल जाता है ऐसी अवस्था में वहां कषाय का आवेग ही समझना चाहिये। यह हो सकता है कि कहीं पर साधारण प्रतीकार काम न दे सके तो कठोर और अधिक प्रतीकार भी उचित ही समझा जायगा। जैसे मानलो कि कहीं के लोग ऐसे जंगली हैं कि नारियों पर बलात्कार करने में नहीं चूकते साधारण सज़ा का उन पर प्रभाव नहीं पड़ता तो जब तक उस जाति के सब लोग जन्म से सुसंस्कृत नहीं बनाये जाते तबतक बलात्कारियों को अधिक से अधिक दंड भी-प्राण दंड भी-मर्यादित समझा जायगा। मतलब यह है कि प्रतीकार में जनहित की दृष्टि से पात्रापात्र का विचार करते हुए कार्य करना चाहिये।

४ मर्यादित प्रतीकार में शिष्टाचार का भी विचार रखना चाहिये। एक आदमी प्रतीकार के नाम पर माँ बाप को भी गालियाँ देने लगता है तो समझना चाहिये कि उसमें चिकित्सा नहीं है कषाय है। अगर ये गालियां अपने स्वार्थ के कारण हों, माता पिता की उचित शासकता के विरुद्ध हों तब तो क्रोध अक्षम्य ही समझना चाहिये पर मांबाप की भूल होने पर भी गालियाँ बककर या और किसी तरह से शिष्टाचार का भंग किया जाय तो यह क्रोध की तीव्रता ही समझना चाहिये।

यद्यपि प्रतीकार करने में कुछ न कुछ शिष्टाचार को धक्का लगता ही है, पर देखना यही चाहिये कि जनहित न्यायरक्षा आदि के लिये अनिवार्य क्या है। अनिवार्य जितना हो उसे चिकित्सा-सूचक कहेंगे बाकी कषाय-सूचक होगा। इस प्रकार दुर्जनता का निग्रह करते हुए मनुष्य कषाय से बचा रहेगा। जो बात कषाय कालिमा के विषय में कही गई है वही कषाय-किट्ट के विषय में भी समझना चाहिये। मानलो एक आदमी दुर्जन है, अन्यायी, अविवेकी या मूर्ख है, उसकी योग्यता और स्वभाव से परिचित हो कर हम जीवन भर व्यवहार करते हैं, व्यवहार करते समय उसके दुर्जन स्वभाव का हमें स्मरण रखना पड़ता है तो इसे कषाय-किट्ट न कहेंगे। इस प्रकार संस्कार के रूप में जो आचार-स्मृति होगी उसके मूल में अगर भक्षण तक्षण होगा तो उसे किट्ट कहेंगे अन्यथा चिकित्सा कहेंगे।

प्रश्न—क्या यह उचित न होगा कि हम आचार स्मृति का त्याग ही करदें और बिलकुल वीतराग बन जाँयँ। हमारे ऊपर अन्याय हो तो हम अन्याय को चुपचाप सहजाँयँ।

उत्तर—भगवती की लोक-साधना का यह भी एक अंग है, किसी किसी व्यक्ति को जन-सेवा के लिये इसी नीति की आवश्यकता होती है। परन्तु यह भगवती की लोकसाधना का एक ही अंग है इसके सिवाय दूसरे अंग की आवश्यकता अधिक होती है। हां, भगवती की लोक साधना में यह उचित है कि अधिक शान्त रहा जाय। चिकित्सा का बाह्यरूप भी यथासम्भव ऐसा न हो कि जनता को किट्ट और कषाय का भ्रम हो जाय। खैर, अभी तो आत्म-साधना का प्रकरण है आत्मसाधना या मनसाधना की दृष्टि से चिकित्सा को कषाय नहीं कहते। हां, चिकित्सा की ओट में कषाय का प्रवेश सरलता से हो सकता है इसलिये इस तरफ़ से काफ़ी सतर्क रहने की ज़रूरत है।

प्रश्न—आप कालिमा की अपेक्षा किट्ट को बड़ा पाप बतलाते हैं पर जितनी हानि कालिमा में है उतनी किट्ट में नहीं है। क्रोध को रोक रखने में एक तरह के मनोबल का परिचय मिलता है इस मनोबल को पाप क्यों कहते हैं?

उत्तर—मनोबल तो पाप नहीं है किन्तु जिस मनोबल या बल का उपयोग भक्षण-तक्षण में हो वह पाप अवश्य है। मनोबल का मनचाहा उपयोग संयम नहीं है वर्धन रक्षणमय उपयोग संयम है। क्रोध को रोकने में संयम है, क्रोध को रोक रखने में संयम नहीं है। यद्यपि मनोबल दोनों में है। क्रोध में किसी को पत्थर मारना बुरा है, क्रोध को रोककर पत्थर न मारना अच्छा है, पर इसलिये क्रोध को रोककर पत्थर न मारना कि पत्थर मारने से यह भाग जायगा तब बन्दूक न मार पाऊँगा यह सब से बुरा है। बदला लेने के लिये जो क्रोध रोका जाता है अथवा अशक्ति, अनवसर आदि के कारण क्रोध प्रगट नहीं होता किन्तु भीतर ही भीतर जलता रहता है वह अपनी हानि करता है अपना जीवन नरक बनाता है और दूसरों को भी जलाता है और शंका से बेचैन करता रहता है।

पहिले कहा जा चुका है कि क्रोध का संवेदन दुःखात्मक होता है, क्रोध रोककर रखने से जब तक वह रक्खा रहेगा तब तक हमें दुःख ही देता रहेगा। साथ ही वह दूसरों को भी बेचैन और दुःखी बनाता रहेगा। घर में छुपे हुए सांप से जिस प्रकार लोग संशक और बेचैन रहते

हैं उसी तरह हमारे दिल में छिपे हुए क्रोध से भी लोग सशंक और बेचैन रहते हैं। हम कितनी ही कोशिश करें, उस को छिपाने के लिये कितने ही आवरण डालें उसकी असलियत प्रगट हुए बिना नहीं रहती। हमारी प्रवृत्तियाँ भावना के अनुसार होतीं हैं, बुद्धि के द्वारा अगर भावना पर आवरण डालते भी रहें तो भी इसमें हमें बड़ा परिश्रम पड़ता है और फिर भी वह निरर्थक जाता है। क्योंकि सोते जागते उठते बैठते प्रत्यक्ष परोक्ष में बुद्धि का का आवरण खिसक ही जाता है, क्रोध-किट्ट या वैर प्रगट ही हो जाता है। इस प्रकार छिपे हुए घावों से दुनिया बहुत घबराती है और हमें इस दुष्कर्म और दुष्फल का भान नहीं होने पाता। साथ ही इतनी बुराई और है कि एक के बदले लोग दस वैरों की कल्पना कर लेते हैं इसलिये जहां हम निर्वैर होते हैं वहां भी हमें वैरी समझ लिया जाता है।

क्रोध अग्नि के समान है जो अपने को और दूसरों को जलाता रहता है। और क्रोध-किट्ट तो तेजाब की तरह भयंकर और वंचक है। वह तरल होकर भी जलाता है। क्रोध का किट्ट हो या कालिमा, दोनों का त्याग करना चाहिये।

अगर कभी क्रोध का अवसर आ भी जाय तो भी क्रोध को रोक लो और जिस कारण से क्रोध आया है उसकी जाँच कर लो। जाँच करने पर फीसदी पचास घटनाएँ ऐसी मिलेंगी जिनमें तुम्हें अपना भ्रम मालूम हो जायगा, किसी बात को सुनकर या देखकर भी बिना विचारे क्रोध न करो, सारी घटना को अच्छी तरह समझ लो फिर क्रोध करने का पर्याप्त कारण भी होगा तो भी विचार करने पर क्रोध का आवेग कुछ धीमा पड़ जायगा।

क्रोध करने का पर्याप्त कारण मिलने पर आत्मौपम्य भाव से कुछ विचार करो इस तरह विचार करने से पचास में से चालीस घटनाएं तुम्हें क्रोध योग्य न मालूम होंगी। बाकी दस घटनाएं अगर क्रोध योग्य निकलेंगी भी तो तुम्हारी विचारकता के कारण क्रोध चिकित्सकता का रूप धारण कर लेगा। क्रोध को जीतने का मूल उपाय तो मोह और अभिमान पर विजय पाना है। उनके जीत लेने पर क्रोध को पैदा होने के भीतरी कारण ही नष्ट हो जाते हैं पर अगर उन पर पूरी या पर्याप्त विजय न मिल पाई हो तो भी क्रोध के निमित्त मिलने पर तब तक तो उसे रोकना ही चाहिये जबतक उस घटना को अच्छी तरह समझ न लिया जाय। इस विवेक से धीरे धीरे क्रोध किसी दिन निर्मूल हो जायगा। सिर्फ चिकित्सा के अनुकूल अरुचि का भाव रह जायगा।

निश्छलता

छल का भी स्वरूप पहिले कहा जा चुका है। छल एक तरह की निर्बलता का परिणाम है। जहाँ हम निर्बलतावश अपने मोह और अभिमान को सफल नहीं बना सकते, क्रोध का उपयोग नहीं कर सकते वहाँ छल का उपयोग करते हैं। छल के विषय में भी यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि जहाँ भक्षण और तक्षण के लिये कोई बात छिपाई जायगी वहीं छल-कषाय है किन्तु जहाँ विनिमय रक्षण वर्धन आदि के लिये कोई बात छिपाई जाती है वहां छल कषाय नहीं होती वहां चिकित्सा समझना चाहिये। यही कारण है कि कभी कभी तीर्थंकर पैगम्बर और अवतारों को भी सुवैद्य की तरह कोई बात छिपाना पड़ी है पर इससे वे छल-कषायी नहीं हो जाते।

कोई कोई बातें, जिन का दूसरों से कोई सम्बन्ध नहीं है उनका छिपाना भी छल नहीं है। मैंने एकान्त में पत्नी के साथ किस प्रकार प्रेम-प्रदर्शन किया आदि व्यक्तिगत जीवन में ही पूरी हो जानेवाली बातों को प्रगट न करना छल नहीं है। इन सब क्षम्य अपवादों के रहने पर भी जीवन में छल का उपयोग बहुत किया जाता है। जिससे हमें छल करते हैं उससे कुछ पाने की आशा हमें न रखना चाहिये। मनुष्य इस विषय में काफ़ी मूर्ख है। प्रायः हर एक आदमी यह सोचता है कि मैं तो दूसरों की चालबाजियां समझ जाता हूँ पर मेरी कोई नहीं समझ पाता। अगर हम इस मूर्खता का त्याग करदें तो आधे से अधिक छल तो हमें निरर्थकता के कारण त्याग देना पड़े। पहिले निरभिमानता के प्रकरण में कुटिल आत्म-प्रशंसा के उदाहरण दिये गये हैं, आत्मप्रशंसा के कारण वे अभिमान के प्रकरण में लाये गये और कुटिलता के कारण वे छल के प्रकरण में भी लाये जा सकते हैं। उन से मालूम होता है कि अधिकांश छल गुनाह बेलज़्ज़त हैं, बिना स्वाद के पाप हैं। लोग आज किसी बात को न समझेंगे परन्तु छल की सफलता के समय तो समझ जाँयगे कि तुम्हारा क्या विचार था। परिणाम यह होगा कि तुम्हारे निश्छल कार्य में भी लोग छल समझेंगे। इस प्रकार छल तो निरर्थक जायगा ही पर और पुण्य भी निरर्थक जायगा।

जिसके साथ तुम छल करते हो उसके साथ तुम्हारी कैसी भी घनिष्ठ मित्रता क्यों न हो, शिष्टाचार के द्वारा तुम कितना ही प्रेम प्रदर्शित करते रहो परन्तु छल तुम्हारे अद्वैत के टुकड़े टुकड़े कर देगा, तुम पास पास भले ही रहो पर जीवन-चर्या बदल जायगी। दो पहिलवान कुश्ती करते समय पास पास ही तो रहते हैं पर उन की नज़दीकी सिर्फ़ दाव पेंच अजमाने के लिये ही होती है। इसलिये दूर दूर देशों में बैठे हुए दो निश्छल मित्रों की अपेक्षा उन की दूरी असंख्य गुणी होती है।

छल से मनुष्य दूसरों का नुक़सान तो करता ही है किन्तु उससे अधिक वह अपना नुक़सान करता है। रोगी अगर वैद्य के सामने छल करे तो वैद्य को चिकित्सा करने में कठिनाई तो होगी ही इससे उसे कष्ट भी होगा पर उससे अधिक कष्ट रोगी को होगा। वह अपनी ही बीमारी बढ़ायगा और जीवन नष्ट करेगा।

एक विद्यार्थी पाठक से अपना अज्ञान छिपाता है, नकल करके पास हो जाता है, परिणाम यह होता है कि वही ज्ञान से वञ्चित रहता है, पढ़ने में कमजोर रहता है। आगे किसी न किसी परीक्षा में अड़कर रहजाता है। पाठक की इस में क्या हानि है, छली विद्यार्थी की ही हानि है।

एक साधक अपने गुरु या आचार्य से अपने मन के पाप छिपाता है, समझाने जाओ तो विनय-अविनय का विचार न करके अपने को निष्पाप सिद्ध करने के लिये गर्जन तर्जन और वाद-विवाद करता हैं, समझता है कि शब्दों का आवरण डाल देने से पाप छिप जायगा पर शब्दों से किसी का मुँह बन्द किया जा सकता है मन नहीं और मुँह बन्द कर देनेसे उसका ही नुक़सान होगा। क्योंकि वह आचार्य से जो कुछ पासकता था अब न पासकेगा। छल दिलों को तोड़ देगा, दिलों के मिलानेवाले समस्त शिष्टाचार व्यर्थ जायेंगे।

एक दूकानदार ग्राहकों को छलता है, एक दो बार सफल होगा बाद में वह अपनी परेशानी

बढ़ायगा दूसरों की भी बढ़ायगा। छल का लाभ निकल जायगा परेशानी की निष्फल तपस्या जीवनभर को चिपक जायगी।

झूठ चोरी व्यभिचार आदि नाना पापों का मूल छल है। इससे सर्वदा भय, लज्जा आदि दुःखात्मक भावों का अनुभव करना पड़ता है, अपमान घृणा अविश्वास आदि के पात्र बनकर अनेक भौतिक और आध्यात्मिक लाभों से वञ्चित रहना पड़ता है। वर्तमान के थोड़े से लाभ के पीछे भविष्य और निकट-भविष्य के बड़े से बड़े लाभ से हाथ धोना पड़ता है।

यहाँ यह न भूलजाना चाहिये कि गाम्भीर्य और छल में जमीन आसमान का अन्तर है। गाम्भीर्य सहिष्णुता का परिणाम है उससे रक्षण और वर्धन किया जाता है जब कि छल से भक्षण और तक्षण किया जाता है।

मनुष्य जितना अधिक अकषायी बनेगा भगवती की उतनी ही अधिक साधना करेगा इससे वह अकर्मण्य न बनेगा किन्तु उसके कर्म आत्म-शान्ति और जगत्कल्याण के लिये उपयोगी हो जावेंगे।

जीवन-साधना

भगवती की मनसाधना और लोकसाधना भी एक तरह की जीवनसाधना हैं क्योंकि जीवन में इनका भी समावेश होता है। फिर भी साधना के अनेक पहलू सरलता से दिखाये जा सकें इसलिये उसके तीन भाग कर दिये गये हैं। पर उन साधनाओं को एक दूसरे से अलग रखना असम्भव है। मनसाधना के बिना जीवनसाधना या लोकसाधना नहीं हो सकती और जीवन-साधना और लोकसाधना के बिना मनसाधना का न तो विवेचन ही किया जा सकता है न उसका परीक्षण ही, इनके बिना मनसाधना एक तरह की जड़ता ही हो जायगी। जड़ता का भगवती के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

जीवनसाधना का अर्थ यह है कि जीवन-कला का विचार करके जीवन को ऐसा अच्छा बनाया जाय कि वह पवित्र, सुखद, महान् और जगद्धितकारी बन सके। जीवन को मैंने एक कला कहा है, कला को लक्षण या चिह्नों के चौखटे में बिठलाना काफ़ी कठिन है उसे तो अनुभव से ही समझा जा सकता है। किसी सुन्दरी के सौन्दर्य का माप लगाने के लिये हम ढेरों उपमाएं दें और मापतौल के साथ उन्हें सजाकर रक्खें तो सुन्दरता दिखाई न देगी कुछ कुछ इसी प्रकार जीवन के विषय में भी कहा जा सकता है। चतुर चित्रकार जैसे दस पांच आड़ीटेढ़ी रेखाएं खींचकर भी अच्छा चित्र बना लेता है किन्तु अनाड़ी आदमी बोतलों से स्याही खर्च करके भी काग़ज़ या दीवार बिगाड़ने के सिवाय कुछ नहीं कर पाता इसी प्रकार जीवन भी है। जीवन की शक्ति बराबर रहने पर भी और उसका दिनरात उपयोग करने पर भी एक का जीवन स्वपर-कल्याण कारी बनता है जब कि दूसरे का जीवन स्वपर-अकल्याणकारी दुःखमय और असफल बनता है। इसी से जीवन एक कला है। यद्यपि कला के भी कुछ नियम रहते हैं और उससे कला को समझने में काफ़ी सुभीता होता है फिर भी कला के नमूने ही कला को पूरी तरह समझाते हैं यही बात 'जीवन के विषय में भी कही जा सकती है। जीवन के कुछ अच्छे बुरे नमूने देख लेने से पता लग जाता है कि कलामय जीवन कैसा होता है और उसकी साधना किस तरह करना चाहिये। यहां कुछ नमूना का उल्लेख किया जाता है।

१–राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महात्माओं के जीवन इस बात के प्रमाण हैं कि किस प्रकार का निःस्वार्थ और लोक हितकारी जीवन बिताने से मनुष्य स्वपर-कल्याण करके भगवती, अहिंसा की साधना करता है। अगर ये लोग अपने ऐहिक स्वार्थों के लिये जीवन खपा देते तो ये न तो महान् बन पाते न सुखी हो पाते, न जगत्कल्याण कर पाते।

२–म. राम का विरोधी रावण, म. महावीर का शिष्य जमालि, म. बुद्ध का शिष्य देवदत्त, पांडवों को छलनेवाला और श्रीकृष्ण को कैद करने की नियत रखने वाला दुर्योधन इत्यादि लोग इस बात के प्रमाण हैं कि भोग, यश, पद, वैभव आदि की लूट मचाने की इच्छा से अन्त में मनुष्य का जीवन नाना कष्ट सह कर भी बुरी तरह नष्ट हो जाता है।

ख़ैर, प्राचीन काल के इन बड़े बड़े आदमियों के उदाहरण छोड़िये पर हम दिन रात अपने और दूसरों के जीवन में जो कलाहीनता देखते हैं, मोह प्रमाद छल अहंकार आदि के कारण जो अपने जीवन को दुःखमय तथा दूसरों के जीवन को अशान्त बनाते हैं अपनी महत्ता का नाश करते हैं उससे जीवन-कला के विषय में हम कितने अनाड़ी हैं इस बात का पता लग जाता है।

१– एक श्रीमान् भाई थे, दिनरात समाज-सुधार की बातें किया करते थे, नरनारी समभाव पर बड़ी क़ानूनी बहस किया करते थे एक बार एक लाख रुपये के दान की घोषणा भी कर चुके थे, सामाजिक क्रान्ति के लिये लोगों को उभाड़ा करते थे, क्रान्तिके विरोधियों को गाली दिया करते थे पर अवसर आया तो उनने एक रिश्तेदार विधवा को कौड़ी-कौड़ी के लिये तरसाया, उसकी सम्पत्ति छीनली, सुधार का समय आया तो ऐसे छिपे कि लोग ढूँढ़ ढूँढ़ कर हैरान हो गये पर न मिले। दान के एक लाख रुपयों में से एक रुपया भी न निकाल सके। तब लोग उनके पास फटकते न थे। रास्ते में से जाते हुए मुझे उनने एक बार बुलाया, सिर्फ़ पांच मिनिट के लिये, पर मुझे इतनी हिम्मत न हुई कि उस धनी बुज़ुर्ग जीव को पाँच मिनिट का भी दान कर सकूँ। वह बीमार था इसलिये पैसे का कुछ भोग भी न कर पाया, पंडिताई की बातें करके और एक धनी होकर भी वह भिखारी बराबर भी इज्जत न कमा पाया, मोह छल और भय से उसने अपना जीवनचित्र बुरी तरह बिगाड़ लिया। इसकी अपेक्षा वह उतना ही बकता जिस पर वह दृढ़ रह सकता था, दान की झूठी घोषणा न करता, दिल में कमज़ोरी थी तो अपनी कमज़ोरी स्वीकार करके कहता कि यथाशक्ति ही कर सकूंगा तो चित्र न बिगड़ता।

२– एक बाई थी, बड़ी कर्मठ, पर उस में दो दोष थे एक तो यह कि किसी का थोड़ासा भी काम करके वह बार-बार सब से कहती थी, दूसरा यह कि अपने से ज्यादा सुखी व किसी को देख न सकती थी यहां तक कि कोई पति अपनी पत्नी से प्रेम करे, बीमारी में सेवा करे तो भी उसे बुरा लगता था, निन्दा करती थी इसके कारण खूब काम करने पर भी अन्तमें कटु-वचन और गालियाँ ही पाती, यहाँ तक दुर्दशा थी कि उसके माँ बाप भी उसे सह न सकते थे। बहुत कुछ करके भी वह किसी के लिये भली न बन पाई, न सुखी हो पाई। जीवन-कला का यह कैसा अज्ञान! बेचारी !!

३– एक भाई एक सेठजी के यहाँ मुनीम थे, काम में होश्यार थे, कोई ऐसी चोरी न करते थे जो सरकार में चोरी कही जासके, पर इस का कारण उन की ईमानदारी या संयम नहीं था, नौकरी छूटने का भय था। वास्तव में वे असंयम को जीत न सके थे। इसलिये अपने लिये कोई तरकारी लाते तो सेठजीके हिसाब में लिख देते, किसी चीज की जरूरत होती चुपचाप उठालाते, जब तलाश होती कि वह चीज कहाँ गई तो सुनकर भी चुप रहते, कभी जब पकड़े जाते तो कहते किसी तरह वह चीज मेरे घर चली गई होगी, आतिथ्य के लिये जो चीजें रहतीं वे अपने दोस्तों को खिला देते, सेठजी की अनुपस्थिति में जब कोई अपरिचित आदमी मिलने आता तो इस तरह परिचय देते जिससे वह समझे कि ये मुनीम नहीं मालिक हैं, इस प्रकार कभी कभी झूठे गौरव का अनुभव करलेते और महीने में रुपये आठ आने की बचत भी करलेते, पर इतने से क्षुद्र लाभ के लिये वे बड़ा परिश्रम करके भी मालिक की नजरों में तुच्छ और अविश्वसनीय बन बैठे। मालिकने उनकी वेतन-वृद्धि रोकदी, हरदिन कुछ खाने पीने की चीजें भेंट में मिलतीं थीं वे बन्द करदीं, दीवाली का इनाम बन्द कर दिया. पर वे सन्मान से कुछ पाने की आदत न डालसके, छिपाकर झूठ बोलकर लेने की आदत ही रही। इस तरह वे आने की जगह पैसा भी न पासके, इज्जत खोबैठे, एक दिन नौकरी से अलग भी कर दिये गये, इस प्रकार अपनी नादानी से अपना जीवन-चित्र बर्बाद कर बैठे।

४–एक भाई थे, जगत की सेवाके लिये सर्वस्व दे चुके थे अनेक कष्ट सहे थ, देवता की तरह पुजे भी, पर उनकी अनैतिकता अहंकार अविश्वसनीयता ने उन्हें कुछ अप्रिय बना दिया। चतुर कलाकार होते तो इस बिगड़ते जीवन चित्र को सुधार लेते पर न सुधार सके, आवेश में चित्र को बिगाड़ने लगे। पुराने पुण्य का पश्चात्ताप करने लगे, इस प्रकार जगत् के लिये भिखारी बन कर भी पतित बने, अपना जीवन बर्बाद किया पर जगत को भी लूटा। आप डूबे की दूसरों को भी डुबाया।

५–एक विधवा बाई थी, शिक्षित थी, सुंदर थी, पर यौवन का वेग न सँभाल सकती थी। एक सुधारक ने विवाह करने की सलाह दी, पर उस ने सुधारक को पचास गालियाँ सुनाईं। लेकिन कुछ महीने बाद व्यभिचार में पड़ गई, बिना विवाह के एक पुरुष के पास रहने लगी, लोगोंने फिर भी शादी करने की सलाह दी, फिर भी उसने गालियाँ दीं—कौन कहता है कि मैं अमुक की पत्नी बनगई हूं। लोग चुप रहे। कुछ दिन बाद गर्भ रहा, पुरुष का दिल ऊब गया, बन्धन कुछ था नहीं, उसे निकाल बाहर किया, अन्त में आमहत्या करके मर गई। ब्रह्मचर्य से रह सकती या विवाह कर लेती तो जीवन-चित्र न बिगड़ता।

६–एक नववधू थी, साससुर काफ़ी प्यार करते थे पर उसे दिनरात यह ख़याल रहता था कि मुझे सच मालिक तो समझते हैं? नौकर तो नहीं समझते। सास कर्मठ थी, घर के बहुत से काम करती, थोड़ा बहुत काम बहू को भी बता देती पर बहू तबतक उस काम में हाथ न लगाती जबतक सास आधा काम करने के लिये तैयार न हो जाती, सास को और काम पूरे करना पड़ते जो बहू के वश के नहीं थे, और बहू के

काम में भी आधा हिस्सा बटाना पड़ता, फिर भी बहू को यह भ्रम रहता कि मुझे नौकर समझा जाता है। अकर्मण्यता ही मालिकपन है यह उसकी परिभाषा थी। आखिर घरमें चैन से न रह सकी, न किसी को रख सकी, पति को भी उसने ऐसा ही सिखाया कि वह समझे कि मेरी पत्नी का घोर अपमान किया जाता है, वह समाचारों को ऐसा ही रंगती थी। पति भी कलाहीन था। आखिर बहू मा के घर चली गई पति को बुला लिया। साससुर अपनी स पत्ति कुछ दूसरों को देकर कुछ साथ लेकर सदाके लिये तीर्थयात्रा को चले गये। पीछे बहू को गरीबी, कलह अपमान आदि बहुत सहना पड़े, पर फिर साससुर न मिले, जीवन नरक हो गया, जीवन का ही नहीं कुटुम्ब का चित्र बिगड़ गया।

७–एक अनाथ बालक था एक सद्गृहस्थ ने उसे पाललिया था। वह बड़ा ही ईमानदार, बड़ा ही कर्मठ, बड़ा ही विनीत था जो काम कहदो वह अवश्य पूरा करे। बिना दिये एक कौड़ी भी न ले, थोड़ीसी भूल हो जाय तो बिना पूछे ही कहदे और पश्चात्ताप में आँसू बहाया करे, जो भी जरूरी काम हो उसके करने में शर्म नहीं। जब उन सद्गृहस्थ के यहाँ कोई अपरिचित व्यक्ति आये तो वह समझे वह इन का पुत्र है पर जब उससे पूछा जाय तो कहदे मैं तो अनाथ बालक हूं मालिकने मुझे दया करके पाला है। मालिक मालकिन से माँबाप की तरह प्रेम करता था, उन्हें राजारानीके समान समझकर डरता था, देवदेवी समान समझकर अपराध स्वीकार करता था और उन्हें मालिक समझकर दास के समान कोई भी सेवा करने को तैयार रहता था, विद्यार्थी की तरह हर एक बात सीखने को तैयार रहता था। फल यह हुआ कि उसे जरूरत से ज्यादा बिना ही मांगे मिलता था। दुर्भाग्यवश इन्फ्लुएंजा में उसके मालिक मालकिन का देहान्त हो गया वह किसी तरह बचगया। सामने चिन्ता थी कि अब वह कहाँ जाय? कैसे कमाये खाये? मालिक के रिश्तेदार लोग सम्पत्ति पर कब्जा करके उसे हटाना चाहते थे। इतने में एक वकील आया, उसने रिश्तेदारों को मृतदम्पति का वसीयतनामा बताया। सब सम्पत्ति उसी अनाथ बालक के नाम थी। कलाकार ने अपनी कला का भरपूर इनाम पाया था।

८–एक श्रीमान् दम्पति उतरती उम्र में अपने दो मुनीमों के भरोसे अपना सारा कारबार छोड़कर बदरिकाश्रम की यात्रा करने गये। दोनों मुनीम काम सँभालने लगे। कुछ दिन बाद एक आदमी सेठ की चिट्ठी लेकर आया। चिट्ठी क्या थी मरने के पहिले की कुछ आज्ञाएं थीं। पत्र हरिद्वार से लिखा गया था वहां की एक शिक्षण संस्था के नाम सारी जायदाद कर दी गई थी। यह भी हुक्म था कि दोनों मुनीम अगर ईमानदारी से काम करना चाहें तो स्थावर संपत्ति सँभालने के लिये काम करते रहें और आमदनी उस संस्था को देते जावें परन्तु जंगम जायदाद तो सबकी सब लेकर हरिद्वार की उस संस्था के कुलपति के सामने उपस्थित हों। एक मुनीम को मालिक की मृत्यु का शोक हुआ और वह मालिक की आज्ञा के अनुसार हरिद्वार ले जाने के लिये सम्पत्ति इकट्ठी करने लगा। दूसरे ने कहा—तुम कैसे मूर्ख हो, मालिक मर गया अब कौन अपना क्या कर सकता है? चलो अपन दोनों यह सम्पत्ति बाँट लें। पहिले मुनीम

ने विरोध किया पर दूसरा न माना। उसने मकान पर अपने नाम का पाटिया लगा दिया और भी सब कारबार हथयाने की कोशिश की पर कुछ दिन बाद उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मालिक और मालकिन अमावस्या की रात को घर में आये। पहिला मुनीम मालिक और मालकिन को देखकर प्रसन्नता से नाच उठा। जब कि दूसरा अपने मालिक को भूत समझकर घबराकर बेहोश हो गया। न्यायालय में उसको बेईमानी की सज़ा दिलाई जाय इसके पहिले ही वह उस रात के डर कर सदाके लिये पागल हो गया और एक दिन इसी तरह डर के आवेग में कुएँ में कूदकर मर गया। मालिक ने जो वसीयतनामा लिखा उसके अनुसार उनके मरने के बाद आधी सम्पत्ति हरिद्वार की संस्था को और आधी पहिले मुनीम को मिली। ईमानदारीसे एक का जीवन-चित्र चमक उठा और दूसरे का पुत गया।

९—एक वेश्या थी, उसके पास सौन्दर्य था, जवानी थी, वैभव था, बीसों युवकों को इशारे पर नचा चुकी थी। पर दिल को शान्ति न थी। वह दुनिया का शिकार करती थी, दुनिया उसका शिकार करती थी। उसने अपना धंधा छोड़ दिया और रास्तों में यात्रियों के लिये धर्मशालाएँ और कुँए बनवाने शुरू किये, वेश्यावृत्ति छोड़कर सादगी से जीवन बितानेवाली स्त्रियों को खानपान का प्रबन्ध किया। गरीबों को तो मदद करती ही थी पर मध्यम परिस्थिति के उन कुलीन कुटुम्बों को भी चुपचाप मदद करती थी जो माँग नहीं सकते थे। उसका नाम घर घर फैल गया। उसका जीवन जो डामर से रँगे हुए के समान काला था उस पर पक्के सफ़ेदा से ऐसा चित्र बन गया कि वह कालिमा उस चित्र का अंग बनकर शोभा बढ़ाने लगी।

इतिहास में भी अम्बपाली वेश्या का नाम प्रसिद्ध है जिसने महात्मा बुद्ध के चरणों में सब सम्पत्ति अर्पित करके अपने जीवन को सफल बनाया था और अमरता पाई थी।

१०—दो पड़ौसी थे। अगर स्वभाव के अनुसार उनका नया नामकरण किया जाय तो एक का नाम होगा रुदन्तजी आँसूवाल और दूसरे का हसन्तजी दिलखुश दोनों की आर्थिक और कौटुम्बिक परिस्थिति एक सी थी पर जब कोई रुदन्त भाई के पास आता तब वे अपना एक न एक दुखड़ा रोया करते, कभी बिक्री कम हुई कभी अमुक ने राम राम न की, कभी रोटी ठीक न बनी, कभी दस्त ठीक न हुआ, कभी हाथ पर फुंसी है, कभी धोबी अभी तक कपड़े न लाया, इस प्रकार छोटे बड़े दो चार दुःखों का पुराण पढ़ने बैठ जाते, चाहते आगन्तुक हमारे दुःखों को सुनकर सहानुभूति बतलाये, दया करे, प्रेम करे और फिर उनका यह पुराण तबतक बन्द न होता जबतक आनेवाला ज़रूरी काम का बहाना बताकर चला न जाय। आदमी नकली सहानुभूति में जल्दी थक जाता है और असली सहानुभूति इतनी अधिक नहीं होती कि इस प्रकार फालतू बहायी जाय इसलिये लोग उनसे किनारा काटने लगे। दुःख सुननेवाला न मिलने से उनका दुःख और बढ़गया।

हसन्तजी इनसे बिलकुल उल्टे थे। कहते दुनिया में सुखदुःख दोनों हैं और सभी को हैं, तब किस को अपना दुःख सुनाया जाय। हम से भी ज्यादा दुःखी लाखों पड़े हैं हम उनके लिये तो रोते नहीं अपने लिये क्यों रोयें? खुदा

की यही मर्ज़ी क्या कम है कि उसने हमें किसी न किसी से अच्छा बनाया।

मालिक ने एक एक से बढ़कर बना दिया।
सौ से बुरा तो एक से अच्छा बना दिया॥

वे रोते आदमी को हँसा ही न देते थे किंतु उसका दुःख बिलकुल भुला देते थे। उनके पास बैठने को आदमी लालायित रहते थे।

रुदन्तभाई को इससे ईर्ष्या होती, वे हसंत भाई को जादूगर समझते या बदमाश कहते, लोगों को मूर्ख उल्लू नासमझ आदि कहकर उनकी घृणा बढ़ाते। एक तो वे यों ही बहुत दुःखी थे पर पीछे से इस ईर्ष्या के सामान ने और दुःखी बना डाला। सामग्री एकसी थी पर एक भाई रुदन्त था और एक हसन्त था। पहिला मूढ़ था, दूसरा चतुर कलाकार था।

यह उदाहरण-माला और भी बढ़ाई जा सकती है, हर एक मनुष्य के जीवन में ऐसे अवसर मिलते हैं जब वह अपने जीवन को चतुर कलाकार के समान सजा सकता है या अनाड़ी बन कर नष्ट कर सकता है। सब से मुख्य बात यह है कि जीवन के मूल में ईमान रहना चाहिये ईमानदारी सब से बड़ी चतुरता है। हम दूसरों को कितना भी धोखा देने की कोशिश करें पर दुनिया की अपेक्षा हम ही अधिक धोखा खाँयँगे। कानून की पकड़ में हम भले ही न आवें पर दिल की पकड़ में तो आ ही जाते हैं। इसलिये दुनिया और कोई दंड भले ही न दे सके पर घृणा और निन्दा का दंड तो अवश्य दे सकती है जो कि अंत में हमारी अनेक सुविधाओं को छीन सकता है, सब कीर्ति को नष्ट कर सकता है।

कदाचित् आज का मनुष्य धोखे में आ भी जाय पर अन्त में काल सबकी परीक्षा कर लेता है। कभी कभी ऐसा होता है कि दुनिया भ्रम-वश पवित्र जीवन को अपवित्र समझ लेती है, पर अगर ईमानदारी है तो काल जीवन की पवित्रता प्रगट कर देगा और साथ ही मन में इतनी शान्ति, सन्तोष और गौरव रहेगा कि हम सब दुःख भूल जाँयँगे। इसलिये जीवनकला में ईमानदारी सब से पहिली चीज है।

दूसरी बात जनसेवा और परोपकार-वृत्ति है। अपना बोझ दूसरों पर कम से कम डालकर उन की जितनी सेवा की जासके उतनी करना चाहिये।

भगवती की जीवन-साधना इन दो बातों पर निर्भर है। यद्यपि जीवन-साधना के और भी अंग हैं जैसे जीवार्थ-समन्वय। इनका उल्लेख दृष्टि कांड में हो चुका है। मन-साधना का केन्द्र मन है, जीवन-साधना का केन्द्र मन,तन, वाणी तीनों हैं। मनसाधना और जीवन साधना, दोनों को एक शब्द में कहना चाहें तो इसे आत्मसाधना कहसकते हैं।

लोकसाधना

लोक-साधना का मतलब है जगत में भगवती अहिंसा का प्रसार करना अर्थात् दुराचारियों को सदाचारी बनाना, बेईमानों को ईमानदार बनाना, जो न बनसके उन से दूसरों को बचाये रखना अथवा उनके अत्याचारों और अन्यायों से जगत को सुरक्षित रखना। इस प्रकार लोक-जीवन की शुद्धि और न्याय का प्रचार भगवती की लोकसाधना है।

यह तो आवश्यक ही है कि जो भगवती की लोकसाधना करेगा वह आत्म-साधना कर लेगा। क्योंकि जो खुद बेईमान हो वह दूसरों को ईमानदार क्या बनायेगा? और दूसरे बेईमानों

से जगत की रक्षा कैसे करेगा उसके पहिले अपने से रक्षा करना जरूरी हो जायगा। इसलिये लोकसाधना के मूल में आत्मसाधना अर्थात् मनसाधना और जीवनसाधना आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त उसे तपस्वी होना भी जरूरी है, तपस्वी हुए बिना कोई लोकसाधना नहीं कर सकता है।

तपस्याओं का वर्णन करने के पहिले लोकसाधना के नाना रूपों पर प्रकाश डालना उचित है, इसलिये पहिले उन्हीं का वर्णन किया जाता है।

लोकसाधना दो तरह की होती है एक प्रबोधनी दूसरी संहारिणी। **प्रबोधनी** साधना में लोगों के दिल पर ऐसी छाप मारी जाती है जिस से उनका दिल बदल जाये और वे पाप से विरक्त हो जायें। मनुष्य को ऐसा बोध या शिक्षण दिया जाय जिससे उसके मन में बैठी हुई पशुता निकल जाय, कम हो जाय, यह प्रबोधनी लोकसाधना है। **संहारिणी** लोकसाधना में पापी को दण्ड देकर पाप-ताप से दुनिया की रक्षा की जाती है।

प्रबोधनी लोकसाधना के छः भेद हैं। १. आदर्श-दर्शनी, २. आग्रहिणी, ३. वैफल्य-दर्शनी, ४. प्रेमदर्शनी, ५. उपेक्षणी और ६. शिक्षणी।

१–आदर्शदर्शनी—अपना जीवन ऐसा निष्पाप बनाकर जगत के सामने रक्खा जाय कि उसे देखकर लोग धार्मिक जीवन की ओर आकर्षित होने लगें। अगर हमारे जीवन में न्यायप्रियता, सेवाप्रियता, समभाव आदि गुण हों तो इन्हें देख कर दूसरों में भी इन गुणों को अपनाने की लालसा होती है। पर एक बात यह भी है कि इन गुणों के साथ प्रसन्न रहना आवश्यक है। इन गुणों को अपनाने से सम्भव है गरीब ही रहना पड़े, सम्भवतः पूजा, यश, आदर, पद आदि न मिले, तो भी हमारा जीवन सुखी है -- सन्तुष्ट है तो हमारे जीवन को देखकर दूसरे लोग आकर्षित हो सकते हैं और हमारे पवित्र जीवन का अनुकरण कर सकते हैं। इससे भगवती की लोकसाधना हो सकती है। सदाचारी त्यागी मनुष्य का जीवन अगर दुःखी हो तो लोग उस पर दया तो कर सकते हैं पर अनुकरण नहीं कर सकते, ऐसी हालत में यह भगवती की लोकसाधना नहीं कही जा सकती। हां, अमुक अंश में आत्मसाधना कही जा सकती है।

सदाचारी और सुखी जीवन से किस प्रकार आदर्श-दर्शनी लोकसाधना होती है, इसका दृष्टांत **महर्षि सात्यकि** का जीवन है।

महर्षि सात्यकि विन्ध्याचल की तलहटी में एक आश्रम बनाकर रहते थे। पास में छोटी सी नदी थी, कुछ ज़मीन थी, कुछ गायें थीं—इसीसे उनकी और उनके विद्यार्थियों की गुजर होती थी। यद्यपि काफ़ी गरीबी थी, कभी कन्द खाकर रहने की भी नौबत आ जाती थी। फिर भी सब खूब प्रसन्नता से रहते थे। खूब मिहनत करना सबकी सेवा करना, विनय से रहना, इस प्रकार ज्ञानोपार्जन और संयमोपार्जन करते थे।

एक बार बनारस का राजा विक्रमदेव अपनी रानी और कुछ सेवकों के साथ वनक्रीड़ा करता हुआ वहां से निकला और महर्षि सात्यकि के आश्रम में ठहरा।

एक दिन ठहर कर ही राजा को समझ में आ गया कि आश्रमवासी बड़े गरीब हैं पर आश्चर्य यह है कि किसी के चेहरे पर दीनता नहीं है—याचना का भाव नहीं है—वे गरीबी

में भी पूर्ण हैं। एक बार राजा ने एक विद्यार्थी को कुछ मिठाई देना चाही पर उसने कहा—जो कुछ देना हो गुरुदेव या माताजी के पास भेज दीजिये मुझे आप से कुछ नहीं चाहिये। विद्यार्थी का यह आत्मगौरव से भरा हुआ उत्तर सुनकर राजा चकित हो गया। सोचने लगा—मैं भरा होकर भी अधूरा हूँ, ये खाली होकर भी पूरे हैं। मैं सुखी हूँ या ये ?

दूसरे दिन राजा चला गया। पर अगले पड़ाव पर पहुँचकर पता लगा कि रानी का हार आश्रम की नदी के किनारे रह गया है। हार बड़ा कीमती था। हलहल मचगई। ढूँढ़ने को किसे भेजा जाय ? जिसे भेजा जाय कदाचित् वही हार को छिपा ले, इसलिये राजारानी सहित सब लोग आश्रम लौटे। चुपचाप ढुँढाई शुरू हुई पर हार न मिला। अन्त में राजा ने महर्षि से कहा। महर्षि बोले–आपकी जो जो चीजें गुमीं हैं सब उस झोंपड़ी में रक्खीं हैं। जाकर देखा तो वहां हार था, सोने का एक आभूषण और था। एक दासी तांबूल भूल गई थी वह भी रक्खा था। एक का नारियल रह गया था वह भी वहां पर मिला। लवंग, इलायची, सुपारी के टुकड़े तक वहां मिले। आश्रम का ऐसा नियम था कि गुरुदेव या माताजी की आज्ञा के बिना वहां कोई भी किसी चीज का उपयोग न करता था। भूली हुई चीजें एक जगह इकट्ठी रख दी जातीं थीं। राजा ने सोचा मेरे एक नौकर का जितना खर्च है उतने ही खर्च में इस सारे आश्रम का काम चलता है, पर हम सब भूखे हैं लेकिन ये सब तृप्त हैं। अगर मेरे राजमहल में हार तो क्या एक कौड़ी भी गुमी होती तो क्या कभी पता लगता ? हम दुनिया को लूट कर भी तृष्णा की भूख से मरे जाते हैं जबकि ये भूखे रहने पर भी वितृष्ण हैं – तृप्त हैं।

राजा ने महर्षि की वंदना करके कहा—गुरुदेव, मैं राज्य नहीं चाहता आपकी शिष्यता चाहता हूँ, मुझे भी आश्रम में थोड़ी सी जगह दे दीजिये।

महर्षि ने कहा—तुम्हारे यहां आ जाने से तुम्हारी जगह किसी को राजा बनना ही पड़ेगा, तब तुम्हारी तरह वह भी तृष्णा की आग में जलेगा। इसकी अपेक्षा यह अच्छा है कि तुम राजा बने रहो और अपनी वितृष्णता से दूसरों को भी वितृष्ण बनाओ।

राजा के जीवन में जो परिवर्तन हुआ उस का असर राजकर्मचारियों पर ही नहीं सारी प्रजा पर पड़ा। लोग कहने लगे सतयुग आ गया है।

आदर्शदर्शिनी लोकसाधना ऐसी ही होती है !

२ **आग्रहिणी**—पाप अन्याय अत्याचार के मार्ग में इस प्रकार अड़जाना जिससे पापी को पाप करना कठिन हो जाय। अगर वह हमें मार कर पाप कर भी ले तो उसके अन्तस्तल में ऐसा दंश होता रहे कि वह पाप का मार्ग सदा के लिये छोड़ दे। इसे सत्याग्रह भी कहते हैं।

राजस्थान की एक ऐतिहासिक घटना है कि दो भाई, जो राजकुमार थे, थोड़ी सी बात को लेकर अहंकारवश लड़पड़े, घर के एक पुराने वृद्ध ब्राह्मण ने दोनों को रोका पर न माने। दोनों ने तलवारें निकाल लीं, लड़ाई को रोकने के लिये ब्राम्हण बीच में खड़ा हो गया. पर दोनों के हाथ छूट चुके थे, ब्राह्मण घायल होकर चल बसा पर अपने खून से दोनों के दिल साफ़ कर गया।

सत्याग्रही अपनी कुर्बानी से लोगों के दिल पिघला देता है और पाप कार्य में बाधा डालता है। सत्याग्रही के मनमें द्वेष न होनां चाहिये साथ ही यह भी देखना चाहिये कि जिसके साथ सत्याग्रह का उपयोग किया जा रहा है उसके हृदय में जाग्रत होने की योग्यता कितनी है ? जो तीव्र-स्वार्थी या अत्यन्त निष्ठुर या असंस्कृत हैं उनके सामने सत्याग्रह का कोई उपयोग नहीं।

३ वैफल्य-दर्शनी–अपनी दृढ़शान्ति और निर्भयता से दूसरे के दिलपर यह छाप मारी जाय कि वह अन्याय करके भी उसकी निष्फलता का अनुभव कर सके। जैसे किसी ने हमें एक तमाचा मारा और हमने दूसरा गाल आगे करके कहा-लीजिये एक तमाचा और मारिये।

मारने वाले ने तमाचा इसलिये मारा था कि पिटनेवाला डर जायगा झुक जायगा। पर जब वह देखता है कि तमाचे ने तो इसमें भय की अपेक्षा निर्भयता को ही जगाया है तब तमाचे की विफलता से वह हट जाता है। हो सकता है कि वह दोचार तमाचे और मारे पर पिटनेवाले में अगर दृढ़ता बनी रहेगी तो अन्त में वह अपनी विफलता समझ जायगा।

आग्रहिणी-साधना में एक अन्याय को विफल बनाने के लिये दूसरे अन्याय निर्भयता से सहे जाते हैं और मूल अन्याय को रोकने की कोशिश की जाती है। जैसी कि प्रह्लाद ने की थी। ईश्वर के नाम लेने का प्रतिबन्ध दूर करने के लिये प्रह्लाद ने सब कष्ट सहे पर पिता की अनुचित आज्ञा न मानी।

वैफल्य-दर्शनी में अन्याय की घटना को बंद नहीं किया जाता किन्तु उसे हो जाने देने पर भी निष्फल बनाया जाता है। जैसा कि म. ईसा उपदेश किया करते थे।

४ प्रेमदर्शनी–इसमें पापी के साथ ऐसी सहानुभूति दिखाई जाती है कि वह हमें अपना मित्र समझने लगे और हमारी सहानुभूति पाकर लज्जित हो जाय और पाप से विरक्त हो जाय।

एक विश्वप्रेमी महोदय रात में सोरहे थे इतने में चोर घुसा। इन्हें सोया जानकर घर का सामान लेकर उसकी पोटली बाँधी। [इनकी नींद खुल गई पर इनने कुछ कहा नहीं] पोटली इतनी बड़ी बँध गई थी कि चोर उसे उठाकर अपने सिर पर नहीं रख सकता था। चोर की यह परेशानी जानकर वे खुद उठे और चोर के सिर पर पोटली रखवाने लगे। चोर घबराया पर इनने कहा घबराओ मत, मैं समझता हूं मेरी अपेक्षा तुम्हें इसकी ज़रूरत अधिक है इसलिये तुम लेजाओ, इस सहानुभूति और प्रेम को पाकर चोर के दिल का पाप भाग गया वह पैरों पर गिर पड़ा, क्षमा मांगी और सदाके लिये चोरी छोड़ दी।

मनुष्य प्रेम का भूखा है। स्वार्थवश या जीवन की आवश्यकतावश कभी उसे नीति का भंग करना पड़ता है पर इतना तो वह चाहता ही है कि मैं उन्हें न सताऊं जो मुझसे प्रेम करते हों, और जब अपरिचित आदमी उसके पाप को भूलकर उससे प्रेम करने लगता है तब वह समझने लगता है कि जगत् में मुझ सरीखे पापी से भी प्रेम करनेवाले हैं और मैं ऐसे प्रेमियों को सताता हूं यह कितना बड़ा अन्याय है !

प्राणी बल और धनकी उपेक्षा जितनी जल्दी कर सकता है उतनी जल्दी प्रेम की

उपेक्षा नहीं कर सकता। प्रेमदर्शनी लोक-साधना का मूल इसी में है।

५ **उपेक्षणी**--साधना में पापी पर ऐसी लापर्वाही बताई जाती है कि वह पाप की निष्फलता समझ सके। बहुत से लोग ऐसे होते हैं कि अगर उनसे डरो या लड़ो तो उनका पाप और भी बढ़ता है यहां तक कि उनकी तरफ़ किसी भी तरह का ध्यान दो तो वे अपने पाप की सफलता समझकर उसी मार्ग में और बढ़ते हैं उनके विषय में उपेक्षणी लोक साधना का प्रयोग करना उचित है।

म. महावीर के जीवन में और उनके सच्चे अनुयायी साधुओं के जीवन में इस लोक-साधना के विशेष दर्शन होते हैं।

६ **शिक्षणी**--लोक साधना में जगत को या पापी को पाप का दुष्फल समझाया जाता है। भगवती की सेवा में ही विश्व का और तेरा हित है इस तरह का उपदेश इस तरह से उसे दिया जाता है कि वह पाप अन्याय आदि से विरक्त हो जाता है। जो लोग पाप के विरोध के लिये असरकारक साहित्य--निर्माण करते हैं उपदेश आदि देते हैं वे शिक्षणी लोक साधना करते हैं। पर इस साधना के लिये यह आवश्यक है कि जो कुछ कहा जाय, अपना जीवन उसके अनुरूप हो। आचरणहीन उपदेशों का या लेखनों का कोई मूल्य नहीं। वह तो फोनोग्राफ की तरह बजना है।

७ **संहारिणी**--अन्याय या पाप को दूर करने के लिये अन्यायी या पापी को दंड देना संहारिणी लोक साधना है। जैसा कि म. राम ने रावण को दिया था।

प्रबोधनी लोक-साधना साधारणतः प्राणी को संयम की ओर झुकाती है जब कि संहारिणी पापक्रिया को जबर्दस्ती रोकती है। इस साधना का उपयोग तभी करना चाहिये जब पाप दूर करने का कोई और मार्ग न रह जाय या दूसरे मार्ग से पर्याप्त सफलता मिलने की आशा न हो।

भगवती की इन सातों साधनाओं के विषय में दो बातों का खयाल रखना चाहिये। पहिली बात तो यह है कि साधनाएँ वहाँ निष्फल हो जाती हैं जहाँ साधक पात्रापात्र का विवेक भूल जाता है। प्रबोधिनी की जगह संहारिणी और संहारिणी की जगह प्रबोधिनी का उपयोग करने से साधना निष्फल जायगी और कभी कभी दुष्फल हो जायगी।

दूसरी बात यह है कि लोक--साधना कोई भी हो उसके मूल में वीरता होना आवश्यक है। खास कर प्रबोधिनी में इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये। अगर हम अपनी कष्टसहिष्णुता से अन्यायी को पाप से रोक भी दें पर उसके मनमें पश्चात्ताप पैदा न हो सिर्फ दया पैदा हो तो प्रबोधिनी लोकसाधना को सफल नहीं कह सकते।

मानलो 'क' राष्ट्र के ऊपर 'ख' राष्ट्र का शासन चलता है, 'क' राष्ट्र स्वशासन चाहता है इसलिये वह आग्रहिणी लोकसाधना के द्वारा 'ख' राष्ट्र को पाप से दूर हटाना चाहता है। 'क' राष्ट्र के अडंगों से कुछ परेशान होकर और कुछ दया से प्रेरित होकर 'ख' राष्ट्र 'क' राष्ट्र को कुछ अधिकार दे देता है उसे अपने अन्याय का पश्चात्ताप नहीं होता, तो यह प्रबोधिनी लोक-साधना न हुई। क्योंकि 'ख' राष्ट्र को इससे कुछ प्रबोध तो मिला ही नहीं उसने अपनी भूल तो समझी ही नहीं।

प्रबोधिनी लोकसाधना में तीन बातें जरूरी हैं। १. हिंसक को अपने अन्याय का ज्ञान हो जाय, २. उसे अन्याय का पश्चात्ताप हो, ३. कर्तव्य समझ कर पाप से दूर हो– किसी पर दया करके नहीं।

बालक का हठ देखकर माँ-बाप झुक जाते हैं। अगर बालक को मार दिया होता है तो उन्हें पश्चात्ताप भी होने लगता है, पर उन्हें बालक का पक्ष न्याययुक्त नहीं मालूम होता, उन्हें मोहवश दया आ जाती है––यह बालक की साधना नहीं है। बालक में मूढ़ता और स्वार्थ है– मां-बाप में मोह है।

जो प्रबोधिनी-साधना का साधक है उसमें दयनीयता नहीं आना चाहिये-- चिकित्सकता रहना चाहिये।

लोकसाधकों का रूप–भगवती की लोकसाधना करने वाले लोकसाधक नाना तरह के होते हैं। अपनी अपनी योग्यता, रुचि और समझके अनुसार वे साधना का क्षेत्र चुन लेते हैं, एक साधना के साधक में दूसरी साधना के अंश न हों यह बात नहीं है पर जिसकी मुख्यता होती है, उसी में उसकी प्रसिद्धि हो जाती है। लेकिन किसी एक लोक-साधना से जगत का काम नहीं चल सकता, कहीं संहारिणी की आवश्यकता है कहीं प्रबोधिनी की। जो उचित-स्थानों पर उचित लोकसाधना का उपयोग कर सकते हैं उनका साधक जीवन सभी के लिये आदर्श हो सकता है। मनुष्य को चाहिये कि वह प्रबोधिनी और संहारिणी दोनों लोकसाधनाओं का योग्यरूप में साधक हो। जैसे कि म. राम, म. कृष्ण, और म. मुहम्मद के जीवन थे।

प्रबोधिनी–लोकसाधना के बिना किसी भी साधक का काम नहीं चल सकता इसलिये हर एक के जीवन में यह काफी मात्रा में रहती है पर बहुत से साधक अपने जीवन में सिर्फ प्रबोधिनी लोकसाधना ही करते हैं, क्योंकि उनका कार्यक्षेत्र इसी के अनुकूल होता है। जैसे म. महावीर, म. बुद्ध, म. ईसा आदि के जीवन में प्रबोधिनी लोकसाधना ही पाई जाती है। अगर ये लोग संहारिणी लोकसाधना को अपनाते तो ये अपने कार्यक्षेत्र में असफल रहते।

पर बहुत से साधक एक बड़ी भारी गलती कर जाते हैं वे स्वयं जिस साधना में निष्णात होते हैं वही साधना सब के हाथ में देना चाहते हैं फल यह होता है कि वह साधना विफल हो जाती है, क्योंकि सभी की बराबर योग्यता नहीं होती। एक आदमी आग्रहिणी, वैफल्यदर्शनी प्रेमदर्शनी लोकसाधना में निष्णात हो सकता है पर इसीलिये सभी को वह इस लोकसाधना के लिये प्रेरित करे तो साधना निष्फल जायगी। उसके गालपर कोई तमाचा मारे और वह दूसरे गालपर तमाचा खाने के लिये तैयार हो जाय तो कोई बुराई नहीं। पर समाज के लिये इसी नीति से काम ले, न्यायाधीश बनकर वह इस साधना के नाम पर अपराधियों को छोड़ दे तो वह साधना के नामपर ऐसी असाधना करेगा कि हिंसा का विस्फोट होने लगेगा।

इस विषयमें सबसे अच्छी बात यह है कि अपने विषय में अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार चुनाव कर ले परन्तु जनता को सब साधनाओं के समन्वयरूप साधना का उपदेश दे क्योंकि जनता में सब तरह के लोग रहते हैं। जैसे म. महावीर तो आदर्शदर्शनी और

उपेक्षिणी लोकसाधना के साधक थे पर साधारण जनता के पालन के लिये उनने सब तरह की साधनाओं के विधान बनाये थे और कथाओं द्वारा उनका स्पष्टीकरण किया था। यही हाल म. बुद्ध का भी था। म. मुहम्मद, म. कृष्ण, म. राम ने तो अपने जीवन को ही प्रबोधिनी और संहारिणी लोकसाधना की प्रयोगशाला बनाया था।

कुछ सूचनाएँ—

व्यक्ति को और जनता को किस परिस्थिति में किस लोकसाधना का उपयोग करना चाहिये इसकी कुछ सूचनाएँ यहाँ दी जातीं हैं।

१–आदर्शदर्शनी लोकसाधना, क्या व्यक्ति को क्या जनता को, सब को उपयोगी है और प्रायः हर हालत में उपयोगी है। हां, इतना ध्यान में रखना चाहिये कि यह हर हालत में काफ़ी नहीं है। इसके सिवाय अन्य साधनाओं की भी ज़रूरत पड़ती हैं।

२–आग्रहिणी, वैफल्यदर्शिनी, प्रेमदर्शिनी, उपेक्षणी साधना प्रायः अपने व्यक्तिगत जीवन तक ही रखना चाहिये या अपने समान साधकों का संघ बनाना हो तो उन तक रखना चाहिये। पात्रापात्र का विचार किये बिना जन-साधारण को इसका साधक न बनाना चाहिये।

३–शिक्षणी-साधना का उपयोग अवसर देखकर प्रायः सब जगह किया जा सकता है। पर इसे पर्याप्त नहीं कह सकते। बहुत स्थानों पर इसकी सफलता के लिये संहारिणी, अथवा आदर्श-दर्शनी आदि एक या अनेक प्रबोधिनी लोक-साधनाओं की ज़रूरत पड़ती है। अर्थात् न्याय की बात समझाने पर अगर अन्यायी को न जँचे तो अपना जीवन आदर्श बनाकर उसे प्रभावित करना चाहिये इतने पर भी असर न पड़े तो आग्रहिणी या संहारिणी का उपयोग करना चाहिये।

४--कुटुम्ब या कुटुम्ब के समान संस्था में सर्वोत्तम साधना है आदर्शदर्शनी, दूसरे नम्बर शिक्षणी, तीसरे नम्बर अन्य प्रबोधिनी साधनाएँ, चौथे नम्बर संहारिणी।

५– चोर डाकू व्यभिचारी वञ्चक, ताड़क आदि नैतिक अपराधियों के विषय में पहिले संहारिणी है, क्योंकि अगर उन्हें दंड न दिया जायगा तो जिनका उनने अपराध किया है उनके मन में सन्तोष न होगा, उनके जीवन में प्रतिक्रिया होगी, दूसरों का आवश्यक भय कम होने से पापोत्तेजना फैलेगी इसलिये उन्हें दंड देना आवश्यक है जोकि संहारिणी लोकसाधना है। पर साथ में शिक्षणी लोकसाधना भी होना चाहिये। सामूहिक दृष्टि से इनके विषय में ही दो साधनाएँ उपयोगी हैं। पर हाँ, व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार आदर्शदर्शनी प्रेमदर्शनी और उपेक्षणी का भी उपयोग कर सकता है पर आग्रहिणी और वैफल्यदर्शनी का उपयोग प्रायः ठीक नहीं। क्योंकि इन दोनों साधनाओं से ये साधक को दयनीय समझने लगते हैं। जहाँ दयनीयता आई कि साधकता निष्फल हुई।

६–जब एक ही देश, प्रांत, नगर, मुहल्ला आदि में दो दल आपसमें लड़ते हों लड़ने का ध्येय भक्षण नहीं तक्षण हो, किसी अज्ञानता के कारण उनमें शत्रुता की कल्पना आ गई हो, अहंकार जग पड़ा हो तब वहां आदर्शदर्शनी के साथ शिक्षणी लोकसाधना विशेष उपयोगी है। अपने को निष्पक्ष बनाकर उन्हें समझाओ बुझाओ, यही सर्वोत्तम उपाय है। इतने पर भी काम न चले तो स्वयं या अपने समान ऐसे लोग चुनो जा

काफी सहिष्णु और दूरदर्शी हों उनके साथ या अकेले आग्रहिणी, वैफल्यदर्शनी, प्रेमदर्शनी साधना का उपयोग करो। ऐसे मौके पर उपेक्षिणी साधना भी बहुत काम दे जाती है। क्योंकि इससे दूसरों का अभिमान जगना कम हो जाता है। पर यहां जहां तक हो सके संहारिणी साधना का उपयोग न करना चाहिये। आत्मरक्षा के लिये संहारिणी साधना अनिवार्य हो उठे तभी उसका प्रयोग करना चाहिये सो भी उतनी ही, जितनी अनिवार्य हो।

७—जहां कुछ स्वार्थी लोग स्वार्थ के लिये विद्रोह करते हों, जानबूझकर लूटने के लिये या यश पद अधिकारके लिये नैतिकता का नाश करते हों तो उनके विषय में साधारणतः शिक्षणी का उपयोग करके संहारिणी का ही उपयोग करना चाहिये क्योंकि अन्य साधनाओं का इनके ऊपर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। हां, अगर ये ऊपर के छठे भेद में इस तरह मिल गये हों कि इन को उनसे अलग न किया जा सकता हो तो जबतक छठी श्रेणी से इन लोगों में भेद न हो जावे तबतक छठी के समान ही इनके साथ व्यवहार करना चाहिये। जैसे कुछ धूर्त नेताओं ने एक जगह की जनता को अहंकार की शराब पिलाकर अपनी मुट्ठी में कर लिया, इनके संहार को जनता अपना संहार समझने लगी तो वहां जनता के और इनके साथ तबतक एकसा व्यवहार करना पड़ेगा जबतक जनता से ये अलग न समझे जाने लगें। हां, इनको अलग करने के लिये जनता को भिन्नता का शिक्षण दिया जा सकता है जिससे इनकी धूर्तता का जनता को पता लग जाये।

८ जहां एक देश या एक जाति दूसरे देश या उसकी जाति पर शासित जाति की अनिच्छा होने पर भी शासन कर रही हो अथवा आक्रमण कर रही हो तो वहां साधारण शिक्षणी का उपयोग करके संहारिणी का उपयोग करना चाहिये। अन्य साधनाओं का वहां कुछ उपयोग नहीं।

प्रश्न—संहारिणी साधना के लिये जिस शक्ति की जरूरत है वह शक्ति अगर किसी में न हो तो क्या आग्रहिणी आदि साधनाएँ न करे।

उत्तर—निर्बलता के कारण जहां प्रबोधिनी साधनाओं का उपयोग किया जायगा वहां न तो साधक में वह हृदयशुद्धि होगी जो इन साधनाओं के लिये जरूरी है न अन्यायी में पश्चात्ताप का भाव आयगा, बड़ी मुश्किल से उसमें दया का भाव आसकता है पर दयनीयता से साधकता निष्फल होती है।

प्रश्न—आग्रहिणी आदि साधनाएँ ऐसे अवसर पर निष्फल भले ही हों पर उनके प्रयोग से साथियों में एक तरह की स्फूर्ति पैदा होती है संगठन और शक्ति आती है इसलिये उसे सर्वथा निष्फल नहीं कह सकते।

उत्तर—इनकी उपयोगिता तो है पर वह प्रबोधिनी साधना के रूप में नहीं है. वह है संहारिणी के रूप में। क्योंकि संहारिणी साधना की योग्यता पाने के लिये इसका उपयोग किया जाता है। अगर संहारिणी की योग्यता न आवे या उसका उपयोग न किया जा सके तो निष्फल है ही।

प्रश्न—संहार से संहार शान्त नहीं होता वह प्रेम या प्रबोधिनी साधना से शान्त होता है।

इसलिये प्रबोधिनी साधना को ही हम अपना ध्येय क्यों न बनावें ? संहारिणी का त्याग करदें।

उत्तर—प्रबोधनी-साधना ही हमारा ध्येय है। हमें उस युग को लाने की पूरी कोशिश करना चाहिये जिसमें संहार की जरूरत ही न हो। पर संहार की जरूरत रहने पर भी संहार को दूर हटा दिया जाय तो यह साधना न होगी अंधेर होगा। हमारी कोशिश निरपराधी बनने और बनाने की होना चाहिये, अपराधियों को दंडमुक्त रखने की नहीं। इससे अन्धेर फैलेगा पापियों को निरंकुशता मिलेगी। हां, जहां प्रबोधनी का उपयोग है वहां हां उसीका प्रयोग करना चाहिये। जहां तक बने संहारिणी से बचते रहें।

मनुष्य समाज में पशुता बिलकुल नष्ट हो जाय इसके लिये जन्मसे ही उसपर सुसंस्कार डालना, अपना जीवन आदर्श रखना, शिक्षण देना आदि साधनाएं करना चाहिये, यथावसर प्रेमदर्शनी आदि का भी उपयोग करना चाहिये। ऐसी भावना रखना चाहिये ऐसा प्रयत्न भी करना चाहिये कि कोई ऐसा व्यक्ति न रह जाय जिसके लिये संहार की जरूरत हो।

भगवती की लोकसाधना का मार्ग ऐसा कठिन है कि कितनी ही सूचनाएं दी जाँयँ समस्या बनी ही रहेगी। हां, जिसने सत्येश्वर का दर्शन पालिया है जो सदसद्विवेक के साथ विश्व-हित के मार्ग पर चल रहा है वह साधक सरलता से सफल बन सकता है।

बहुत से लोग केवल भावना के वश में होकर अपने अभ्यास या संस्कारों के अनुसार सत्यकी उपेक्षा करके साधना में जीवन लगा देते हैं वे त्याग से महान बन कर भी साधक नहीं बन पाते। इसलिये भगवती के साधक को निष्पक्ष होकर सत्येश्वर की सेवा करना चाहिये और जिस तरफ सत्येश्वर का इशारा हो उसी तरफ बढ़कर साधना सफल बनाना चाहिये।

आचार कांड [तीसरा अध्याय]

[भगवती के अंग]

जगत के सारे व्रतनियम यम धर्म आदि भगवती अहिंसा के अंग हैं इसी प्रकार सारे पाप अधर्म कुकार्य आदि पापिनी हिंसाके कार्य हैं। झूठ बोलना, चोरी करना, अपमान करना, मारना पीटना, वध करना आदि सभी हिंसाकार्य हैं। जिसने भगवती की आत्मसाधना करली है वह पापों के भेद-प्रभेद समझे बिना निष्पाप जीवन बिता सकेगा परन्तु निष्पापता को व्यावहारिक बनाने के लिये संयम और पाप के भेद-प्रभेद जानलेना जरूरी है। हिंसा पापिनी के भेदप्रभेद जानलेने से भगवती अहिंसा के भेदप्रभेद समझे जासकते है इसलिये पहिले हिंसा के या पाप के भेद बता दिये जाते हैं उसी के आधार से अहिंसा या संयम के भेद समझ लिये जाँयगे।

हिंसा पापिनी की दो श्रेणियाँ हैं पाप और अनुपाप। ये श्रेणियाँ मन के विकार की दृष्टि से नहीं किन्तु उस के व्यावहारिक रूप की दृष्टि से हैं। हो सकता है कि अनुपाप पाप से बढ़जाय। परन्तु जिन पापों की पापता सरलता से समझ में आजाती है, सभ्यसमाज के नियमों का भंग भी मालूम होता है, उन्हें पाप कहते हैं पर जो अपने या दूसरों के दुःख का कारण तो हैं सामाजिक नियमों के ध्येय के नाशक भी हैं पर व्यक्तिगत अधिकार के भीतर हैं वे अनुपाप हैं, जैसे परिग्रह या पूँजीवाद। यह सामाजिक अर्थव्यवस्था के ध्येय को नष्ट करता है पर बाहर से सामाजिक नियम या कानून का भंग नहीं करता इसलिये यह अनुपाप है। इसी प्रकार जिह्वालोलुप होना या अन्य इन्द्रियों का गुलाम होना भी अनुपाप है।

हिंसा के भेद– पाप या हिंसा के मूल भेद तीन हैं। १ प्राणघात, २ अर्थघात, ३ विश्वासघात। इन तीनों पापों से घात होता है इसलिये ये सब हिंसा पापिनी के भेद हैं। अर्थघात को चोरी कहते हैं, विश्वासघात को झूठ कहते हैं। विश्वासघात अर्थघात में कारण है फिर भी उस का स्वतन्त्र स्थान है। अर्थघात एक तरह का विश्वासघात है और अमुक अंश में प्राणघात भी है फिर भी जीवन में उसका स्थान इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसे अलग बताने की जरूरत है।

अनुपाप या उपपाप के चार भेद हैं।

१ दुर्भोग २ दुरर्जन, ३ अतिग्रह ४ अतिभोग।

कभी कभी इनका दुष्फल पाप से भी बढ़जाता है फिर भी इन्हें अनुपाप या उपपाप कहते हैं क्योंकि इन में सामाजिक नियम के अनुसार मिले हुए व्यक्तिगत अधिकार का उल्लंघन नहीं होता। व्यवहार में भी ऐसे लोगों को पापी नहीं कहते।

दुर्भोग का मतलब है अनुचित वस्तुओं का भोग करना जैसे शराब पीना आदि। दुरर्जन का मतलब अनुचित तरीके से धनोपार्जन करना, जैसे सट्टे से जुआ से व्यभिचार से पैसे कमाना। अतिग्रह का मतलब है सम्पत्ति का अधिक संग्रह करना। अतिभोग का अर्थ है मर्यादा से अधिक विषय सेवन करना, ऐयाश हो जाना, इन्द्रियों के गुलाम हो जाना।

साधारण वेश्यासेवन दुर्भोग है, विवाहित आदमी अगर वेश्यासेवन करता है तो दुर्भोग के साथ विश्वासघात और अर्थघात भी है, इसलिये काफी बड़ा पाप है, अगर बलात्कार करता है तो दुर्भोग अर्थघात विश्वासघात और प्राणघात, इस प्रकार अनेक पाप मिले होने से पैशाचिक महापाप है। इन सब बातों का साफ़ साफ़ वर्णन आगे किया जायगा।

जैसे पापिनी-हिंसा के ये सात अंग बताये गये हैं, उसी तरह भगवती अहिंसा के भी सात अंग होंगे। तीन संयम और चार असंयम।

संयम--- तीन संयम ये हैं--- १. प्राण-रक्षण अर्थात् अघातव्रत २. ईमान अर्थात् अचौर्यव्रत, ३. विश्वासरक्षण या सत्यव्रत।

उपसंयम– चार उपसंयम– १. सद्भोग, २. सदर्जन, ३. निरतिग्रह और ४. निरतिभोग।

उपसंयम संयम का पूरक है, उपपाप पाप का पूरक है, इसलिये इनका घनिष्ट संबंध भी है बल्कि उपसंयम संयम में, उपपाप पाप में शामिल भी किया जा सकता है। जैसे दुर्भोग में प्राणघात की मुख्यता है, दुरर्जन में अर्थघात की मुख्यता है, अतिग्रह, अतिभोग में भी अर्थघात की मुख्यता है। इसीप्रकार सद्भोग में प्राणरक्षण की, सदर्जन आदि में ईमान की मुख्यता है।

प्राणघात

प्राणघात का अर्थ है शरीर इन्द्रिय और मन को चोट पहुँचाना, बन्धन में डालना या अतिश्रम लेना। जैसे मारना पीटना (शरीर), बधिर कर देना अन्धा कर देना (इन्द्रिय), निंदा करना अपमान करना तिरस्कार करना (मन)। इसी प्रकार कैद करना, बाँधकर रखना, बोलने न देना, पागल कर देना, बहुत बोझ लादना, बहुत समय तक काम लेना यह सब भी प्राणघात है। मार डालना, खा जाना आदि प्राणघात तो प्रगट ही हैं।

प्रश्न—कभी कभी पापी को दण्ड देना, कैद करना, निंदा, अपमान, तिरस्कार करना, बेजिम्मेदार आदमी को, मूढ़ आदमी को बोलने न देना या अवसर ठीक न होने से बोलने न देना, आततायी को मार डालना, समाजरक्षण या न्यायरक्षण अर्थात् विश्व-सुख-वर्धन के लिये आवश्यक हो जाता है तो यह सब प्राणघात क्या पाप हैं? अगर यह पाप है तो निष्पाप रहकर विश्व-सुखवर्धन हो ही नहीं सकता।

उत्तर–जो घात विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से किया जाता है उसमें घातक की जिम्मेदारी इतनी नहीं रहती कि उसे पापी कह सकें।

बल्कि वह विश्वसुख-वर्धन न्यायरक्षण आदि के लिये होने के कारण संहारिणी-लोकसाधना है।

घात करने से ही किसी को पापी न कहना चाहिये। यह देखना चाहिये कि उसकी जिम्मेदारी घात्य (जिसका घात हुआ) पर है या घातक (जिसने घात किया) पर है। अगर सारी जिम्मेदारी घात्यपर हो तो घातक निर्दोष हो सकता है। हो सकता है इसलिये कि घातक का मनोभाव अगर विश्वसुख-वर्धन के अनुकूल है उसमें चिकित्सक वृत्ति है तो घातक निर्दोष है अन्यथा जितने अंश में उसमें कषाय है उतने अंश में वह दोषी है ही। हां, व्यवहार में उसे ही दोषी कहेंगे जिसके ऊपर घात की जिम्मेदारी है। रावण मरकर भी दोषी रहा, म. राम मारकर भी निर्दोष रहे। क्योंकि इसमें जिम्मेदारी रावण की थी। म. रामने रावण से द्वेष नहीं किया था सिर्फ उसके पाप से द्वेष किया था इसलिये वे पूर्ण निर्दोष रहे। प्राण-घात के भेद-प्रभेदों का समझ लेने से प्राणघात का अच्छा-बुरापन समझ में आ जायगा।

प्राणघात के भेद–प्राणघात तीन तरह का होता है १ जीवनघात, २ तनघात, ३ मनघात

जीवनघात– जीवनघात उसे कहते हैं जिस में सब प्राणों का घात कर दिया जाता है, जीवन नष्ट हो जाता है, अर्थात् मौत जीवन-घात है। किसी प्राणी को मार डालना जीवन-घात करना है।

प्राण– जिनके सहारे जीवन धारण किया जाय उन्हें प्राण कहते हैं।

प्राणभेद–प्राण चार हैं १ मन २ इन्द्रिय ३ बल, ४ आहार।

मन--सुखदुःख अनुभव, प्रेम, द्वेष, भय, चिन्ता उत्साह आदि वृत्तिवाला मन है।

इन्द्रिय– पदार्थ के गुण को प्रत्यक्ष करने वाले ज्ञान-द्वार को इन्द्रिय कहते हैं। इंद्रियां पांच हैं, स्पर्शन--ठंडा गर्म आदि का ज्ञान करनेवाली इन्द्रिय, जीभ--खट्टा मीठा आदि स्वाद का ज्ञान करनेवाली इंद्रिय, घ्राण—सुगंध दुर्गंध का ज्ञान करनेवाली इन्द्रिय, आंख--रंग और आकार को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय, कान—शब्द को ग्रहण करनेवाली इंद्रिय। इन्द्रियों की शक्ति कम होना भी जीवन का कम होना है।

बल– किसी भी साधन का उपयोग करने में जो अंतिम सहायक है वह बल है। इसके द्वारा परिवर्तन कर सकते हैं और परिवर्तन को रोक सकते हैं।

आहार-- शरीर के लिये खुराक लेना आहार है। प्रतिसमय प्राणी कुछ न कुछ खुराक लेता ही रहता है। हवा पानी तथा और भी अनेक तरह का भोजन प्रतिसमय प्राणी को लेना पड़ता है। सब से अधिक जरूरी आहार हवा का है इसलिये आहार प्राण में स्वासोच्छ्वास की मुख्यता है। आहार का अर्थ मुँह से ग्रहण करना नहीं है मुँह से ग्रहण करना तो अमुक समय के लिये रुक भी जाता है मुँह तो सिर्फ वह द्वार है जहाँ से वस्तु ग्रहण करने के स्थान तक पहुँचती है। पेट में पहुँचने पर पच पच कर जो हिस्सा शरीर में मिलता जाता है वही आहार है। इस प्रकार कोई न कोई वस्तु प्रतिसमय शरीर में मिलती रहती है वही आहार है। जब यह क्रिया बन्द हो जाती है तब मौत हो जाती है। या जितने अंश में कम होती जाती है उतने अंश

में जीवन की कमी समझना चाहिये।

जब इन्द्रिय मन बल और आहार चारों ही *प्राण* नष्ट हो जाते हैं तब जीवनघात अर्थात् मौत हो जाती है। साधारणतः आहार और उस में भी स्वासोच्छ्वास के बन्द हो जाने पर मौत मान ली जाती है पर बाहर से स्वासोच्छ्वास बन्द होने पर भी आहार होता रह सकता है। जब तक एक भी प्राण बाकी रहे तब तक जीवनघात नहीं माना जाता।

तनघात— किसी प्राणीको किसी तरह का शारीरिक कष्ट देना तनघात है।

दृष्टिकाण्ड के तीसरे (मार्गदृष्टि) अध्याय में शारीरिक दुःख छः तरह के बताये गये हैं *आघात, प्रतिविषय, अविषय, रोग, रोध, और* अतिश्रम। इनमें से एक या अनेक तरह का कष्ट देना तनघात है।

यद्यपि अविषय रूप तनघात अर्थघात से भी हो सकता है पर उसका सम्बन्ध परम्परा का है। अर्थघात में शरीर को कष्ट पहुंचाने की मुख्यता नहीं होती। अर्थघातक कुछ लेना चाहता है शरीर को चोट पहुंचे या न पहुंचे इसकी पर्वाह नहीं करता। प्राणघातक को लेने की मुख्यता नहीं है चोट पहुंचाने की मुख्यता है। जितने अंश में चोट पहुंचाने की मुख्यता है उतने अंश में प्राणघात है जितने अंश में कुछ लेने की मुख्यता है उतने अंश में अर्थघात है। हां, प्राणघात का भी कुछ दूसरा लक्ष्य होता है पर उसकी अपेक्षा तो प्राणघात का अच्छा बुरापन निश्चित किया जायगा। प्राणघात अगर न्यायरक्षण के लिये हो तो वह अच्छा कहा जायगा। भक्षण के लिये हो तो बुरा कहा जायगा। यह तो प्राणघात के बाद का विचार है पर जहां तक प्राणघात और अर्थघात की क्रिया से सम्बन्ध है वहाँ तक उनका सीधा सम्बन्ध प्राण से और अर्थ से है।

मनघात—मार्ग दृष्टि अध्याय में मानसिक दुःख पांच तरह के कहे गये हैं उन में से सहवेदन का सम्बन्ध तो मनघात से है नहीं, बाकी चार भेदोंका सम्बन्ध हो सकता है। पर अधिकतर वे चारों दुःख दूसरे प्राणी के द्वारा किये गये घातके बिना भी होते हैं जैसे प्रिय वस्तु का न मिलना या बिछुड़ना आदि भाग्यदोष या प्रकृतिदोष से होते हैं। दूसरे के द्वारा किये भी जाते हैं पर उन में से अधिकांश अर्थघात में शामिल होते हैं।

अपमान वगैरह से जो लाघव होता है वह अवश्य मनघात है फिर भी अधिकांश लाघव प्राकृतिक कहा जा सकता है।

इस प्रकार मानसिक दुःखों के भेद से मनघात का रूप ठीक नहीं समझा जा सकता इसलिये यहां सिर्फ मानसिक दुःख के वे ही रूप बताये जाते हैं जिन का मनघात से सीधा और साफ सम्बन्ध है। मनघात से बचने के लिये जिन से बचना जरूरी है।

मनघात के मुख्यरूप दो हैं जो प्राणघात में शामिल किये जाते हैं-१ भय २ तिरस्कार। यद्यपि इन दोनों का उपयोग प्राणी की भलाई के लिये भी किया जाता है पर यह विचार पीछे का है। प्राणी की भलाई के लिये किया जायगा तो वह भगवती की साधना होगी अपने उचित स्वार्थ रक्षण के लिये किया जायगा तो हिंसा ~~होगी। बस~~

न होगी, अनुचित स्वार्थ के लिये किया जायगा तो हिंसा होगी, इस प्रकार पीछे उसका विश्लेषण हो जायगा परन्तु अभी तो यहां मनघात का विचार करना है।

भयदान के नाना रूप हैं पर संक्षेप में उसके दो रूप हैं— वचन से भयदान और तन से भयदान। मैं तुम्हें मार डालूँगा, लूट लूंगा, बदनाम कर दूंगा, खाना बन्द कर दूंगा, रूखा भोजन दूंगा, जकड़ दूंगा अथवा तुम यों हो जाओगे त्यों हो जाओगे आदि बातें बोलकर, लिखकर या अन्य संकेत से कहना वचन से भयदान है।

मारना नहीं, पर मारने के लिए हाथ उठाना मारने दौड़ना, दांत पीसना आदि घात करने के लिये की जानेवाली क्रियाओं का प्रदर्शन करना तन से भयदान है।

इस प्रकार के भय से प्राणी के मन को चोट पहुंचती है, उसे कष्ट होता है इसलिये भयदान मनघात है।

दूसरा मनघात है तिरस्कार। तिरस् शब्द का अर्थ है परोक्ष, ओट में आदि। इसलिये तिरस्कार शब्द का अर्थ हुआ सामने से हटाने की, ओट में करने की या नीचे करने की कोशिश करना।

तिरस्कार के अनेक रूप हैं, जैसे अविनय अपमान, निंदा आदि।

साधारणतः जिस प्राणी को अपनी अपेक्षा जो स्थान प्राप्त है उससे कम देना या न देना या उसका यथोचित प्रदर्शन न करना अविनय है। अपमान भी अविनय का एक रूप है पर कुछ अधिक मात्रा में है। किसी के वास्तविक या अवास्तविक दोषों को प्रगट करना निंदा है। यह प्रायः परोक्ष में की जाती है। सुधार की दृष्टि से सच्चे दोषों का उल्लेख किया जाय तो इसे निंदा नहीं कहते। द्वेषबुद्धि से किसी भी तरह के दोष का उल्लेख किया जाय तो यह निंदा है।

तिरस्कार सिर्फ शब्दोंसे ही नहीं होता किंतु स्वर से भी होता है मुखाकृति से भी होता है। भावव्यक्त करने के नानारूप हैं उन रूपों की कीमत मन के भावों से है।

जब से प्राणीसृष्टि है तभी से प्राणघात का पाप है। अर्थघात और विश्वासघात से प्राणघात का इतिहास लम्बा है। यद्यपि कीट पतंगों में भी अर्थघात विश्वासघात पाया जाता है पर प्रधानता प्राणघात की है। व्यापक भी प्राणघात है।

दूसरी बात यह है कि अर्थघात विश्वासघात की अपेक्षा प्राणघात की क्षतिपूर्ति कठिन है। इसलिये भी यह मुख्य पाप है।

भगवती की साधना शीर्षक अध्याय में व्यवहार पंचक का जो विवेचन किया गया है उसके अनुसार प्राणघात या अन्य घातों की कर्तव्यता अकर्तव्यता का निर्णय करना उचित है, घात हो जाने से ही कोई पाप नहीं कहलाता है।

घातके तेरह भेद हैं-१ साधक २ वर्धक ३ न्यायरक्षक ४ सहज ५ भाग्यज, ६ भ्रमज, ७ आरम्भज, ८ स्वरक्षक, ९ प्रमादज १० अविवेकज, ११ बाधक १२ तक्षक १३ भक्षक।

इन में साधक, वर्धक और न्यायरक्षक घात तो भगवती की साधना के अंग हैं इसलिये कर्तव्य में शामिल हैं। सहज, भाग्यज और भ्रमज

पर मनुष्य का वश ही नहीं है इसलिये इनका पापपुण्य के कर्तृत्व से कोई सम्बन्ध नहीं। यहां तो सिर्फ इसलिये इनका उल्लेख किया गया है कि विश्वव्यापी घात को देखकर भगवती की साधना को कोई असम्भव न समझ बैठे इसलिये इन घातों के विषय में कुछ निर्णय कर दिया जाय। आरम्भज और स्वरक्षक पर मनुष्य का वश तो है पर पूरा नहीं, इसलिये इनके विषय में यथाशक्य यत्नाचार किया जा सकता है। जहां तक यत्नाचार है वहां तक ये क्षन्तव्य हैं। प्रमादज अविवेकज बाधक तक्षक और भक्षक अवश्य पाप हैं और उत्तरोत्तर अधिक पाप हैं। इस प्रकार साधारणतः तेरह तरह के घातों का निर्णय हो जाता है।

व्यवहार-पंचक में ये भेद इस प्रकार शामिल किये जाँयगे।

वर्धन—साधक, वर्धक, आरम्भज।

रक्षण—साधक, न्यायरक्षक, आरम्भज, स्वरक्षक।

विनिमय—स्वरक्षक, आरम्भज

तक्षण—तक्षक, प्रमादज, अविवेकज बाधक।

भक्षण—भक्षक, प्रमादज, अविवेकज।

सहज, भाग्यज और भ्रमज व्यवहार पंचक के विषय नहीं हैं।

कोई कोई भेद अपने फल के अनुसार दो दो भेदों में चले गये हैं।

दूसरी जगह (कृष्णगीता में) हिंसा के पांच भेद किये गये हैं १ स्वाभाविकी, २ आत्मरक्षिणी ३ पररक्षिणी ४ आरम्भजा ५ संकल्पजा।

हिंसा-अहिंसा (घात-अघात) को समझने में इनसे भी काम चल जाता है फिर भी कुछ सफाई की जरूरत रह जाती है इसलिये ये तेरह भेद किये गये हैं। अगर इन पांच भेदों में तेरह का समावेश करना हो तो इस तरह होगा।

स्वाभाविकी—सहज, भाग्यज, भ्रमज।

आत्मरक्षिणी—न्यायरक्षक, स्वरक्षक, वर्धक

पररक्षिणी—साधक, वर्धक, न्यायरक्षक।

आरम्भजा—आरम्भज, स्वरक्षक।

संकल्पजा—प्रमादज, अविवेकज, बाधक तक्षक, भक्षक।

यहां भी कोई कोई भेद अपने फल के अनुसार अनेक भेदों में चले गये हैं।

१ साधक—भगवती की प्रबोधनी साधना के लिये अपने को या आत्मीय जन को जो कष्ट दिया जाता है वह साधक घात है। यद्यपि यह वर्धक और न्यायरक्षक में शामिल हो जाता है फिर भी इस में दूसरों के घात के लिये स्थान नहीं है और व्यवहार में भी इस का साधनापन स्पष्ट है इसलिये इस को अलग भेद बनाया है।

वर्धन या रक्षण के लिये जहाँ संहार कार्यकारी नहीं होता वहाँ उदाराशय संयमी जन साधक घात करके कल्याण करते हैं या अकल्याण से बचते हैं कुछ उदाहरणों से यह बात साफ हो जायगी।

एक आचार्य के किसी शिष्य ने अपराध किया और झूठ बोला, आचार्य ने समझ लिया कि यह झूठ बोलरहा है पर शिष्य किसी भी तरह झूठ को स्वीकार नहीं करता। तब आचार्य अपने को ही धिक्कार देते हैं कि मुझ में ही कोई दोष है तभी तो तुम मेरे सामने झूठ बोल सकते हो या अपराध कर सकते हो, इस प्रकार

आचार्य अपनी निंदा करके अपना घात करते हैं कदाचित् उपवास करजाते हैं अथवा कोई दूसरा सुसाधन छोड़ देते हैं तो यह सब साधक घात है।

यह समझकर कि इसको समझाने का या दंड देने का कोई असर न होगा या बुरा असर होगा, उस की गलतियों के कष्ट को सहते जाना और उस से बचते रहने के लिये कष्ट सहना भी साधक घात है।

मेरा कोई प्रियजन है उस को किसी ऐसे आदमी ने सताया जिसके साथ मेरा सम्बन्ध तो निकट का है पर जो ऐसे मामलों में वह मेरी निष्पक्षता पर विश्वास नहीं करता, इसलिये अपने प्रियजन का न्यायपक्ष का समर्थन करूं तो वह मुझे पक्षपाती ही समझता है, न्यायरक्षण का वास्तविक फल कुछ नहीं होता, ऐसी हालत में उस से विशेष कुछ न कहकर अपने प्रियजन को ही डाँट-फटकार बताना या अपने प्रियजन के घात का समर्थन करना या चुप रह जाना भी साधकघात है।

मतलब यह कि अपना पक्ष न्याययुक्त होते हुए भी विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से अपना घात करना साधकघात है।

जीवन निरुपयोगी हो कर जब स्वपर दुःखदायक हो जाय तब कषायरहित मनोवृत्ति से मौत का आलिंगन करना भी साधक घात है। इस प्रकार साधक घात अनेक तरह का है।

२ वर्धक घात--जो घात विश्वकल्याण के लिये या घात्य के सुख की वृद्धि के लिये किया जाय वह वर्धक घात है। डाक्टर रोगी की शस्त्र-चिकित्सा करता है, इससे रोगी को काफी तकलीफ होती है पर है यह रोगी की भलाई के लिये इसलिये यह वर्धक घात है। गुरु शिष्य के विकास के लिये कुछ प्रतारणा करता है कटु-वचन बोलता है तो यह घात्य की उन्नति के लिये होने से वर्धक घात है। इसी प्रकार माता पिता सन्तान की प्रतारणा करके जो उसकी उन्नति के लिये प्रयत्न करते हैं यह भी वर्धक घात है। कोई महात्मा समाज-हित के लिये अपने प्राणों का बलिदान करता है तो यह भी वर्धक घात है, यह आत्महत्या नहीं है।

प्रश्न--नगर में मरी फैली हुई है जरूरत समझी जा रही है कि देवीके आगे एक मनुष्य का बलिदान किया जाय तो मरी चली जायगी इसके लिये कोई आदमी अपने प्राणों को चढ़ा देता है तो इसे क्या कहा जाय? अथवा वह दूसरे किसी प्राणी का बलिदान करता है तो क्या कहा जाय? समाज-सुख-वर्धन इससे भले ही न हो पर उसका लक्ष्य यही है, भावना यही है और भावना के अनुसार ही पुण्यपाप होता है तब क्या इसे वर्धक कहा जाय?

उत्तर--वर्धक और न्यायरक्षक घात भगवती की साधना है। भगवती का साधक इतना अविवेकी नहीं होता कि वह मरी हटाने के लिये इस प्रकार प्राणिवध करे। जहां अविवेक है वहां भगवती की साधना नहीं है। इसलिये उस घात को वर्धक नहीं कह सकते। वह अविवेकज घात है जो कि पाप है। यह तो हुआ अपने बलिदान के विषय में, दूसरे प्राणी के बलिदान के विषय में तो पापता और बढ़ जाती है। क्योंकि इसमें निःस्वार्थता नहीं है जो तक्षकता पर आवरण डाल सके इसलिये यह तो तक्षक घात ही कहलाया, जो कि पूरा पाप है।

प्रश्न–'प्राणिवध से मरी हट जायगी' इस भ्रम के कारण अगर वह घात अविवेकज है तो चिकित्सक भी अविवेकज घाती कहलाँयगे। क्यों कि औषध के भ्रम से या रोग के निदान के भ्रम से उनसे भी घात हो जाता है।

उत्तर–यह घात भ्रमज है। अविवेकज अन्धश्रद्धा के आधार पर होता है और भ्रम में प्रयोग के समय आकस्मिक कारण से अजानकारी होती है। चिकित्सा के मूल में औषध और रोग के सम्बन्ध के विषय में हमारा या उस विषय के आप्तजनका परीक्षित ज्ञान रहता है, अन्धश्रद्धा में ऐसा परीक्षित ज्ञान नहीं होता। जैसे अमुक रोग पर अमुक दवाई काम करती है यह बात परीक्षित है अब यह बात दूसरी है कि दवाई ठीक न बनी हो, खराब हो गई हो, ऋतु अनुकूल न हो, या रोग का निदान ठीक न हो इसलिये दवाई से हानि हो जाय पर उसकी उपयोगिता परीक्षित है इसलिये दवाई के उपयोग में अविवेक नहीं कहा जाता सिर्फ एक तरह का भ्रम कहा जा सकता है।

बलि से बीमारी हटने का ऐसा वैज्ञानिक परीक्षित प्रयोग नहीं होता इसलिये उसे अन्धश्रद्धा या अविवेक कहते हैं।

प्रश्न–एक आदमी का यह विश्वास है कि जो प्राणी देवके आगे मारा जाता है उसे स्वर्ग मिलता है इसलिये वह पशुबलि करता है इसे अविवेकज घात कहा जाय या तक्षक ?

उत्तर–अविवेक तो यह है ही, साथ ही तक्षक भी है क्योंकि इसके मूलमें छल या झूठ है। अगर उसका यह विश्वास होता कि देव के आगे मारा जाने वाला प्राणी स्वर्ग जाता है तो सब से पहिले वह अपना, अपने बाल बच्चों या कुटुंबियों का बलिदान करता जिससे सकुटुम्ब स्वर्ग में रहने को मिले। ऐसा नहीं करता इससे मालूम होता है कि वह अपने को और दूसरों को धोखा देता है। इसलिये ऐसे बलिदान में अविवेकज और तक्षक प्राणघात तो है ही साथ ही विश्वासघात भी है।

प्रश्न–जो आदमी घर पर मांस खाते हैं वध भी करते हैं वे धर्मस्थान में भी अगर वध करते हैं तो इसमें अविवेक क्या हुआ ? उनके लिये वह घात अघात का प्रश्न नहीं है किन्तु अपनी सम्पत्ति समाज को दे देने का भाव है। ईश्वर या खुदा के नाम पर बांट देने के भाव हैं बल्कि वे यह भी सोचते हैं कि सब लोग एकाध पशु वध करके थोड़ा थोड़ा प्रसाद पा जाँयँ तो यह अच्छा बनिस्बत इसके कि सब लोग अलग २ पशुवध करके बहुत प्राणियों की हत्या करें।

उत्तर– यहां सिर्फ साधारण मांसभक्षण का पाप है अविवेक नहीं। यद्यपि मांसभक्षण के पापसे वे नहीं बच सकते। फिर भी जहां उन का यह भाव है कि अनेक पशुवध रोक कर एक पशुवध रक्खा जाय वहां तो आंशिक रूप में भगवती की साधना भी है क्योंकि इससे जितना पशुवध रुका उतने अंश में जगत में सुखवृद्धि ही हुई।

प्रश्न– प्रल्हाद ईश्वर का नाम लेता था, उस का पिता हिरण्यकशिपु सोचता था कि इस प्रकार एक राजपुत्र ईश्वर के भजन में जिन्दगी खोदे यह ठीक नहीं उसे तो चतुर और बलवान शासक बनना चाहिये इसलिये उसने प्रल्हाद की प्रतारणा की क्या इसे वर्धक घात कह सकते

हैं ? यदि हां, तो हिन्दूधर्म हिरण्यकशिपु की निन्दा क्यों करता है ?

उत्तर– हिरण्यकशिपु की अगर यही मंशा होती तो उसकी निन्दा न की जाती उसने तो अहंकारवश प्रल्हाद का तक्षण ही किया था। उसने जो ईश्वर का नाम लेने की सख्त मनाई की थी और अपनी आज्ञा न मानी जाने पर उसे मार डालने तक के लिये तैयार हो गया था इसमें सिर्फ अहंकार था। उसमें अगर प्रल्हाद के वर्धन का भाव होता तो वह ईश्वरभक्ति के लिये अमुक समय देकर कहता कि बाकी समय तुझे राजकाज में लगाना चाहिये। फिर अगर प्रल्हाद न मानता तो हिरण्यकशिपु की मर्यादित प्रतारणा उचित कही जा सकती। पर इस कार्य के लिये प्राणनाश की प्रतारणा तो किसी तरह उचित नहीं कही जा सकती अधिक से अधिक वह इतना ही कह सकता था कि मैं ऐसे अयोग्य पुत्र का पालन नहीं कर सकता इसलिये अलग कर देता–प्राणनाश तक के लिये तैयार हो जाना हिरण्यकशिपु का तीव्र अहंकार था। इसलिये उसने जो घात किये वे तक्षक थे।

प्रश्न–पिता रूढ़ि । उपासक है पुत्र सुधारक है इसलिये पिता उसकी ताड़ना करता है वह सोचता है कि रूढ़ि पर चलाने से ही उस की वृद्धि होगी। इसे क्या कहा जाय ?

उत्तर–रूढ़ि के नाम पर स्वच्छन्दता दुराचार आदि का विरोध भी किया जा सकता है और सुधार के नाम पर स्वच्छंदता का परिचय भी दिया जा सकता है इसलिये जिस तरफ विवेक हो उसी तरफ न्याय है। पिता को अधिकार है कि वह अपने बेटेको अपनी समझके अनुसार अच्छे रास्ते चलावे और पुत्र को अधिकार है कि अगर पिता का रास्ता ठीक न मालूम हो तो पिता को जितनी प्रतारणा देने का अधिकार है उतनी प्रतारणा विनय से सहन करे और अपने रास्ते चले। स्वपरकल्याण की दृष्टि से जिधर अच्छाई होगी उधर निर्दोषता होगी।

प्रश्न– पिता पालक है इसलिये उसे अमुक अंश में प्रतारणा का अधिकार है पर पति-पत्नी आदि के मामले में क्या किया जाय ? अथवा किसी के मातापिता नासमझ और रूढ़ि के गुलाम हों तो वह क्या करे वह उन्हें मार्ग पर लाने के लिये कटुशब्द आदि के द्वारा प्राणघात करे तो क्या वह वर्धक घात कहलायगा ?

उत्तर—वर्धनके लिये घात उतना ही करना चाहिये जितना औचित्य और अधिकार के भीतर हो। मातापिता आदि गुरुजनों का अपमान न करना चाहिये उन की गलती सुधारना हो तो अवसर देखकर नम्रता से ही सूचित करना चाहिये। पतिपत्नी में तो मित्रता का व्यवहार ही उचित है। अगर उनमें से किसी में विचार-विवेक की योग्यता अधिक है तो वह दूसरे को जरा दृढ़ता से समझा सकता है पर एक दूसरे के जीवन सम्बन्धी उत्तरदायित्व से छुट्टी नहीं पा सकता। पत्नी मेरे विचारों के अनुसार नहीं है इसलिये मैं उसके खाने कपड़े का प्रबन्ध न करूं, बीमारी में सेवा न करूं आदि बातें अनुचित हैं यही बात पति के विषय में पत्नी के लिये है। इस प्रकार अपने कर्तव्य को पूरा करते हुए आवश्यकतानुसार अधिक से अधिक जोर डाला जा सकता है पर एक दूसरे पर हाथ चलाना या मर्मभेदी गालियाँ आदि देना अनुचित है। अपनी और उसकी भलाई के लिये सौम्य

शब्दों तथा व्यवहार में तीव्र से तीव्र विरोध किया जा सकता है। तब यह घात वर्धक ही कहलायगा।

प्रश्न--एक आदमी राष्ट्र की भलाई के लिये अपना सर्वस्व लगा देता है, विलास वैभव आदि का भी त्याग कर देता है, यहां तक कि यश अपयश की भी पर्वाह नहीं करता व्यक्तिगत रागद्वेष भी किसी से नहीं है परन्तु राष्ट्र की भलाई के लिये दूसरे राष्ट्रों पर अत्याचार करने से नहीं चूकता, जिन्हें वह राष्ट्रविरोधी समझता है उनका नीतिअनीति का विचार किये बिना दमन करता है, ऐसे निःस्वार्थ व्यक्ति को क्या कहा जाय उसके द्वारा होनेवाला घात वर्धक है या तक्षक ? यदि तक्षक है तो अपने स्वार्थ के लिये ऐसे अत्याचार करनेवाले में और इस महापुरुष में क्या अन्तर रहा ?

उत्तर--व्यक्तित्व की ओट हो या राष्ट्रीयता की ओट हो, अगर कोई दूसरों पर अत्याचार करता है तो वह तक्षक है, पापी है। वह अपने लिये नहीं राष्ट्र के लिये कर रहा है इसलिये विश्वकल्याण की हानि रुक नहीं जाती और विश्वकल्याण को हानि पहुंचाने वाला वर्धक नहीं कहा जा सकता। हां, इतना विचार अवश्य किया जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में वह कितना दोषी है और आगे पीछे की परिस्थिति का कितना दोष है ? अगर परिस्थिति का दोष न हो, सिर्फ राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा या राष्ट्र की भूख बुझाने के लिये निरपराध ही किसी राष्ट्र को सतावे तो यह तक्षक घात होगा, पाप होगा।

हाँ, इतना होने पर भी अपने व्यक्तित्व के लिये या व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये दुनिया को पीसनेवाले लोगों से इस राष्ट्रीय महाव्यक्ति में महान् अन्तर है। व्यक्तित्व के लिये लड़ने झगड़ने वाला सबका नाश करता है और सदा करता है जबकि राष्ट्र के लिये झगड़नेवाला राष्ट्र की सुखवृद्धि करता है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंग कभी कभी आते हैं इसलिये इसकी तक्षकता घट जाती है और कादाचित्क हो जाती है।

इसी कांड के पहिले अध्याय में उदार पद नाम से सात पद बतलाये हैं। व्यक्तित्व के लिये तक्षण करनेवाला परमस्वार्थी या स्वार्थी है जब कि राष्ट्र के लिये तक्षण करनेवाला अर्धोदार है। इन दोनों में यह महान् अन्तर है।

किसी घात को वर्धक ठहराते समय यह देखना चाहिये कि उससे अपने पराये का भेद किये बिना विश्वकल्याण या अधिक से अधिक सुख होता है या नहीं ? अगर होता है तो वह वर्धक घात है।

३ न्यायरक्षकघात--न्याय की रक्षा करने के लिये जो घात किया जाता है वह न्यायरक्षक घात है। इससे भी भगवती की साधना होती है। जैसे न्यायाधीश अपराधी को दंड देता है, या कोई भी व्यक्ति डाकू लम्पट आदि को दंड देता है, यह सब न्यायरक्षक घात है। म. राम ने रावण का घात इसी तरह का किया था।

प्रश्न--म. रामने तो अपनी इज्जत और पत्नी की रक्षा की थी इसलिये इसे स्वरक्षक क्यों न कहा जाय। न्यायरक्षक क्यों कहा जाय ?

उत्तर--न्याय के साथ स्वार्थ की रक्षा होती हो पर स्वार्थ इतना प्रबल न हो कि न्याय की उपेक्षा कर सके तो उसे न्यायरक्षक घात ही कहेंगे, स्वार्थरक्षक नहीं।

प्रश्न—एक प्रबल राष्ट्र ऐसा है जो किसी निर्बल राष्ट्र का घात नहीं करना चाहता पर परिस्थिति ऐसी है कि दूसरा प्रबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रको हथयाकर पहिले राष्ट्र का घात करने वाला है ऐसी हालत में अपने बचाव के लिये उस छोटे राष्ट्र का घात करना स्वरक्षक घात कहलाया या नहीं ?

उत्तर—उस हालत में यह स्वरक्षक घात कहलायगा जब कि परिस्थिति बदल जाने पर वह छोटे किन्तु निर्दोष राष्ट्र की क्षतिपूर्त्ति कर दे। अन्यथा उसका तक्षक घात ही कहलायगा ?

प्रश्न--एक वर्ग या राष्ट्र दूसरे वर्ग या राष्ट्र पर जबर्दस्ती शासन करता है। शासन में अड़ंगा पैदा करने के लिये पीड़ित राष्ट्र का कोई व्यक्ति पीड़क राष्ट्र के कर्मचारियों को परेशान करता है कदाचित् जीवनघात भी करता है। इस मामले में व्यक्तिगत वैर बिलकुल नहीं है सिर्फ पीड़क राष्ट्र के द्वारा होनेवाली जबर्दस्ती को हटाने का भाव है तो इसे क्या कहा जाय ?

उत्तर—यदि व्यक्तिगत द्वेष न हो तो यह न्यायरक्षकघात कहा जा सकता है, पर इसमें विवेक की बड़ी जरूरत है। किसी भी कर्मचारी का घात कर बैठना; अपनी इस उग्र नीति की किसी भी तरह घोषणा न करना आदि अनुचित है। मतलब यह कि विवेक के द्वारा यह निश्चय करना चाहिये कि प्राणघात से वास्तव में अन्यायी शासन का ही घात हो, पेट भरने के लिये किसी तरह सरकारी मजूरी करनेवाले निरीह मनुष्यों का घात न हो। इस प्रकार विवेक और अकषायता का खयाल रक्खा जायगा तो अत्याचारी शासन या शासक को मिटाने के लिये किया गया प्राणघात न्यायरक्षक ही समझा जायगा।

४ सहज—सहजघात वह है जो हमारे किसी विशेष प्रयत्न के बिना अनिच्छापूर्वक भी होता रहता है। जैसे श्वासउच्छ्वास आदि में होता है।

शरीर में कोई कीटाणु पड़ गये और कोई औषध ली जिससे वे कीटाणु मर गये, तो इसे भी सहजघात कहेंगे।

जो सूक्ष्म प्राणी देखने में नहीं आते उनका वध हो जाना भी सहजघात है। जैसे दही आदि में।

पानी में भी साधारण दृष्टि से अगोचर जो सूक्ष्म प्राणी रहते हैं उनका घात हो जाना भी सहजघात है।

साधारण चलने फिरने में भी जो पृथ्वी, जल, वायु के सूक्ष्म प्राणी मरते हैं वह सब सहजघात है।

सहजघात को प्राकृतिक भी कहते हैं क्यों कि इसकी जिम्मेदारी प्रकृति पर है मनुष्यादि पर नहीं। यह व्यवहार पंचक का विषय नहीं है इसलिये व्यवहारपंचक के किसी भी भेद में इसे शामिल नहीं किया जाता।

५ भाग्यज– जिसमें अकस्मात् ऐसे कारण मिल जाते हैं कि जिस में न तो घातक का दोष होता है न घात्य का, पर घात हो जाता है। जैसे किसी स्थान पर सूचना करदी गई कि कोई न आवे क्योंकि यहाँ बम बरसाने का अभ्यास किया जारहा है। पर कोई प्राणी पहरेवाले की नजर में भी न आया, अपढ़ होने से वहाँ लगी हुई सूचना न पढ़सका इस प्रकार उस जगह पहुँच गया और बमवर्षा से उसका घात हो गया यह भाग्यज घात है। मतलब यह कि बचाने का यत्न करने पर भी जब कोई आकस्मिक घात हो जाता है तब उसे भाग्यज घात कहते हैं।

६ भ्रमज–प्रयत्न तो वर्धन या रक्षण का किया जाता हो पर धोखे से हो जाय तक्षण, तो इसे भ्रमज घात कहेंगे । जैसे धोखे से गलत दवा दे दी जाय, रोग का निदान ठीक न होने से दवा कुछ की कुछ हो जाय , इसमें घातक कुछ न कुछ भूल कर जाता है इसलिये यह भ्रमज घात है । तक्षकघात इसलिये नहीं है कि घातक का भाव तथा प्रयत्न वर्धन या रक्षण के लिये होता है ।

७ आरम्भज- व्यापार धंधा तथा घरू कामों में जो प्राणिघात हो जाता है उसे आरम्भजघात कहते हैं । आरम्भजघात में संकल्पपूर्वक प्राणिघात नहीं किया जाता पर हो जाता है । जैसे खेती में या रोटी आदि बनाने में ।

उद्योग के नाम पर मछली पकड़ना या पशुवध करना आरम्भज घात नहीं है क्योंकि इसमें प्राणिवध का संकल्प होता है जब कि आरम्भज में प्राणिवध का संकल्प नहीं होता ।

हल चलाते समय कोई बड़ासा प्राणी मर जाय तो यह आरम्भज घात ही होगा जब कि चुनचुन कर छोटे कीड़ों को खाना भक्षक घात होगा ।

प्रश्न–अनाज के पौधों के साथ जो दूसरे पौधे उगते हैं जो अन्नके पौधों को नुकसान पहुंचाते हैं उनका घात तो संकल्पपूर्वक किया जाता है उसे आरम्भज घात कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर–वह एक तरह का स्वरक्षकघात है ।

यहां एक बात और ध्यान में रखना चाहिये कि वनस्पति का तक्षक भक्षक घात भी क्षन्तव्य है । क्योंकि एक तो मनुष्यादि की अपेक्षा वनस्पति की चैतन्यमात्रा बहुत कम है, दूसरे वनस्पति के सिवाय और कोई पदार्थ जिस में कम घात हो या न हो जगत में नहीं है जिसके आधार से जीवन टिक सके, तीसरे वनस्पति का घात पशुपक्षी आदि के घात के समान नहीं होता, वनस्पति की शाखा आदि काटने पर दूसरी शाखाएँ आजाती हैं बल्कि कभी कभी शाखा वगैरह काटना जरूरी हो जाता है, न काटा तो झाड़ मुरझा जाता है नष्ट भी हो जाता है जैसे गुलाब आदि हैं ।

इन तीनों कारणों से व्यवहार पंचक में वनस्पति का विचार नहीं किया जा सकता, हां, अनावश्यक घात वनस्पति का भी नहीं होना चाहिये ।

साधारणतः वनस्पति का तक्षक घात भी आरम्भज समझना चाहिये ।

८ स्वरक्षक–अपने रक्षण के लिये या अपने तक्षण भक्षण की सम्भावना हो तो उससे बचने के लिये घात करना स्वरक्षक घात है । जैसे रास्ते में पड़नेवाले जंगल में शेर रहता है वह मिलने पर निरपराध ही घात कर सकता है तो उसका घात करके रास्ता साफ करना स्वरक्षक घात है । इसी प्रकार मच्छर आदि का घात भी स्वरक्षक घात है ।

सम्पर्क में आते ही घात करने का जिन का स्वभाव है, जैसे बिच्छू, थोड़ा सा निमित्त मिलते ही तीव्र घात करना जिनका स्वभाव है, जैसे सर्प, या भक्षण के लिये घात करना जिन का स्वभाव है जैसे शेर, ऐसे प्राणियों से अपनी रक्षा करने के लिये पहिले से सतर्क होना पड़ता है इस प्रयत्न में उनका घात करना पड़े तो यह स्वरक्षकघात होगा ।

९ प्रमादज– प्रमादज घात वह है जो लापर्वाही से हो जाता है जैसे बिना देखे खिड़की

में से कोई चीज फेंकी और किसी रास्तागीर पर पड़ी अथवा गाड़ी आदि चलाने में ऐसी लापर्वाही की कि किसी प्राणी को चोट पहुंची , यह प्रमादज घात है यद्यपि एक तरह का तक्षक है पर अल्पमात्रा में है, तक्षक और इसकी भावना में इतना अन्तर है कि इसे अलग ही कहना ठीक है। हां, भ्रमज या भाग्यज की तरह यह निर्दोष नहीं है। इसका करनेवाला अमुक अंश में अपराधी है, भले ही वह तक्षक के बराबर अपराधी न हो।

१० **अविवेकजघात**--अन्धश्रद्धा के वश में होकर मनुष्य जो प्राणिघात करता है वह अविवेकजघात है । जैसे देवताओं को प्रसन्न करने के लिये पशुबलि करना आदि । अविवेकज घात का विशेष रूप वर्धकघात के प्रकरण में आ गया है।

११ **बाधकघात**- स्वार्थवश अपना दोष ढँकने के लिये, दण्ड या प्रायश्चित से बचने के लिये, आत्मघात करना बाधकघात है । जैसे अपराधी सिद्ध होने पर दण्ड या बदनामी से बचने के लिये अपना सिर पीटने लगना, अपने को गाली देने लगना आदि। जहां कुछ निकटता का व्यवहार होता है प्रायः वहां ऐसा घात हुआ करता है। एक कुटुम्ब में, रिश्तेदारों में, किसी संस्था में, पड़ोसियों में अथवा साधारण परिचितों में विरोध या झगड़ा होने पर लोग इस तरह का बाधक घात करने लगते हैं । इसी उद्देश्य को लेकर कोई कोई लोग आत्महत्या (अपना जीवनघात) भी कर जाते हैं।

बाधकघात एक तरह के तीव्र छल का परिणाम है यह एक तरह का भयंकर न्यायविद्रोह है, चोर न्यायाधीश को डांट बतलाये तो जगत की जैसी दुर्व्यवस्था होगी वैसी दुर्दशा इन बाधक घातकों से होती है क्योंकि ये न्याय में बाधक होते हैं।

प्रश्न- साधकघात में भी दूसरों के लिये अपना घात किया जाता है और बाधकघात में भी यही किया जाता है, फिर दोनों में अन्तर क्या रहा ?

उत्तर- साधकघात में घातक का पक्ष न्याययुक्त होता है और बाधकघात में अन्याययुक्त। साधक दूसरों का अन्याय दूर करना चाहता है, सुधार करना चाहता है और बाधक अपने अन्याय का दमन नहीं होने देना चाहता । साधक में विनय और सुधारकता है, बाधक में अहंकार, छल, क्रोध और उद्दण्डता है । साधक अन्याय को नम्रता से नष्ट करना चाहता है, बाधक अपने अन्याय को उत्तेजन देना चाहता है और फिर भी दूसरों की सहानुभूति पाने की धृष्टता करना चाहता है।

एक आचार्य अपने शिष्यों की रसलोलुपता का प्रायश्चित्त खुद करता है इसलिये वह रस का त्यागकर रूक्षभोजन करने लगता है यह साधक है, एक शिष्य कोई गलती करता है या झूठ बोलता है और जब उसका यह दोष बतया जाता है तब क्रोध में आकर खाना बन्द कर देता है और कोई कष्ट उठाने लगता है जिससे दूसरे लोग उसे दोषी न समझें, उसे प्रायश्चित्त या दंड न उठाना पड़े तो यह बाधक है। यहाँ इस वञ्चक शिष्य और तपस्वी आचार्य में जमीन आसमान का अन्तर है।

बाधक घात का परिणाम बहुत खराब होता है, बाधक घाती का पतन होता है दूसरे लोग उसके सम्पर्क में रहना पसन्द नहीं करते इस प्रकार वह घृणित और दुष्ट हो जाता है।

प्रश्न– अपना जीवन जब बिलकुल निरुपयोगी हो जाय, अपने को भी शान्ति न हो और दूसरों पर भी बोझ होता हो ऐसे अनिष्ट जीवन का शान्तिपूर्वक त्याग कर देना कौनसा घात है ? वैदिक धर्म जैनधर्म में इस प्रकार समाधिमरण करनेवालों की प्रशंसा की गई है।

उत्तर- साधारणतः मनुष्य को जीवन और मरण की तरफ से निरपेक्ष रहना चाहिये। न तो जीवन की तीव्र लालसा हो न जीवन के दुःखों से घबराकर मरण की चाह, और न मरण का भय हो। वह विश्वकल्याण में लगा रहे उसके लिये अधिक से अधिक जीने की कोशिश करे और अगर मौत आ जाय तो बिना किसी विशेष क्षोभ के मरने के लिये तैयार रहे। हां, कभी कभी ऐसा अवसर आ जाता है कि जीवन से विश्वकल्याण नहीं हो पाता, अपना जीवन जगत के लिये दुःखद हो जाता है तो उस प्रकार का समाधिमरण साधक घात कहलायगा बाधक नहीं। लेकिन इसमें कषाय का थोड़ा भी अंश न होना चाहिये।

१२ तक्षकघात-- विश्वकल्याण की पर्वाह किये बिना दूसरे प्राणियों को मारना तक्षकघात है। सम्राट् बनने के लिये दूसरे देशों पर चढ़ाई करना, बड़ा कहलाने के लिये दूसरों को कुचलना, स्वार्थ के लिये प्रजा की इच्छा के बिना किसी प्रजा पर शासन करना, धर्म या जाति के अभिमानवश किसी का अपमान करना या सताना, धर्मस्थानों के सन्मान के नाम पर अपने अहंकार का पोषण करने के लिये जबर्दस्ती या छल से दूसरों की सुविधाएँ छीनना, किसी की निर्दोष स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करना मौज शौक के लिये किसी के प्राण लेना (शिकार) या सताना, आदि नाना तरह के घात तक्षक घात हैं।

प्रश्न–शिकार को तक्षक घात क्यों कहना चाहिये ? शिकार तो क्षत्रियों का व्यायाम है इस के बिना वे युद्ध में क्या कर सकेंगे शिकार के बिना क्षत्रियत्व को खुराक न मिलेगी और क्षत्रियत्व नष्ट हो जायगा। दूसरे मनुष्य अपने को कुचल देंगे।

उत्तर- अब तो युद्ध के साधन ऐसे बदल गये हैं कि शिकार करने से आज के युद्ध का अभ्यास नहीं हो सकता उसके लिये बम और हवाई जहाजों की जरूरत है। इनकी अजमाइश के लिये पशुहत्या की जरूरत नहीं है। दूसरी बात यह है कि अन्य जड़ वस्तुओं के सम्बन्ध से निशानेबाजी का भी अभ्यास किया जा सकता है -- किया जाता है तब व्यर्थ पशुहत्या क्यों की जाय।

तीसरी बात यह है कि युद्ध की आवश्यकता सदा नहीं रहेगी जब तक मनुष्य जंगली है तभी तक ये युद्ध हैं, एक दिन ऐसा आयगा जब मनुष्य सामूहिक रूप में इतना जंगली न रहेगा। वह दिन आयगा -- अवश्य आयगा। जबतक वह दिन नहीं आया है तब तक युद्ध करने की क्षमता अवश्य रहना चाहिये पर उपर्युक्त दो कारणों से उसके लिये शिकार की जरूरत नहीं है।

प्रश्न- शिकार का रिवाज न होता तो जंगल शेर, बाघ, चीता आदि जंगली जानवरों से भरे होते, मनुष्य को खेती करना, आना जाना भी कठिन होता, खेत शूकरों और अन्य जानवरों ने खालिये होते।

उत्तर- जिस समय आत्मरक्षण के लिये शिकार करना जरूरी था उस समय वह स्वरक्षक घात था, तक्षक नहीं। आज भी जितने अंशों में शिकार जरूरी है उतने अंशों में वह स्वरक्षक है। पर शौक पूरा करने के लिये निरपराध प्राणियों की हत्या करना तक्षक घात है जो कि पूरी तरह पाप है।

तक्षक घात- विश्वकल्याण के विरुद्ध किसी प्राणी को खाजाना या उस के जीवन का और किसी तरह उपयोग करना भक्षक घात है। यों तो तक्षक और भक्षक एक ही श्रेणी के पाप हैं पर कहीं कहीं तक्षक की अपेक्षा भक्षक में अधिक पाप है। जैसे मनुष्य को मार डालना एक बात है पर मनुष्य को खाजाना दूसरी। इसी प्रकार ऐसे भी प्रसंग हैं जब भक्षण से तक्षण में अधिक पाप होता है। बहुत आदमी मांस खाजाँयँगे पर कसाई का काम न कर सकेंगे, बहुतसे मांसभक्षी तो पशुवध देख भी नहीं सकते सिर्फ अभ्यासवश मांस खाजाते हैं। इससे मालूम होता है कि भक्षण की अपेक्षा तक्षण में कहीं क्रूरता की अधिक जरूरत होती है। इस प्रकार कहीं तक्षण अधिक पाप है कहीं भक्षण, इसलिये दोनों को बराबर कहना चाहिये।

प्रश्न—भक्षण तो संसारव्यापी है इसलिये उसे तक्षण के समान क्यों कहा जाय उसे सहज पाप ही क्यों न कहा जाय?

उत्तर—जो भक्षण सहज है वह सहज घात में शामिल किया जायगा क्योंकि उसे प्राणी रोक नहीं सकता पर ऐसा भक्षण जो रोका जा सकता है वह भी जब किया जाता है तब सहज नहीं कहलाता। अपनी जीवनरक्षा के लिये अपने समान या अपने से अधिक चैतन्य-वाले प्राणी को खा जाना तो भक्षण घात है ही साथ ही अपने से कुछ हीन चैतन्य जाति के प्राणी को खा जाना भी भक्षण घात है। इसलिये मनुष्य जो मांसभक्षण करता है वह भक्षण घात है आरम्भज या सहज घात नहीं।

प्रश्न — जैसे जीवन निर्वाह के लिये वनस्पति के सिवाय दूसरा साधन न होने से वनस्पति-भक्षण क्षम्य है उसी प्रकार जहां जीवननिर्वाह के लिये वनस्पति इतनी मात्रा में नहीं है कि वहां के आदमी गुजर कर सकें तो उनके लिये मांस भक्षण क्षम्य क्यों न माना जाय?

उत्तर—काफी वनस्पतिवाले देश की अपेक्षा वहां के मांसभक्षण में कम पाप है यह तो निश्चित है क्योंकि वहां मांसभक्षण शौक नहीं है, विवशता है, परन्तु विश्वसुख-वर्धन की दृष्टि से वनस्पतिआहार और मांसाहार में जो जमीन आसमान का अन्तर है वह न भुलाना चाहिये। 'चलते फिरते प्राणियों की अपेक्षा वन-स्पति की चैतन्यमात्रा इतनी कम है कि उसे नगण्य कहा जा सकता है' यह बात तो है ही साथ ही एक बात और है कि वनस्पति के पूरे वध की आवश्यकता बहुत कम होती है। अन्न के मौसमी झाड़ तो सूखने पर ही काटे जाते हैं। स्थायी वृक्षों के फल फूल अलग होने के लिये ही होते हैं, उन्हें अलग न करो तो झाड़

उन्हें स्वयं गिरा देते हैं, चलते फिरते प्राणियों के अंग न तो इस प्रकार कट कटकर गिरते हैं न कटने पर नये आते हैं। वृक्षों को नीचे से भी काटो तो फिर बढ़ते हैं बल्कि कोई कोई वृक्ष काटने से तीव्र गति से बढ़ते हैं जब कि पशु पक्षी आदि में यह बात नहीं होती। इसलिये वनस्पत्याहार और मांसाहार बराबर नहीं समझा जा सकता, हां, मांसाहार वहां कम पाप कहा जा सकता है जहां वनस्पति काफी न मिलती हो।

प्रश्न— जहां मांसाहार के बिना गुजर नहीं होती उस जगह के लोग क्या आत्महत्या करलें? जहां निष्पाप जीवन बिताया नहीं जा सकता वहां जिन्दा रहने से क्या लाभ?

उत्तर— आत्महत्या करने की अपेक्षा वह देश छोड़ देना अच्छा, पर हो सकता है कि यह सम्भव न हो कदाचित् एकाध व्यक्ति को सम्भव हो पर अधिकांश को न हो इसलिये यह राजमार्ग नहीं है। आत्महत्या तभी उचित कही जा सकती है जब मनुष्य को अपने निर्वाह के लिये दूसरे मनुष्यों को खा जाना पड़ता हो। ऐसी जगह निराहार रह कर प्राण त्याग कर देना चाहिये। पर जहां मनुष्य को उदरनिर्वाह के लिये पशुवध ही करना पड़ता हो वहां आत्महत्या न करे सिर्फ कम से कम वध करने का प्रयत्न करे ऐसी हालत में उसके लिये यह भक्षक घात न रह जायगा या बहुत कम रह जायगा, यह आरम्भज घात बन जायगा।

प्रश्न— औषध के लिये जो कभी मांस लेते हैं या ऐसी दवाइयां लेते हैं जिनमें पशु आदि का वध करना पड़ता है तो इसे क्या कहा जायगा?

उत्तर— यह भी भक्षक घात है इसलिये पाप है। हां यह बात अवश्य है कि सीधा मांस लेने की अपेक्षा मांस के द्वारा बनी हुई दवाइयों में कम पाप है क्योंकि इससे प्रत्यक्ष मांसभक्षण की आदत नहीं पड़ती, मांसभक्षण से आंशिक ग्लानि बनी ही रहती है। बहुत से लोग मछली का तेल पी जाते हैं फिर भी मछली नहीं खा सकते फल यह होता है कि मछली का तेल पी जाने पर भी मांसभक्षण की आदत नहीं पड़ पाती। हां, इस प्रकार कम पाप होने पर भी पाप अवश्य है इसलिये ऐसी दवाइयों का भी त्याग करना उचित है।

प्रश्न— अधिकांश बीमारियों से शरीर में एक तरह के कीटाणु पैदा होते हैं चिकित्सा करने से उन का घात अवश्य होता है तो चिकित्सा की जाय या नहीं।

उत्तर— अवश्य की जाय। कीटाणु मारना हमारा ध्येय नहीं है, रक्तशुद्धि या शरीरशुद्धि करना ध्येय है उस में अगर कीटाणु मरते हैं तो यह आरम्भज घात है, पाप नहीं है। बल्कि कीटाणुओं का शरीर पर यह एक तरह का आक्रमण है, आक्रमणकारी से रक्षा करना न्यायरक्षक घात है इसलिये यह और भी अधिक निष्पाप है।

प्रश्न— गर्भ में बच्चा इस तरह फँसगया हो कि बच्चे को बचाओ तो माँ को मारना पड़ता है, माँ को बचाओ तो बच्चे को मारना पड़ता है तो किसको मारा जाय या किसी को न मारा जाय?

उत्तर— किसी को न माराजाय तो दोनों मर जाँयँगे इसलिये एक का मारना जरूरी है और वह है बच्चे का मारना। क्योंकि बच्चे की अपेक्षा माँ का चैतन्य अधिक है। दूसरी बात

यह है कि मां उपकारी है, उपकारी उपकार करते समय विपत्ति में फँसजाय तो उपकृत की अपेक्षा उपकारी की रक्षा करना न्याय है, इसलिये इसे न्यायरक्षक घात कह सकते हैं । ऐसी हालत में यह पाप न कहलाया ।

प्रश्न–जब तक भगवती अहिंसा का साम्राज्य मानव जगत् में स्थापित नहीं हुआ है तब तक हर एक राष्ट्र को आत्मरक्षा के लिये या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायरक्षा के लिये सेना तो रखना ही पड़ेगी कोई आदमी उस सेना में भरती हो गया, लड़ने गया तो उसके द्वारा होने वाले प्राणघात का पाप किसे ?

उत्तर– लड़ाई के उद्देश्य और रीतिनीति के अनुसार उस की जिम्मेदारी लड़ाई के सञ्चालकों पर है–सैनिक पर नहीं। हां, सैनिक में अनावश्यक क्रूरता आजाय, वैयक्तिक द्वेष आजाय, अहंकार आजाय तो उतने अंश में वह अवश्य पापी है ।

प्रश्न– क्या सैनिकों को न्यायान्यायविवेक बिलकुल न रखना चाहिये, क्या वे जड़ पदार्थ की तरह लड़ाई की जिम्मेदारी से बिलकुल मुक्त हैं ?

उत्तर–किसी खास युद्धमें सहायता पहुँचाने के लिये जो सेना में भरती होते हैं उनपर तो युद्ध के उद्देश्य आदि की पूरी जिम्मेदारी है । अगर युद्ध अन्यायपूर्ण है, साम्राज्यवाद को पोषण के लिये है तो उसके लिये भरती होने वाले सैनिक पापी हैं । परन्तु जो लोग सेना में स्थायीरूप से भरती होते हैं उन को सिर्फ इतना देख लेना चाहिये कि सेना के सञ्चालकों की नीति क्या है । किसी देश को गुलाम बनानेवाले, अन्याय से शासन करनेवाले या विजयमदान्ध राजा की सेना में भरती होने से सैनिक पर भी उसके पाप की जिम्मेदारी है । साधारणतः जो शासक अभी तक सैनिक शक्ति का दुरुपयोग नहीं करता रहा है उस की सेना में भरती होने पर सैनिक युद्ध के पाप से निर्लिप्त रह सकता है ।

प्रश्न–जंगली असभ्य जातियों को सुधारने के लिये अगर उनसे युद्ध करना हो तो उसके लिये सेना में भरती होना पुण्य है या पाप ?

उत्तर–सुधार के नाम पर अगर उन्हें लूटना हो, उनकी मिहनत का फायदा उठाना हो तब तो पाप ही है परन्तु अगर उन लोगों में अन्याय अत्याचार आदि फैले हों और उन्हें दूर करना हो तो पाप नहीं है ।

प्रश्न–यदि दो आदमी ऐसी जगह पहुंच गये हैं जहां खाने के लिये कुछ भी मिल नहीं सकता, दोनों का मरना निश्चितसा हो गया है इसलिये अगर उनमें से कोई एक दूसरे को मारकर खाजाय, इसप्रकार रास्ता तय करके पार पहुंच जाय तो इसे लाभ ही कहना चाहिये ।

उत्तर–कदाचित् किसी अवसर पर थोड़ासा लाभ हो सकता है पर स्थायीरूप में इतनी हानि होगी कि इसे महापाप ही मानना पड़ेगा । निम्न लिखित चार बुराइयों के कारण भी इस पथ का त्याग करना चाहिये ।

(क) दोनों ही एक दूसरे को मारकर स्वयं बचने की कोशिश करेंगे, इससे सम्भवतः दोनों ही लड़कर मर जाँयगे । अथवा मरनेवाला मारनेवाले को मृतकप्राय जरूर कर जायगा । (ख) संकट का आभास होते ही दोनों मित्र मन ही मन एक दूसरे के शत्रु बन जाँयगे और जल्दी से जल्दी एक दूसरे को मार डालने के षड्यंत्र में लग जाँयगे । इससे जो कष्ट और अशान्ति होगी वह उपेक्षणीय नहीं कही जा सकती । (ग) इस उतावली में प्रायः अनाव-

श्यक हत्यायें भी हो जाया करेंगी, क्योंकि संभव है कि वह विपत्ति इतनी बड़ी न हो जितनी कि उनने उतावली से समझली। (घ) इससे जो मानसिक अधःपतन होगा, विश्वासघात आदि की वृद्धि होगी और समाज की मनोवृत्ति में जो बुरा परिवर्तन होगा, वह बहुत अधिक होगा।

प्रश्न—ऊपर के उदाहरण में हम दो मित्रों को न लेकर दम्पति को लें तो आत्मरक्षा के लिये पुरुष के द्वारा स्त्री का वध होना उचित है या नहीं ? साधारणतः पुरुष की अपेक्षा स्त्री की योग्यता कम होती है।

उत्तर—इससे परिस्थिति में कुछ भी अन्तर नहीं होता। स्त्री भी मित्र है, बल्कि उसकी रक्षा का भार पुरुष के ऊपर होने से पुरुष की जिम्मेदारी और बढ़ जाती है। इसलिये मित्र की अपेक्षा पति का विश्वासघात और अधिक हानिप्रद है। इसके अतिरिक्त ऊपर जो मैंने क, ख, ग, घ, नम्बर देकर आपत्तियाँ बतलाई हैं वे यहां भी ज्यों की त्यों लागू हैं। योग्यता की दृष्टि से भी इसका निर्णय नहीं होता, क्योंकि यहां पशु-बल आदि की योग्यता से निर्णय नहीं करना है, किन्तु चैतन्य से निर्णय करना है। सुखानुभव करने की जो शक्ति पुरुष में हैं स्त्री में उससे कम नहीं है। समाजके लिये पुरुष जितना आवश्यक है स्त्री उससे कम आवश्यक नहीं है। परिस्थिति के अन्तर से दोनों का कार्यक्षेत्र जुदा जुदा है, परन्तु नैसर्गिक योग्यता तथा समाज-हित की दृष्टि से दोनों समान हैं। इसलिये स्त्री-पुरुष नीच ऊँच, विद्वान अविद्वान, श्रीमान् गरीब आदि का भेद यहाँ नहीं लगाया जा सकता। अन्यथा क, ख, ग, घ वाले उपर्युक्त दोष बहुत भयंकर रूप धारण कर लेंगे।

प्रश्न— ऐसे अवसर पर अगर स्त्री, पुत्र दास आदि कोई व्यक्ति स्वेच्छासे आत्मसमर्पण करे तब तो उपर्युक्त दोष निकल जावेंगे ?

उत्तर— परन्तु ऐसी अवस्था में वे स्त्री, पुत्र, या दास इतने महान् उच्च और पूज्य हो जाँयगे कि कोई भी व्यक्ति, जो उन के बलिदान पर जीवित रहना चाहता है, उनसे अधिक योग्य न रह सकेगा। ऐसी हालत में उनका बलि लेना देवदारुकी लकड़ी की रक्षाके लिये चन्दन जलाने के समान होगा।

प्रश्न—एक मनुष्य ऐसा है, जिस पर सैकड़ों का जीवन या उन की उन्नति अवलम्बित है। यह अगर अपनी रक्षाके लिये किसी साधारण मनुष्यका अनिवार्य परिस्थिति में वध करे तो उस का यह कार्य निर्दोष कहा जा सकता है या नहीं ?

उत्तर—इसके लिये चार बातों का विचार करना चाहिये। (अ) मैं हजारोंका अवलम्बन हूँ, इसका निर्णय यह स्वयं न करे किन्तु वह करे, जिसे अपने जीवन का बलिदान करना है। (आ) बलिदान स्वेच्छापूर्वक होना चाहिये। (इ) इस कार्य में आत्मरक्षा का भाव नहीं परन्तु समाज-रक्षाका भाव होना चाहिये। (ई) 'मेरा यह कार्य आत्मरक्षा के लिये है या समाज-रक्षाके लिये' इस प्रकार के संदेह का विषय बनने से तथा दूसरे की बलि के ऊपर अपनी जीवन रक्षा होने से उसे हार्दिक पश्चात्ताप होना चाहिये।

ये शर्तें बहुत कड़ी शर्तें हैं, सूक्ष्म होने से भी इनका पालन बहुत कठिन है। साथ ही ये अपवाद के निर्णय के लिये हैं इसलिये अपने अधःपतन तथा धर्मनीति पर आघात होने की बहुत सम्भावना है। इसलिये बहुत सतर्कता के साथ इस अपवादका पालन होना चाहिये।

प्रश्न—प्रकृति जैसे पशुबल के आधार पर चुनाव करती है तथा इसी मार्ग से विकास होता है, धर्म में भी उसी नीति का अवलम्बन क्यों न किया जाय ?

उत्तर—प्रकृति और धर्म के लक्ष्य में बहुत अन्तर है। विकास सुखरूप ही नहीं होता, दुःख रूप भी होता है। प्रकृति की दृष्टि में सुख और दुःख में कोई अन्तर नहीं है। उसके लिये तो स्वर्ग भी विकास है, नरक भी विकास है। परन्तु धर्म का सम्बन्ध सुख से है, वह स्वर्ग को उन्नति और नरक को अवनति कहता है। प्रकृति की कसौटी को अगर धर्म भी अपना ले तो धर्म की कोई जरूरत नहीं रह जाती है, क्योंकि प्रकृति तो अपना काम अपने आप कर रही है, उसका भूलसुधार अगर धर्म नहीं करना चाहता तो उसकी जरूरत क्या है ? विकास का अर्थ है बढ़ना, धर्म प्रकृति के बढ़ने को नहीं रोकता किन्तु प्रकृति की जो शक्ति नरक की तरफ बढ़ने में खर्च होती है उसे वह स्वर्ग की तरफ ले जाता है, सुख की तरफ ले जाता है। इसलिये प्रकृति की और धर्म की कसौटी में थोड़ा फरक है।

१ प्राणरक्षण व्रत

प्राणघात के तेरह भेदों को समझ लेने पर प्राणरक्षण व्रत या अघातव्रत का रूप ध्यान में आजाता है। साधारणतः यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि प्राणरक्षणव्रती, यथायोग्य साधक वर्धक न्यायरक्षक घात करेगा, आरम्भज स्वरक्षक में मर्यादा रक्खेगा, प्रमादज अविवेकज बाधक तक्षक भक्षक ये पांच घात न करेगा।

इस प्रकार प्राणघात को लेकर प्राणरक्षण व्रत का रूप बतलादिया गया इससे यह पता लगा कि अघातव्रत में किसी किसी घात को भी स्थान है। पर इतना और समझना चाहिये कि अघात व्रत में किसी किसी अघात को भी स्थान नहीं है। जैसे घात होने से ही पाप नहीं होजाता उसी प्रकार अघात होने से ही संयम या पुण्य नहीं हो जाता। कुछ अघात संयम रूप हैं कुछ असंयम रूप हैं कुछ संयम असंयम से सम्बन्ध नहीं रखते। इस प्रकार अघात के भेदों को भी समझ लेने से प्राणरक्षण व्रत का पूरा रूप ध्यान में आजायगा। अघात सात तरह का होता है। १ प्रेमज, २ अशक्तिक, ३ निरपेक्ष ४ कापटिक, ५ स्वार्थज, ६ मोहज, ७ अविवेकज।

१ प्रेमज—विश्वप्रेम, वीतरागता, अकषायता आदि एक ही बात है इसके आधार से जो अघात होता है उसे प्रेमज अघात कहते हैं। प्रेम और मोह में जो अन्तर है वह आचार कांड के दूसरे अध्याय में बता दिया गया है, इसलिये प्रेम के विषय में यहां विशेष नहीं कहाजाता। प्रेमज अघात को बन्धुत्वज अघात भी कहते हैं। यही अघात वास्तविक अघात है।

२ अशक्तिक—मन में तो घात करने का विचार है पर शक्ति न होने से घात नहीं किया जाता है यह अशक्तिक अघात है। बहुत से लोग अपनी कमजोरी को प्रबोधनी लोकसाधना का रूप दिया करते हैं पर उनकी वह लोकसाधना नहीं है अशक्तिक अघात है।

प्रश्न—कमजोरी के कारण रोनेधोने, हाय-हाय करने, गाली देने आदि की अपेक्षा लोक-साधना का रूप बनाना तो अच्छा ही है।

उत्तर—साधारणतः अच्छा है अधिकांश अवसरों पर काफी भी है। पर लोकसाधना नहीं

है। हां, मनसाधना हो अर्थात् अकषायवृत्ति हो तो लोकसाधना हो सकती है। खयाल रक्खो कि हो सकती है, होना जरूरी नहीं है क्योंकि लोकसाधना के लिये परिस्थिति के अनुसार फलाफल-विवेक होना जरूरी है। लोकसाधना कहलाने के लिये निष्फलता के मार्ग में बिना विचारे दौड़ते जाना लोकसाधना नहीं है।

प्रश्न– निष्फलता के मार्ग से डरना क्यों चाहिये, फल की पर्वाह न करना तो कर्मयोग का चिन्ह है।

उत्तर– निष्फलता से कदापि न डरना चाहिये किन्तु निष्फलता से न डरने का मतलब फलाफल का अविवेक नहीं है। सफलता के मार्ग में जाते हुए भी अगर हम सफल नहीं हो सके और हमारा जीवन पूरा हो गया तो इसे असफलता का मार्ग नहीं कहते, मार्ग वह सफलता का ही कहलायगा। कार्लमार्क्स अपना साम्यवाद जीवन में सफल नहीं देख सके पर वह मार्ग असफलता का नहीं था। म. ईसा तथा अन्य महात्मा आदि भी जीवन में सफल नहीं हो पाये थे तो भी उनका मार्ग सफलता का ही था। वे असफलता से निर्भय रहे और सफलता के मार्ग पर चले इसी से वे मनसाधक जीवनसाधक के साथ लोकसाधक भी थे।

प्रश्न– तब तो संहारिणी के स्थानपर प्रबोधिनी लोकसाधना का प्रयोग करनेवाला भी सुपथपर कहलायगा क्योंकि कभी न कभी तो थोड़े बहुत अंशों में सफलता होगी ही।

उत्तर– सफलता असफलता के मार्ग का निर्णय ध्येय के अनुसार होता है। एक आदमी का ध्येय है मानव समाज को अधिक से अधिक ईमानदार बनाना है, इसलिये वह आदर्शदर्शनी लोकसाधना करता है तो यह उचित है अगर जीवन भर वह सिर्फ एक आदमी को ही ईमानदार बनापाया अथवा अगर वह सिर्फ अपने को ही ईमानदार बनापाया तो भी हम कहेंगे कि वह सफलता के मार्ग पर था और अमुक अंशों में सफल हुआ। परन्तु मानलो उस आदमी से किसी ने कहा कि यहाँ गुंडे बदमाश बहुत आते हैं इसलिये तुम इस सती साध्वी नारी के सतीत्व की रक्षा करना, उसने उसके सतीत्व के रक्षण का भार अपने ऊपर लेलिया और जब गुंडे आये तब संहारिणी का उपयोग न करके वैफल्य-दर्शनी और प्रेमदर्शनी आदि प्रबोधिनी लोक-साधनाओं का उपयोग करने लगा, गुंडों को यह सिखाने के लिये कि सतीत्व भंग करने में सच्चा सुख नहीं है उसने सतीत्व भंग करने दिया और जब गुंडे अत्यचार करके कुछ सीखे बिना ही चले गये तब सोचने लगा—'अच्छा, आज तो इन्हें मैं कुछ नहीं सिखापाया कल फिर इन्हें इसी तरह सिखाऊंगा, कभी न कभी ये सीख ही जाँयगे, अगर मैं न सिखा पाऊंगा तो मेरी सन्तान सिखायेगी' यहाँ लोकसाधना असफल ही नहीं है असफलता के मार्ग में भी है। यह मूढ़ता है अविवेक है। ऐसे अवसर पर अशक्ति हो तो प्रबोधिनी लोकसाधना का ढोंग करने की अपेक्षा गाली देना चिल्लाना आदि अच्छा। इससे इतना ही होगा कि काफी संहारिणी साधना न होगी पर कुछ तो होगी, दंभ तो न होगा। इसीलिये चिल्लाने रोने धोने की अपेक्षा प्रबोधिनी लोकसाधना को मैंने साधारणतः अच्छा कहा है क्योंकि कभी कभी पाप के विरोध में चिल्लाना आदि अच्छा ही होता है।

कमजोरी की ओट में प्रबोधिनी लोकसाधना का रूप दिखाना कभी कभी कुछ अच्छा भले ही हो पर वह साधना नहीं है संयम नहीं है, बहुत से बहुत वह चतुराई है।

३ निरपेक्ष—जिनके घात से हमारा कुछ मतलब नहीं निकलता उनका घात न करना निरपेक्ष अघात है। एक आदमी को कौवे का मांस पसन्द नहीं है इसलिये वह कौवे का शिकार नहीं करता यह निरपेक्ष अघात है, यह भी संयमरूप या प्राणरक्षणव्रत रूप नहीं है।

प्रश्न—एक पौराणिक कथा है कि एक भील को एक साधु ने दया धर्म का उपदेश दिया। भील का धंधा शिकार था इसलिये वह प्राणरक्षण व्रत स्वीकार न कर सका पर साधु के कहने से उसने यह सोचकर कौवे का मांस छोड़ दिया कि उसे कौवे का मांस पसन्द नहीं है। कथाकार ने उस भील की तारीफ की और उसका फल भी अच्छा बताया। जब यह संयमरूप नहीं है तो कथाकार ने भील का समर्थन क्यों किया ?

उत्तर—कौवे के मांस का निरपेक्ष त्याग तो संयम नहीं था, पर भील को प्रतिज्ञा लेने की आदत पड़ी, बन्धन ढीला ही क्यों न हो पर उसमें वह बँधा, यह तारीफ की बात है। और जब एक वैद्य ने दवामें कौवे का मांस बताया पर प्राणत्याग देने पर भी उसने उसे स्वीकार न किया तब वह निरपेक्ष अघात न रहा प्रेमज अघात बनगया इसलिये कथाकार ने भील का समर्थन किया।

मनुष्य को संयम की तरफ झुकाने के लिये निरपेक्ष अघात की भी प्रतिज्ञा दिलाई जाय तो संयम की शिक्षणप्रणाली की दृष्टि से उचित हो सकती है। पर जब तक वह प्रेमज अघात नहीं बन जाता तब तक उसे संयम नहीं कह सकते।

४ कापटिक—स्वार्थ के लिये अघात का ढोंग करना कापटिक अघात है। अघात के ढोंग के कई कारण हो सकते हैं, कोई महान घात कराना या अपनी लापर्वाही कायरता आदि छिपाना, अहंकार का पोषण करना आदि।

जैसे इस आशय से किसी योग्य चिकित्सा में सूक्ष्म प्राणियों के घात का बहाना बनाना कि अगर यह जिन्दा रहेगा तो अमुक काम में बाधक होगा इसलिये जितनी जल्दी यह मरजाय उतना अच्छा। यहां उसे मार डालना लक्ष्य है पर सूक्ष्म प्राणियों के अघात का बहाना है यह कापटिक अघात है।

अपने को पुजवाने के लिये, दूसरों को धोखा देकर धन लूटने के लिये सूक्ष्म अघातों को जरूरत से ज्यादा महत्व देना भी कापटिक अघात है।

प्रश्न--किसी ने अमुक प्रकार का शान्तिमय पवित्र जीवन बिताने का निश्चय किया हो इसलिये वह किसी के काम में न पड़ता हो अर्थात् उत्कट संन्यास योगी हो तो क्या उसके अघात को भी कापटिक अघात कहा जायगा ?

उत्तर— सन्यास योगी में कपट नहीं होता उसका कोई अनुचित स्वार्थ नहीं होता इसलिये उसमें कापटिक अघात नहीं माना जाता। अघात कापटिक है या प्रेमज इसका निर्णय उसके परिणामों पर निर्भर है। कापटिक अघात असंयम है पाप है।

५ स्वार्थज--घात करने में स्वार्थ का नाश होता है इसलिये घात नहीं करना स्वार्थज अघात है। एक कसाई भी अपनी दुधारू गाय को नहीं मारता, यह स्वार्थज अघात है। इस का संयम असंयम से कोई सम्बन्ध नहीं। यह विनिमय व्यवहार है।

६ मोहज—मोह के कारण किसी का घात न करना मोहज अघात है। पशुपक्षी भी मोह के कारण अपनी सन्तान की रक्षा करते हैं। यह न तो संयम है न असंयम।

७ अविवेकज--अन्धश्रद्धा आदि के कारण घात अघात की मात्रा का विचार न करके ऐसा अघात करना जो अधिक घात पैदा कर जाय यह अविवेकज अघात है। जैसे—प्राणिघात के डर से शरीर की या घर की आवश्यक सफाई भी न करना गंदकी से भले ही कई गुणी प्राणिहिंसा होती रहे।

इन सात प्रकार के अघातों में प्रेमज अघात ही वास्तविक अघात है संयमरूप है। अशक्तिक निरपेक्ष स्वार्थज मोहज का संयम से कोई सम्बन्ध नहीं पर इन्हें निंदनीय भी नहीं कह सकते। अविवेकज कुछ निंदनीय है जब कि कापटिक पूरी तरह से निंदनीय है।

इस प्रकार प्राणरक्षण व्रत घात अघात का समन्वय है जो कि विवेक के द्वारा किया जा-सकता है।

२ ईमान या अचौर्यव्रत

प्रत्येक प्राणी को प्राणों के बाद अगर सब से अधिक महत्त्व की कोई चीज मालूम होती है तो वह अर्थ अर्थात् धनादि है। अर्थ का मतलब सिर्फ रुपया पैसा ही नहीं है किन्तु वे सब चीजें हैं जो हमारे काम की हैं और चुराई जा सकती हैं। इसके अनुसार अन्नपान घरद्वार जमीन रुपया पैसा आदि के साथ यश भी अर्थ है क्योंकि यह भी काम जीवार्थ का अंग है। अर्थ शब्द का मतलब यहाँ ऐसा ही व्यापक है। यह अर्थघात भी दुःख का कारण है इसलिये यह भी हिंसा है और इस का त्याग अहिंसा है।

यहाँ भी इस बात का खयाल रखना चाहिये कि बाहरी अर्थघात से ही अर्थघात का पाप न होजायगा। उस में व्यवहारपञ्चक के अनुसार विचार करना होगा। अर्थघात अगर वर्धन या रक्षण के लिये किया जाय तो वह पाप न होगा, विनिमय के लिये किया जाय तो क्षम्य होगा तक्षण भक्षण के लिये किया जाय तो पाप होगा।

इस व्यवहारपंचक के साथ प्राणघात की तरह तेरह भेदों में भी अर्थघात का विवेचन किया जा सकता है। यद्यपि अर्थघात के पाप को अच्छी तरह समझने के लिये वह विशेष उपयोगी नहीं है फिर भी कुछ साधारण परिचय के लिये उन तेरह भेदों में अर्थघात का विवेचन कर दिया जाता है।

१ साधक--सत्याग्रह आदि में सम्पत्ति खर्च करना कराना साधक अर्थघात है।

२ वर्धक--दान वगैरह में सम्पत्ति खर्च करके विश्वसुख की वृद्धि करना कराना।

३ न्याय रक्षक--उचित दंड या प्रायश्चित्त के रूप में सम्पत्ति लेना।

४ सहज--सहज प्राणघात की तरह सहज अर्थघात नहीं होता क्योंकि जैसे अपने जीवन को टिकाये रखने के लिये दूसरे के प्राणों का प्राकृतिक नियम के अनुसार नाश करना पड़ता है वैसा अर्थघात नहीं करना पड़ता अर्थ व्यवस्था

प्राकृतिक नहीं सामाजिक है इसलिये सूक्ष्म अर्थघात अर्थघात ही नहीं माना जाता है। जैसे मैंने अपने बगीचे में फुलवाड़ी लगाई उसकी गंध बगीचे के बाहर भी जा रही है और उसका उपयोग दूसरे लोग भी कर रहे हैं तो भी यह अर्थघात न कहलाया। बाहर से मेरे बगीचे की गंध लेनेवाला चोर नहीं कहलाता है। इस प्रकार समाजने अगर कहीं चोरी ठहराई ही हो तो वह सहजघात न कहलायगा, भक्षक कहलायगा।

५ **भाग्यज**-- प्राणघात की तरह। अन्तर इतना ही है कि वहाँ बम आदि से प्राण-नाश है यहाँ धन-नाश है।

६ **भ्रमज**-- भ्रम से सम्पत्ति का नाश होजाना। कोशिश की जाय धनके वर्धन और रक्षणके लिये, और होजाय नाश तो यह भ्रमज अर्थघात कहलायगा। अच्छा भोजन बनानेके लिये कोशिश की किन्तु गल्ती से हो गया खराब।

७ **आरम्भज**-न्यायोचित उद्योग तथा जीवन-निर्वाह के लिये होनेवाला दूसरों का अर्थनाश आरम्भज अर्थघात है। अगर हम बाज़ार में कोई दूकान लगाते हैं तो अवश्य दूसरे दूकानदारों के कुछ न कुछ ग्राहक खींचकर उनका अर्थघात करते हैं पर इसके बिना चल भी नहीं सकता, जीविका के क्षेत्र में इस प्रकार का अर्थघात स्वाभाविक है और भी उदाहरण मिल सकते हैं। जैसे गायों आदि से दूध लेना।

८ **स्वरक्षक**--अपने न्यायोचित रक्षण के लिये दूसरे का अर्थघात करना पड़े तो स्वरक्षक घात है। जैसे-कोई अपने धनबल से हमें लूटना चाहता है अथवा कोई साम्राज्यवादी राष्ट्र हमें अपनी पूँजी से चूसना चाहता है तो उसकी सम्पत्ति का अपहरण करलेना स्वरक्षक अर्थघात है।

९ **प्रमादज**--लापर्वाही से किसी की चीज़ नष्ट कर देना आदि प्रमादज अर्थघात है।

१० **अविवेकज**-- अन्धश्रद्धा आदि के कारण अपनी या पराई सम्पत्ति इस प्रकार खर्च करना जिससे मानव जीवन को कोई लाभ न हो और वह सम्पत्ति व्यर्थ जाय। जैसे अच्छे अच्छे खाद्य पदार्थ धर्म के नामपर आगमें जला डालना आदि।

प्रश्न---होम हृदय के आकर्षण के लिये और वायुशुद्धि के लिये उपयोगी है।

उत्तर--जितने अंश में उपयोगी हो उतने अंश में करना चाहिये पर इन तीन बातों का ख़याल रखना चाहिये (१) खाद्य पदार्थ या अन्य उपयोगी पदार्थ न जलाये जाँयँ (२) जितना जलाना वायुशुद्धि के लिये उपयोगी हो उतना ही जलाया जाय (३) वायुशुद्धि के लाभ से अधिक दूसरा कोई नुक़सान न होजाय। अगर इन तीन बातों के अनुसार होम ठीक न मालूम हो--सिर्फ़ लोगों के चित्ताकर्षण के लिये ही उपयोगी हो तो यथासाध्य शीघ्र दूसरे किसी क्रियाकांडसे लोगों का चित्ताकर्षण किया जाय और होम --विषयक उनकी भावना बदली जाय।

११ **बाधक**-- स्वार्थवश अपना दोष ढँकने के लिये, दण्ड या प्रायश्चित्त से बचने के लिये पैसा लुटाने लगना, चीज़ों की तोड़ फोड़ करने लगना आदि बाधक अर्थघात है।

१२ **तक्षक**-- अहंकार या द्वेषवश दूसरों की सम्पत्ति नष्ट करना, यश नष्ट करना आदि तक्षक अर्थघात है।

१३ **भक्षक**--चोरी, डकैती आदि भक्षक अर्थघात हैं।

अर्थघात के तेरह भेद यहां संक्षेप में दिये गये हैं। प्राणघात के तेरह भेदों के अनुसार इनका अच्छाबुरापन समझ लेना चाहिये। पर जीवन-व्यवहार में अर्थघात के पाप से बचने के लिये इतना विवेचन काफ़ी न होगा। अर्थघात के विचार का ख़ास मुद्दा यह है कि लोग चोरी से बचें। बहुत से आदमी चोरी से बचना चाहते हैं पर कुछ चोरियों को चोरी नहीं समझते-साधारण व्यवहार ही समझते हैं। उन्हें चोरी के भेद-प्रभेदों से अपनी चोरी मालूम होजायगी और उस चोरी के दुष्परिणाम से भी परिचित होजाँयँगे।

चोरी के भेद हमें दो तरह से करने होंगे एक तो चोरी के पदार्थ की दृष्टि से, दूसरे चोरी करनेके तरीक़े की दृष्टि से। दोनों ही बातोंमें बहुत से लोगों को भ्रम होजाता है। कोई कोई लोग अमुक पदार्थ की चोरी को चोरी नहीं समझते कोई कोई अमुक तरीक़े को चोरी नहीं समझते। पर उनके न समझने से चोरी का परिणाम रुक नहीं जाता इसलिये दोनों दृष्टियों से चोरी के भेद समझलेना चाहिये और उनका त्याग करना चाहिये।

वस्तुकी दृष्टि से चोरी या चोर के चार भेद हैं १– धनचोर, २–नामचोर, ३– उपकारचोर, ४–उपयोग चोर।

इन चारों का अर्थ सरल है। किसी भौतिक वस्तु को चुरानेवाला धनचोर है। किसी का यश छीनलेनेवाला, दूसरे की कृति को अपनी कृति बनानेवाला नाम-चोर है। अपने ऊपर किये गये उपकार को स्वीकार न करने वाला अर्थात् कृतघ्न व्यक्ति उपकारचोर है। किसी वस्तु को चुराया तो न जाय किन्तु उसका चोरी से उपयोग कर लिया जाय यह उपयोग चोरी है। जो उपयोग सर्वसाधारण के लिये खुला हुआ हो या ख़ास तौर से अपने लिये खुला हुआ हो, जैसे किसी के बगीचे में सैर करना आदि, इस से कोई उपयोगचोर नहीं कहलाता।

चोरी के ढंग की दृष्टि से चोर के छः भेद हैं।

१– छन्नचोर, २ नज़रचोर, ३ ठगचोर, ४ उद्घाटकचोर, ५ बलात्चोर, ६ घातकचोर।

ऊपर कही गई चार प्रकार की वस्तुओं की चोरी छः छः तरह से होती है इसलिये चोरी के या चोरों के चौबीस भेद होजाते हैं। पहिले धन के विषय में ही ये भेद लगाये जाते हैं।

१--धन का छन्नचोर वह है जो वास्तव में चोर तो है पर उसके चोरपन पर व्यावहारिक सुविधा का ऐसा आवरण पड़ जाता है कि उसे चोर नहीं कहाजापाता। पर कह भले ही न सकें लेकिन उससे हमारा दिल चौकन्ना रहता है। जैसे झूठा बहाना बनाकर भीख माँगना। यहाँ चोरी का रूप है पर उसके ऊपर व्यवहार का ऐसा आवरण पड़ा है कि ऐसी चोरी करनेवाले चोरों में नहीं गिने जाते या सहज ही आरोपसे बचजाते हैं। छन्न चोर कई तरह के होते हैं (क) विनिमयचोर (ख) विभागचोर (ग) अनुज्ञा चोर (घ) भिक्षाचोर (ङ) कणग्राहकचोर (च) प्रमादचोर (छ) उरणचोर (ज) विस्मृतिचोर (झ) मौनचोर (ञ) शब्दश्लेषचोर आदि।

[क] विनिमयचोर--मूल्य पूरा लेना पर उसका बदला पूरा न देना अर्थात् जितना जैसा माल ठहराया है उतना वैसा माल न देना। माप तौल में गड़बड़ करना, धोखे से मिलावटी चीज़ देना आदि विनिमय चोरी है। इसी प्रकार मज़दूरी या नौकरी पर जाना पर मालिक की नज़र बचाकर काम न करना, जिस वेग से काम करना चाहिये उस वेग से न करना आदि भी विनिमय चोरी है।

वस्तुओं के विनिमय में या परिश्रम के विनिमय में थोड़ी बहुत न्यूनाधिकता हो ही जाती है। काम का वेग एक सरीखा नहीं रहता, दो चार मिनिट के लिये हाथ ढीला पड़ जाना या रुक जाना स्वाभाविक है पर इस स्वाभाविकता की ओट में मुफ्तखोरी छिपाना, आलस्य छिपाना, लोभ मोह छिपाना चोरी है । स्वाभाविकता के बहाने से वह अपना शाब्दिक बचाव कर जाता है पर दूसरे का नुक़सान तो होता ही है उससे वह दुःखी भी होता है इसलिये यह चोरी छन्न होने पर भी समाज के दुःख आदि तो बढ़ाती ही है। दूकानदारों की धूर्तता से बचने के लिये ग्राहकों को चौकन्ना रहना पड़ता है। समय और शक्ति बर्बाद करना पड़ती है मज़दूरों के कामचोरपन से रक्षित रहने के लिये महँगे निरीक्षक रखना पड़ते हैं फिर भी कामचोर अपना चोरपन दिखाते ही हैं इसलिये असन्तोष रहता है। इससे मज़दूरों की या दूकानदार आदि की इज्ज़त जाती हैं ग्राहक या काम करानेवाले की हानि होने से द्वेष, खेद आदि बढ़ते हैं। इस प्रकार यह छन्न चोरी मानव समाज के बहुत कष्ट बढ़ाती है, अविश्वास और द्वेष बढ़ाती है, पारस्परिक सन्मान नष्ट करती है। इसके साथ विनिमय की दर भी गिरजाती है ग्राहक मूल्य कम देता है, मालिक मज़दूरी कम देता है। इस प्रकार विनिमय चोरों का अर्थलाभ नष्ट सा ही होजाता है पर सामूहिक रूपमें मनुष्य समाज में अशान्ति द्वेष अविश्वास आदि बढ़कर दुःख बढ़ जाता है।

जो लोग साधुता की और सेवा की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेलेते हैं पर उसे पूरी तरह निभाते नहीं हैं वे भी विनिमयचोर हैं। यद्यपि साधुता के नामपर वे समाज से कम से कम लेते हैं परन्तु कार्य में इतने ढीले हैं कि वह कम से कम, अधिक से अधिक बनजाता है फिर भी कम से कम का दावा चालू रहता है। बहुतसी साधु संस्था के सदस्यों में, संस्थाओं के कार्यकर्ताओं में यह बीमारी पाई जाती है या आजाती है। ऐसे आदमियों को उतनी ही जिम्मेदारी लेना चाहिये जितनी वे बिना खेद के निभा सकें और फिर उसके बाजारू मूल्य से कम मूल्य लें तब तो उनकी साधुता या सेवकता है अन्यथा विनिमय चोरी है। अपने पहिले के जीवन से अधिक आरामतलब, कोमल, तुनकमिजाजी बन जाना, छोटे से छोटे बहाने की ओट में अकर्मण्यता का पोषण करना आदि विनिमय चोरी के कारण हैं। इससे साधुता और सेवकता कलंकित होती है, हमारा जीवन बोझ बनता है, अपयश और तिरस्कार भी सहना पड़ता है, अंत में संस्था नष्ट या नष्टप्रायः होजाती है, हमारा पतन होता है और समाज की हानि होती है।

किसी के संकोच का अनुचित लाभ उठाना भी विनिमय चोरी है, जैसे कोई जानपहिचान का मित्र आया और उससे साधारण ग्राहक से भी अधिक मूल्य लेलिया क्योंकि वह संकोचवश अधिक बात कह नहीं सकता यह विनिमय चोरी है। एकबार एक भाईने एक दूकानदार से कहा आज तो तुम्हारी काफ़ी बिक्री हुई। दूकानदार ने उत्तर दिया। हुई तो मगर उससे क्या, कोई जान पहिचान का ग्राहक तो आया ही नहीं। इस प्रकार के संकोचलाभी विनिमयचोर हैं।

किसी के संकट का अनुचित उपयोग कर लेना भी विनिमय चोरी है। जैसे एक आदमी भूख से तड़प रहा है, उसके पास पैसा है पर खाद्य पदार्थ नहीं है उसकी इस परिस्थिति को

जानकर भोजन के बदलेमें मनमाना दाम वसूल करना।

प्रश्न—अर्थशास्त्र का नियम है कि जब माल कम होता है और आवश्यकता अधिक होती है तब चीज का मूल्य बढ़जाता है, इस नीति के अनुसार मौके पर अधिक मूल्य लेना अनुचित नहीं है।

उत्तर—अर्थशास्त्र के नियम के अनुसार बाज़ार में जो साधारण उतार-चढ़ाव होता है उसका सम्बन्ध विनिमयचोरी से नहीं है विनिमयचोरी वहाँ है जहाँ हम व्यक्तिविशेष की कठिनाई से अनुचित लाभ उठाते हैं। ऐसे अवसर पर अगर हम उसे कुछ सहायता न करें तो अनुचित लाभ उठाकर पाप न कमाना चाहिये।

(ख) विभागचोर— कोई चीज़ बाटने के लिये किसी आदमी के हाथ में दी, वह सब को बाँटने लगा पर लेनेवालों में उसके कुछ कुटुम्बी या मित्रजन बैठे थे उन्हें उसने काफ़ी अधिक हिस्सा दिया, खुदभी ऐसा ही किया, बाकी सबको थोड़ा थोड़ा दिया यह विभागचोरी है। इस प्रकार के बाँटनेमें थोड़ी बहुत न्यूनाधिकता हो ही जाती है पर उस सहज न्यूनाधिकता की ओट में मोह-वश मनुष्य जो पक्षपात करजाता है वह अपमान द्वेष ईर्ष्या खेद आदि पैदा कर सहयोग के टुकड़े टुकड़े कर देता है। गृह-कलह आदि के मूल में प्रायः यह विभागचोरी हुआ करती है, इसके दुष्परिणाम काफ़ी विशाल होते हैं।

एक बार इसी तरह एक कुटुम्ब का विच्छेद हो गया था। दो भाई थे। दोनों के एक एक पुत्र था। एक बार घर में अमरूद आये। एक भाई एक अमरूद उठा कर दोनों लड़कों को बाँटने लगा। दोनों लड़के उसके दोनों तरफ़ बैठगये। हँसिया से अमरूद के दो टुकड़े किये गये तो दाहिने हाथ में जो टुकड़ा आया वह कुछ बड़ा था और बायें हाथ का छोटा, साधारणतः उसे दाहिने हाथ का टुकड़ा दाहिनी तरफ़ बैठे लड़के को और बायें हाथ का टुकड़ा बायीं तरफ़ बैठे लड़के को दे देना चाहिये था पर मुश्किल यह हुई कि दाहिनी तरफ़ उसके भाई का लड़का था और बाईं तरफ उसका लड़का था इसलिये उसने हाथ बदलकर दाहिने हाथ का बड़ा टुकड़ा बायें तरफ बैठे हुए अपने लड़के को दिया और बायें हाथ का छोटा टुकड़ा दाहिने तरफ बैठे हुए भतीजे को दिया। दूसरा भाई दूर पर खड़ा था उसकी नजर में यह घटना आगई तब उसने कहा-भाई, अब हमारे तुम्हारे बीच में भेदभाव का पाप घुस गया है इसलिये बटवारा करके अब अपने को अलग अलग होजाना चाहिये, इस प्रकार वे अलग हो गये।

बड़ा भाई समझदार था इसलिये दोनों शान्ति से अलग अलग होगये अन्यथा अविभक्त कुटुम्बों में होता यह है कि ऐसी ऐसी बातें कोई मुँह से नहीं कहता उनका बदला दूसरे रूप से निकालने लगता है। इस प्रकार पक्षपात का इतना दौरदौरा होजाता है तथा एक तरह की लूटमार-सी मच-जाती है कि बाद में सिरफुटौवल और न्यायालय के झगड़ों में उसका रूप दुनिया देखती है। और अन्तमें एक दूसरे के भयंकर शत्रु बन-कर उस कुटुम्ब के चिथड़े चिथड़े होते हैं। इस सबके मूलमें विभागचोरी है।

प्रश्न—कुटुम्ब में पूर्णरूपमें सम--विभाजन नहीं हो सकता है। जो अधिक सेवा देता है या जो कुटुम्ब का मुखिया है, गुरुजन है, पूज्य है,

अथवा कुछ कारणों से जिसकी आवश्यकता बहुत है ऐसे व्यक्ति के साथ विनय और कृतज्ञतावश कुछ विशेष रियायत करना पड़ती है। अगर इसे विभागचोरी कहा जाय तो घर का काम चलना मुश्किल हो जायगा।

उत्तर—यथायोग्य विभाजन का नाम विभागचोरी नहीं है। जहाँ कौटुम्बिकता है वहाँ इस प्रकार की विषमता किसी को न तो असह्य होती है न किसी के मन में विकार होता है, मौनरूप में सर्व-सम्मति या बहुसम्मति इसका समर्थन करती है, ऐसी घटनाओं में विभागचोरी नहीं है। यहाँ तो औचित्यका ख़याल रक्खा जाता है, विनय का खयाल रक्खा जाता है। विभागचोरी में मोह की इतनी प्रबलता रहती है कि वहाँ न्याय-अन्याय, विनय-अविनय का विवेक नहीं रहता।

प्रश्न—विभाग में अगर ग़रीबों को— दीन दुःखियों को अधिक दिया जाय तो इसे क्या विभागचोरी कहेंगे?

उत्तर—यहां चोरी हो भी सकती है और नहीं भी। अगर मालिक से छिपाने का भाव नहीं है और न यश या धन्यवाद लूटने का भाव है, बल्कि ग़रीबों का आशीर्वाद खुद न लेकर मालिक को दिया जाता है और इसके लिये कहा जाता है कि इसमें हमारी क्या बड़ाई है, हम तो सिर्फ़ बाँटनेवाले हैं उपकार तो उसका है जो इस माल को बँटवाता है आदि, तो गरीबों के साथ पक्षपात करना पुण्य ही है। अगर दूसरे के मालपर यश लूटने की इच्छा है, और यह कहा जाता है कि मालिक तो अधिक देना ही नहीं चाहता यह तो मैं हूं जो तुम्हें अधिक देरहा हूँ, तो यह विभाग-चोरी है। जहाँ मोह, अभिमान और छल है, वहां विभागचोरी है। जहाँ ये नहीं हैं, प्रेम विनय सफ़ाई और निर्भयता है वहां विभागचोरी नहीं है।

(ग) अनुज्ञाचोर—मालिक की अनुज्ञा की पर्वाह न करके बेतकल्लुफी के नामपर दूसरे की चीज़ ले लेना अनुज्ञा चोरी है।

एक श्रीमान् जी जो ज़रूरत से ज्यादा कंजूस थे भोजन करने के बाद एक गरीब आदमी के यहां तुरंत पहुँचते और सरौता माँगकर तुरंत सुपारी खाजाते। दो चार दिन तो बेचारे गरीब आदमीने सेठजी की कृपा समझी, सरलता समझी पर सेठजी का यह क्रम चलता ही रहा। अन्तमें गरीब आदमी को बहाने करने पड़े और सेठजी से सुपारी बचाये रखने के लिये ऐसा ही सतर्क होना पड़ा जैसे चोर से सुरक्षित रहने के लिये होना पड़ता है। बेतकल्लुफी अच्छी चीज़ है पर इतनी मात्रामें न होना चाहिये कि दूसरा डर जाय और उसे बेतकल्लुफी से बचने के लिये प्रयत्न करना पड़े। बेतकल्लुफी के नामपर किसी की चीज उसकी इच्छा के बिना लेलेना और उसे ऐसी परिस्थितिमें डालना जिससे वह मना न कर सके एक तरह की चोरी है।

प्रश्न—व्यवहार में तो ऐसा चलता ही है इसे चोरी क्यों कहना चाहिये? बात बात में तकल्लुफ करने से तो मनुष्य अहंकार का पुतला बन जायगा।

उत्तर—बात बात में तकल्लुफ करना अति-वाद है और बिलकुल बेतकल्लुक होजाना भी अतिवाद है। कर्तव्य निरतिवाद है। अगर हम थोड़े से भी विवेक से काम लें तो हमें यह समझने में देर न लगेगी कि कितनी बेतकल्लुफी दूसरे को अच्छी लगरही है या वह प्रसन्नता से सहसकता है बस उतनी बेतकल्लुफी अनुज्ञाचोरी नहीं है।

पर जहाँ हमारे मनमें लोभ है, ठगने की वृत्ति है छिपाने की भावना है उतने अंश में चोरी है। क्योंकि जिसकी चीज लीजाती है उसे करीब करीब वैसा ही कष्ट होता है जैसा चीज चुराये जाने पर होता है।

(घ)–भिक्षाचोर– अकर्मण्यता आलस्य आदि के कारण भिक्षा को एक जीविका बनालेना, झूठी जरूरत बताकर लोगों से धन माँगलेना आदि भिक्षाचोरी है। जो भिक्षा विनिमय के सिद्धान्त पर खड़ी है या साधुता के लिये है वह भिक्षाचोरी नहीं है। पुराने समय में ब्राह्मण वर्ग जब समाज को निःशुल्क विद्यादान करता था और समाज से भिक्षा लेता था वह विनिमय का एक तरीका था–भिक्षा नहीं। समाजसेवी साधु भी भिक्षा लें तो भी यह एक तरह का विनिमय होगा–भिक्षा नहीं। पर अपनी झूठी दीनता बताकर जो लोगों से धन ऐंठते हैं वे भी भिक्षाचोर हैं। भिक्षा माँगने के लिये जो साधु वेष लेलेते हैं वे भी भिक्षाचोर हैं। गुदड़ियों में धन रखकर भिक्षा माँगनेवाले, अपने बच्चों को अनाथ कहलवाकर भिक्षा मँगवानेवाले, अंगभंग का ढोंग करनेवाले आदि भिक्षाचोर हैं।

मतलब यह है कि भिक्षा जहाँ विनिमय के लिये है या साधुता पर खड़ी है, अथवा अयोग्यता आदि के कारण भिक्षा के सिवाय जीवन निर्वाह का कोई साधन नहीं रहगया है अथवा सब कोशिश करने पर भी नौकरी मजदूरी आदि नहीं मिलती है जब कि वह सब तरह के परिश्रम करने को तैयार है, ऐसी हालत में भिक्षा माँगना भिक्षाचोरी नहीं है अन्यथा भिक्षाचोरी है।

(ङ)–कणग्राहीचोर–नमूना देखने के बहाने या और किसी बहाने कण कण-थोड़ा थोड़ा-इकट्ठा करना और उससे जीविका चलाना कणग्राही चोरी है। बहुत से आदमी खरीददार या व्यापारी बनकर दूकानों पर जाते हैं, मुट्ठी-आधी मुट्ठी अनाज लेकर भाव वगैरह पूछते हैं और नमूने के बहाने वह मुट्ठीभर अनाज रखलेते हैं इस प्रकार बीसों दूकानों से काफ़ी अनाज इकट्ठा करलेते हैं वे कणग्राहीचोर हैं।

च–प्रमादचोर–अपने प्रमाद से दूसरे के धनको अनावश्यक खर्च करनेवाले या लापर्वाही से खर्च करनेवाले, रक्षण की जिम्मेदारी लेकर भी रक्षण न करनेवाले प्रमादचोर हैं।

अगर हमें कहीं का प्रबन्धक बनादिया जाय और यह सोचकर कि अपना तो कुछ खर्च होता नहीं है मालिक की इच्छा के बाहर मनचाहा खर्च करें तो हम प्रमादचोर हैं।

प्रश्न–घरमें हम कैसे भी रहें पर बाहर तो हमें सभ्यता के खयाल से कुछ उदारता का परिचय देना ही पड़ता है। प्रबन्धक बनने पर भी हमें ऐसा ही काम करना पड़ता है। इसमें प्रमाद-चोरी क्या हुई?

उत्तर–घरकी बातमें हम जितने चाहें उतने उदार बन सकते हैं पर दूसरे के खर्च की जिम्मेदारी जब हमारे ऊपर हो तब हमें सतर्कता के साथ कमसे कम खर्च करना चाहिये। हां, अवसर अवश्य देख लेना चाहिये, साथ ही जो उस धन का असली स्वामी है या हमसे ऊपरी अधिकारी है उसकी इच्छा का भी ख़याल रखना चाहिये। कंजूसी से कार्य को बिगाड़ना न चाहिये। समारोह के अवसर पर साधारण उदारता आजाना एकबात है पर अपने बाप का क्या जाता है, ऐसा समझकर भुखमरे के समान; लुटेरे के समान एक

उड़ाऊ खाऊ ऐयाश आदमी के समान खर्च करने लगना दूसरी बात है। यह प्रमादचोरी है।

इसी प्रकार दूसरे की चीज उपयोग के लिये मिलने पर उसको लापर्वाही से नष्ट कर डालना आदि भी प्रमादचोरी है। उसे अपनी चीज के समान या उससे भी अधिक सतर्कता से सँम्भालकर रखना चाहिये।

प्रश्न—अगर कोई अपनी चीज के उपयोग में भी प्रमादी हो लापर्वाह हो तो क्या उसे भी प्रमादचोर कहेंगे। परन्तु इसमें उसका अपराध तो कुछ भी नहीं है?

उत्तर— थोड़े बहुत अंशमें प्रमाद हर एक आदमी में होता है, इस साधारण प्रमाद से अधिक प्रमाद जिस मनुष्य में हो उसका कर्तव्य है कि दूसरे की चीज उपयोग के लिये उधार न माँगे। अगर माँगे तो क्षतिपूर्तिका का खयाल रक्खे। अगर किसी ऐसे आदमी से वह चीज लेना हो जिसके साथ क्षतिपूर्तिका व्यवहार उचित न होगा तो उसे चाहिये कि उससे कदापि उधार न ले, खरीदकर ही उस चीज का उपयोग करे। अन्यथा वह प्रमादचोरी ही समझी जायगी क्यों कि उसका परिणाम चोरी के समान ही होता है। साधारण चोर की तरह प्रमादचोर से भी लोग अपनी वस्तु छिपाने लगते हैं, सतर्कता के कारण चिन्तित रहते हैं उतने अंश में सहयोग से भी बचते हैं और कुछ घृणा आदि भाव भी पैदा हो जाते हैं।

(छ) उऋणचोर—ऋण न चुकाकर या पूरा ऋण न चुकाकर अपने को उऋण मनवालेना या कहना उऋणचोरी है। जैसे हमने किसी से ऋणलिया किन्तु देनेवाला भूल गया उसकी विस्मृति का उपयोग करके हमने अपने को उऋण (जिसने ऋण चुका दिया हो) मान लिया या प्रगटकिया, अथवा किसी से कोई चीज ली और देते समय कम दी और शब्दों से या व्यवहार से प्रगट किया कि हमने तुम्हारी चीज ली थी सो देदी अब हम उऋण हैं। उऋणचोर से संकोचवश या प्रगट प्रमाण न होने से कोई मुँहपर भले ही कुछ न कहे पर चोर से डरने की तरह डरने तो लगता ही है इसलिये उऋणचोर भी चोर है।

(ज) विस्मृतिचोर—अपने यहां कोई अतिथि आदि कोई वस्तु भूल गया हो तो अपने को याद आनेपर भी याद न दिलाना वापिस करने का अवसर होने पर भी वापिस न करना, सोचना कि भूल जाय ता अच्छा, यह चीज मेरे काम आयगी, यह विस्मृतिचोरी है। इसमें भी दूसरे का धन हरने की वृत्ति है।

(झ)—मौनचोर— मेरी चीज नहीं है पर किसी ने भ्रमसे समझ लिया कि मेरी है और पूछा क्या आप की है? मैं इस तरह चुप रहा कि वह समझे मेरी है और अगर पोल खुले तो कह सकूं कि मैंने कब कहा था कि मेरी है? यह मौन चोरी है।

(ञ)-शब्दश्लेष चोर—मेरी चीज न हो पर मेरी समझ कर कोई पूछे और मैं ऐसा उत्तर दूं जिससे मौके मौकेपर दोनों अर्थ निकल सकें। जैसे किसी मित्रकी चीज को अपनी कहना और सोच लेना कि पोल खुलने पर कहदूंगा कि मैंने तो तुम्हारी चीज की रक्षा करने के लिये अपनी कहदी थी अथवा तुम्हें मैंने अपना ही समझा इसलिये अपनी कहदी। व्यवहार में कभी कभी ऐसे ऐसे प्रसंग वास्तव में आते हैं उनकी ओट में अपना चोरपन छिपाना शब्दश्लेषचोरी है।

इन भेदों से छन्नचोरी का विस्तृत रूप हमारे ध्यान में आजाता है। छन्नचोर और अन्य चोरोंकी मनोवृत्ति में विशेष अन्तर नहीं होता, सिर्फ शाब्दिक बचाव होता है जिसकी ओटमें छन्नचोर सहज ही में अपना चोरपन छिपा सकता है पर इससे परिणाम में अन्तर नहीं होता। साधारण चोरी से व्यवहार में जो बुराई आती है वह छन्न चोरी से भी आती है बल्कि कभी कभी साधारण चोरी से भी अधिक प्रतिक्रिया होती है। चोर को चोर कह देने से मनका क्षोभ कुछ शान्त होजाता है पर छन्नचोर को चोर कहने का अवसर प्रायः नहीं मिलता इसलिये भीतर ही भीतर क्षोभ काफी बढ़जाता है।

इस प्रकार की चोरियाँ प्रायः सभ्यता की ओट में हुआ करतीं हैं इससे सभ्यता कलंकित होती है और उसके प्राण उड़जाते हैं इसलिये छन्न चोरी पर उपेक्षा कदापि न करना चाहिये।

२–धनका **नज़रचोर** वह है जो नजर बचाकर अरक्षित या अरक्षित-सी पड़ी हुई चीज चुरा लेजाता है। किसी के बगीचे में से आम ही तोड़ लिये, बाहर पड़ी हुई चीज ही उठाली, कभी किसी बहाने से घर में जाने का अवसर मिला तो वहां से कोई चीज चुराली इस प्रकार के साधारण चोरों को नज़रचोर कहते हैं। ये चोर चीज चुराने में जबर्दस्ती नहीं करते ताला वगैरह नहीं तोड़ते। पर चोरी का कोई साधारण अवसर मिल जाता है तो चीज चुरालेते हैं।

३–ठगचोर वे हैं जो अपनी धूर्तता से लोगों को ठगकर उनको प्रलोभन देकर धन हरण करलेते हैं। बच्चों को मिठाई आदि का प्रलोभन देकर आभूषण वगैरह ठगने वाले आदि ठगचोर हैं। ठगने के अगणित तरीके हैं। इन सब तरह के ठगों से बचने के लिये जरूरी यह है कि मनुष्य में हरामखोरी न हो। हरामखोरी नष्ट होने से मनुष्य बहुत कुछ प्रलोभनविजयी बन जाता है और प्रलोभनविजयी को ठग लोग मुश्किल से ठगपाते हैं। हां, ऐसे भी ठग हैं जो प्रलोभन देकर नहीं लेकिन अपनी दयनीयता बताकर लोगों को ठगते हैं, ये ऐसे दुष्ट ठग हैं कि इनकी नीचता बताने के लिये भाषा में शब्द नहीं है।

एक प्रसिद्ध कथा है कि एक ठग पीड़ित और अपंग बनकर सड़क के किनारे पड़ रहा, इतनेमें वहाँ से एक घुड़सवार सज्जन निकला। ठगने अपना दुःख रोकर उस सज्जन से सहायता चाही। सज्जन उतरा और उसकी सेवा-सुश्रूषा करने लगा। इसबीच ठग मौका पाकर उठा और उस के घोड़ेपर चढ़कर भागने लगा। सज्जनने उस की धूर्तता देखकर उसे पुकारा और दूर से ही कहा भाई तुम मुझे ठगकर जाते तो हो पर यह बात किसीसे कहना नहीं, क्योंकि इस घटना को सुनकर लोग पीड़ित निराश्रित अपंगों पर भी दया करना छोड़ देंगे।

इस प्रकार ठगपन का समाज के नैतिक जीवन पर बड़ा बुरा असर पड़ता है। ऐसे ठग व्यक्ति के ही अपराधी नहीं हैं किन्तु समाज के भी अपराधी हैं-मनुष्यमात्र के अपराधी हैं। ऐसे अपराधियों से बचने के लिये प्रलोभनविजयी होना भी व्यर्थ है, सतर्कता का थोड़ा बहुत उपयोग है फिर भी जो दयनीयता की ओट में ठगा करते हैं उन से किसी सहृदय व्यक्ति का बचना कठिन ही है। ऐसे ठगोंपर सामाजिक कोप उतरना चाहिये और उन्हें शिक्षण भी मिलना चाहिये।

पर ठगों को अधिक मौका लोभी और असंयमी लोगों को लूटने में ही मिलता है।

बम्बई की घटना है एक भोले आदमी सोने की अंगूठी पहिने जारहे थे। इतने में एक आदमी रोता हुआ आया और बोला-सेठजी, मेरी एक छोटी सी पोटली गिर गई है, क्या आपकी नज़र पड़ी है ! सेठजीने कहा—नहीं भाई मेरी नज़र नहीं पड़ी, कितनी बड़ी थी वह पोटली ? वह बोला-ज़रा सी ही तो थी। साढ़े अठारह तोले की दो डलियाँ थीं, चोखा सोना था, हाय, अब तो मैं बेमौत मरा । इतना कहकर उसने बड़ा दुःख प्रगट किया। इतने में दूसरा आदमी आया और उसने कहा-क्या तुम्हारी पोटली ऐसी थी, पोटली के वर्णन से सन्तुष्ट होकर उसने कहा-हां, हां, ऐसी ही थी, क्या तुमने देखी है ? आगन्तुक ने कहा-एक आदमीने वहां पड़ी हुई एक पोटली उठाई थी और वह उस तरफ़ चलागया है।

जब वह आदमी चलागया तब आगन्तुक ने सेठजी से कहा—चलो अपन उस आदमी को पकड़ें जो सोने की पोटली लेगया है, वास्तव में वह उस तरफ नहीं इस तरफ़ गया है। वह ठग सेठजी को एक जगह लेगया जहां एक आदमी सोने की पोटली लिये हुए चला जारहा था। उसे इनने पकड़ा और धमकाया, अन्त में यह तय हुआ कि सोने के तीन भाग करके तीनों आदमी बाँटलें। पर जब पोटली खोली गई तो सोने की थप्पियाँ निकलीं—सिर्फ़ दो, अब चुपचाप कैसे बाँटा जाय इसलिये ठगने कहा—देख, एक थप्पी मैं लेता हूं, एक थप्पी इन सेठजी को देता हूँ और इसके बदले में तुझे मैं अपनी ढाई तोले की अँगूठी देता हूँ और ये सेठजी तुझे अपनी अंगूठी और कुछ नक़दी देंगे। यह कहकर उसने ढाई तोले की अंगूठी उतारकर दे दी और सेठजी से कहा, आप भी दे दीजिये। सोने की थप्पी के लोभ में सेठजी ने अंगूठी उतार दी और पाकिट में जो रुपये आठ आने के पैसे थे वे भी दे दिये और आठ दस तोले की थप्पी लेकर जल्दी जल्दी क़दम बढ़ाते हुए घर पहुँचे। रातभर तो खुशी के मारे नींद न आई पर दूसरे दिन जब पता लगा कि वह थप्पी ताँबे की है उस पर सिर्फ़ सोने का पानी चढ़ा है इस प्रकार पच्चीस तीस रुपये में सिर्फ़ कुछ पैसों का निकम्मा माल मिला है तब वे समझे कि ठगमंडली ने उन्हें लूट लिया है।

इस में ठगों की बदमाशी तो है ही, वे तो महापापी हैं पर ठगे जानेवाले की भी काफ़ी ग़लती है।

बहुत से ठग चोर ऐसे होते हैं जो कमजोर और भोले आदमियों का शिकार किया करते हैं वे संयमी आदमी को भी ठग लेते हैं। जैसे एक सज्जन को एक ठग मिला, ठग बूढ़ा था और ऐसा मालूम होता था कि मानो कोई हकीम हो। वह थोड़ी देर सामने ही खड़ा रहा और गौर से चिहरे और शरीर की तरफ़ देखता रहा। फिर बोला-तुम्हें यह बीमारी कैसे हुई ? उस सज्जन को बीमारी का पता न था, वे ठग की बातों मे आगये। ठग ने बातचीत से दस्त वगैरह की थोड़ी बहुत ख़राबी का पता लगालिया और उस सज्जन से कहा-भाई, बीमारी छोटी हो या बड़ी अच्छी चीज़ नहीं, तुम एक काम करो, मैं एक नुसखा लिखा देता हूं तुम बाज़ार में से दवाइयां ख़रीद कर दस पन्द्रह दिन उपयोग करोगे तो अवश्य लाभ होगा। इतना कहकर एक निःस्वार्थ परोपकारी की तरह उसने दवाइयाँ लिखादीं। सज्जनने समझा-आदमी बड़ा परोपकारी था, बिना पैसे के ही नुसखा लिखा दिया। पर नुसखे में एक दवाई ऐसी थी जिसका

नाम बिलकुल कल्पित था जो किसी दूकान पर मिल ही नहीं सकती थी। वह मिली उस ठगके साथीदार की दूकान पर। उसने संकेत के अनुसार काफ़ी दाम वसूल किये, नुसख़ा तो निःसार था पर दोनों ठगों को काफ़ी दाम मिलगये। वह दूकानदार और हकीम दोनों ही ठगचोर निकले।

धर्म और अतिशयों के नामपर भी बहुत से आदमी ठगचोरी किया करते हैं। साधुवेषी लोग अपने दल बनाकर और अपने ठगदल के कुछ आदमियों को भक्त बनाकर जनता को लूटा करते हैं।

एकबार साधुवेषी ठगों का एक दल गाँव गाँव घूमा करता था, दलके कुछ आदमी पहिले आजाते थे और बच्चों में ऐसी मिठाइयाँ बाँटा करते थे जिससे दस्तकी बीमारी होजाती थी। बादमें जब गाँववाले चिन्तित होते तो वे कहते कि अमुक योगीश्वर की सेवा करो, तुम्हारी बीमारी दूर होजायगी। गाँववाले ठगगुरु की सेवा करते, भेंट चढ़ाते तब मिठाइयों में वह दस्तावर चीज़ मिलाना बन्दकर दिया जाता, लोग समझते योगीश्वर के प्रताप से बीमारी चली गई। इस प्रकार वह ठगमंडली लोगों से खूब पूजा कराती, भेंट लेती।

ऐसे ठगों से बचने के लिये मुख्य उपाय यही है कि लोग इस प्रकार के अवैज्ञानिक चमत्कारों से पिंड छुड़ालें। वे समझें कि महान् से महान् मनुष्य, फिर वह ईश्वर का अवतार ही क्यों न कहलाता हो पैग़म्बर तीर्थंकर योगीश्वर आदि कोई भी क्यों न हो प्रकृतिके नियम के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार के चमत्कार जादू के खेल हैं जिस में हाथ की सफ़ाई है अंधकार या अज्ञान से दूसरों को भुलाना है और कुछ नहीं है। योग के बल से मुर्दों को जिलाना, धन दूना चौगुना कर देना, खारे पानी का मीठा कर देना आदि छल हैं। साधुवेषी ठग जितने चमत्कार दिखला सकते हैं उससे अधिक चमत्कार तो जादू के खिलाड़ी दिखला सकते हैं और उस से भी अधिक और महान् चमत्कार भौतिक विज्ञान के विद्वान् दिखला सकते हैं, दिखलाते हैं। इस प्रकार योग या चमत्कार के नाम पर कदापि भुलावे में न आना चाहिये।

ख़ैर, लोग इतने समझदार हों या न हों पर जो लोग लोगों के इस भोलेपन का उपयोग करके लोगों को लूटते हैं वे ठगचोर हैं। ठगचोर हज़ारों तरह के हैं इनके भंडाफोड़ के लिये सबको यथाशक्य प्रयत्न करना चाहिये।

४– उद्घाटकचोर– वह है जो यथाशक्य रक्षा में रक्खी हुई वस्तु को चुरा ले जाता है। ताला तोड़कर, दरवाज़ा तोकड़र, दीवार में छेद करके, छप्पर फोड़कर आदि अनेक तरह से चोरी करनेवाले चोर उद्घाटकचोर हैं, ये पहिले तीनों तरह के चोरों से अधिक अपराधी हैं अधिक दंडनीय या अधिक शिक्षणीय हैं।

५–बलात्चोर– वे हैं जो रक्षण के साधनों की ही नहीं किन्तु रक्षणबल की अवहेलना करके भी धन छीन लेते हैं। जैसे मेरे हाथ से कोई चीज़ छुड़ाकर लेजाय, मैं अपनी चीज़ को बचाने के लिये जितनी ताक़त लगाऊँ उससे भी अधिक ताक़त लगाकर चीज़ चुराकर लेजाय यह सब बलात् चोरी है। यह उद्घाटकचोरी से भी बड़ी चोरी है।

६– घातकचोर– वे हैं जो धन लूटने के लिये मालिक का या रक्षक का घात तक करते हैं। डाकू लोग इसी तरह के होते हैं। साम्राज्यवादी शासक भी इसी कक्षा में आते हैं। किसी देश को जीतकर बिना किसी अपराध के उसका

धन लूटनेवाले घातकचोर ही हैं।

इस प्रकार धनचोर छः तरह के होते हैं।

प्रश्न—कोई किसी की पत्नी का हरण करले तो वह धनचोर कहलायगा कि नहीं? यदि नहीं तो पत्नी-हरण पाप न रहा; यदि हाँ, तो पत्नी की गिनती भी धन में हो गई।

उत्तर— इस दृष्टि से पतिके लिये पत्नी धन ही है और पत्नी के लिये पति धन। जो चीज अपने उपयोग के लिये है और दी ली जासकती है वही धन है। पति पत्नी सन्तान आदि सभी धन हो सकते हैं इसलिये इन को चुरानेवाला धनचोर कहलायगा।

नामचोर—नामचोर भी छः तरह के होते हैं। यश आदर सत्कार आदि सब नाम ही हैं। लोग धनकी तरह नाम भी चुराते हैं। नामकी इच्छा हरएक को होती है और पेट भर जाने पर मनुष्य सबसे अधिक नाम के लिये ही प्रयत्न करता है। ऐसी हालत में कभी कभी नाम का मूल्य धन से भी बढ़जाता है। नामचोर धनचोर की तरह किसी को स्थूल हानि नहीं पहुँचाते परन्तु मानसिक कष्ट इतना अधिक पहुँचाते हैं कि नाम-चोर धनचोरों के समान ही निन्दनीय हैं।

छन्न धनचोरों के जैसे अनेक भेद हैं उसी तरह छन्न नामचोरों के भी हैं।

(क)-विनिमय—कम मूल्यकी सेवा आदि देना और किसी बहाने से अधिक मूल्य का यश आदर पूजा पद आदि ले लेने की कोशिश करना नाम की विनिमयचोरी है। यह विनिमयचोरी अधिकांश मनुष्य किया करते हैं पर चोरों से भरे हुए जगत में अन्त में सभी चोरों को परस्पर में लुट जाना पड़ता है इसलिये लूटा हुआ यश अंत में मूलका भी यश लेकर नष्ट ही होजाता है।

प्रश्न—विनिमयचोरी तो छन्न अर्थात् ढँकी हुई चोरी है, नाम के लुटारुओं को छन्नचोर क्यों कहना चाहिये?

उत्तर—यह लूट किसी बहाने की ओटमें हो तो छन्नचोरी है अन्यथा नज़रचोरी ठगचोरी आदि है। जैसे किसी ने वचन तो दिया कि मैं यों करूँगा त्यों करूँगा, इतना दान दूँगा ऐसी मदद करूँगा आदि। उनके वचनों पर विश्वास करके उनका और दूसरों का उत्साह बढ़ाने के लिये उनकी काफ़ी तारीफ़ कर दी गई, इस प्रकार वचन देनेवाले भाईने तारीफ़ तो लूट ली पर पीछे से घर बाहर की अड़चनें बताकर वचन पूरा न किया, या वचन भूल ही गये, उपेक्षा करदी, तो यह छन्नचोरी कहलाई।

प्रश्न—ऐसे अवसर आते हैं जब हम समझते हैं कि हम ऐसा काम कर सकेंगे इसलिये इसके अनुसार घोषणा कर देते हैं पर पीछे से परिस्थिति ऐसी बदल जाती है कि हम इच्छा रखते हुए भी वचन पूरा नहीं कर पाते तो इसमें विनिमयचोरी क्या हुई?

उत्तर—सचमुच में यदि परिस्थिति प्रतिकूल हो गई हो तो विनिमयचोरी नहीं होती पर प्रतिकूलता का बहाना हो तो चोरी होती है और बहाना होनेके कारण यह छन्न चोरी है। यहाँ यह बात भी ख़याल रखना चाहिये कि अपने वचन का मूल्य घट न जावे। सद्भावना व्यक्त करो, उत्साह बढ़ाओ, पर ऐसा वचन मत दो जिस के पालन करने का तुम्हारा निश्चय नहीं है और न तारीफ़ लूटने के लिये ही सद्भाव व्यक्त करो। अन्यथा विनिमयचोरी होगी।

प्रश्न—हमने किसी काम का या दान का वचन दिया, यश भी मिल गया पर पीछे से

मालूम हुआ कि वह काम ख़राब है या इतना उपयोगी नहीं है इस लिये हमनें वचन का पालन नहीं किया तो इस में ऐसा क्या अनुचित हुआ कि विनिमयचोरी मानी जाय ?

उत्तर—चोरी तो इसलिये है कि मूल्य दिया नहीं और यश लेलिया। हाँ, वह काम ख़राब हो और उसकी ख़राबी छिपाकर हम से वचन लेलिया गया हो और उस वचन को पूरा करने से दुनिया की बुराई होने की संभावना हो तो वचन का पालन न करना ही उचित है। पर यह याद रखना चाहिये कि अपनी कायरता अनुदारता या स्वार्थ-परता छिपाने के लिये दूसरों को खराब कहा जायगा तो यह विनिमयचोरी ही न रहेगी घातकचोरी (डकैती) भी हो जायगी। अगर खराबी है पर वह हम से छिपाई नहीं गई थी तो जहाँ तक बन सके वचन पूरा करना चाहिये। अगर ख़राबी न हो तब तो अधिक से अधिक कष्ट सहकर भी वचन पूरा करना चाहिये। अगर सब कुछ करके भी वचन पूरा न किया जासके तो जिस रूप से यश लूटा था उसी रूप से वह क्षमायाचनापूर्वक वापिस करना चाहिये। अर्थात् उसी रूप से यह घोषणा करना चाहिये कि दुर्भाग्य से मैं वचन पूरा नहीं कर पा रहा हूँ। ऐसी हालत में विनिमयचोरी न होगी।

(ख—) विभागचोर— यश, मानप्रतिष्ठा आदि का जहाँ विभाजन करना हो वहाँ अपने लिये या जिनसे अपने को मोह हो उन के लिये मर्यादा से अधिक हिस्सा ले लेना विभागचोरी है। धन की अपेक्षा यश आदि के विभाजन में न्यूनाधिकता रहती ही है इसलिये उस में समता का नहीं उचित अनुचित का ही विचार किया जाना चाहिये। मानलो किसी जलसे की रिपोर्ट हमें कहीं भेजना है उसमें मैं अपने को अधिक महत्त्व दे दूँ, अधिक तारीफ़ कर दूँ, अधिक जगह घेरलूँ और दूसरों को गौण कर दूँ, भुला दूँ तो यह विभागचोरी होगी। जलसा में किस आदमी का क्या स्थान है उस की सेवा कितनी है आदि बातों का विचार करके रिपोर्ट तैयार करना चाहिये अन्यथा विभागचोरी हो जायगी।

इसी प्रकार आदर, सन्मान आदि में भी विभागचोरी होती है, जैसे फोटो खिंचवाने के लिये कुछ आदमी बैठे और वहाँ क्रम का भी विचार किया गया पर चपलता आदि से मर्यादा से ऊँचा स्थान अपने लिये लेलेना, मर्यादा का भंग करके अपने गले में अपने मित्रों से फूल माला आदि डलवा लेना आदि नाम की विभागचोरी है।

किसी प्रदर्शन को सजाने का अपने हाथ में अधिकार हो और अपनी भी चीज़ प्रदर्शन में हो तो सजाने, रखने आदि में पक्षपात करना आदि भी विभागचोरी है।

प्रश्न— अपने घर में अपनी चीज़ को महत्त्व देना ही पड़ता है मानलो किसी संस्था में प्रदर्शन भरा गया है तो यह बात ठीक है कि उस संस्था के विज्ञापन के लिये वहाँ की चीज़ों को अधिक महत्त्व दिया जाय, किसी विद्यापीठ में उत्सव हो तो कुलगुरु का सन्मान रहेगा ही, भले ही वह उत्सव कुलगुरु की देखरेख में हो।

उत्तर— ऐसा करने में कोई हानि नहीं है बल्कि उचित भी है पर इस की ओट में जो दूसरों का अपमान और पक्षपातवश अपना अधिक सन्मान करलिया जाता है वह बुरा है। छन्न चोरी में कोई ओट तो मिल जाती है पर

शब्दों की ओट मिल जाने पर भी दिल के पाप प्रायः नहीं छिपते इसलिये छन्न चोरी निःसार तो है ही, साथ ही ईर्ष्या द्वेष घृणा आदि बढ़ाने-वाली होने से अपना और पराया काफ़ी नुक़सान करती है।

प्रश्न–अपने को तीर्थंकर पैग़म्बर आदि घोषित करना विभागचोरी है या नहीं ?

उत्तर– जिसने तीर्थ की स्थापना की वह तीर्थंकर है, घोषित करे या न करे वह विभागचोर नहीं। क़रीब यही बात पैग़म्बर के लिये है। जो सत्य का पैग़ाम लाया वह असाधारण पुरुष पैग़म्बर है। पर इस में मुख्यता जनहित की होना चाहिये। दूसरों के व्यक्तित्व की अवहेलना और अपने व्यक्तित्व का मिथ्याप्रदर्शन विभाग–चोरी है। महान बन जाने पर कोई सार्थक महान विशेषण लग ही जाता है पर महान कहलाने के लिये नाम के पीछे महान विशेषण लगाना विभाग–चोरी है। वह निरर्थक और हास्यास्पद ही नहीं है बल्कि मूल की भी नाशक है।

(ग) अनुज्ञाचोर—बेतकल्लुफीके बहाने किसी का सन्मान यश आदि छीनलेना अनुज्ञाचोरी है। तुम किसी सन्माननीय व्यक्ति के यहां जाओ और शिष्टाचार भूलकर उसकी कुर्सीपर जा बैठो उसको एक साधारण व्यक्ति की तरह सम्बोधित करो जोकि तुम्हारे और उसके भीतरी और बाहरी व्यक्तित्व को देखते हुए अनुचित हो, तो संकोचवश वह कुछ कहे या न कहे, पर तुम अनुज्ञा-चोर होजाओगे। इस अनुज्ञाचोरी से बचने के लिये शिष्टाचार के नियम बनाये जाते हैं। पर कोरे नियमों से नियन्त्रण नहीं होता—भीतर संयम ही चाहिये।

प्रश्न – अपने आत्मगौरव की रक्षा करना हो या किसी दुरभिमानीके अहंकार की अवहेलना करना हो तो क्या अनुज्ञाचोरी होगी ?

उत्तर—नहीं, ऐसी हालत में तो जो दुर-भिमानी है, हमारे आत्मगौरव की रक्षा नहीं करता वही अनुज्ञाचोर है।

सार यह है कि कोई संकोचवश विनय या शिष्टाचार के कारण कुछ कह न सके और उसकी इस सज्जनता का उपयोग उसके यश सन्मान आदि को कम करने या नष्ट करने में किया जाय और प्रदर्शित यह किया जाय कि इसमें उसकी अनुज्ञा है, अनुमति है तो यह अनुज्ञाचोरी है।

(घ) भिक्षाचोर—यद्यपि माँगने से नाम नहीं मिलता फिर भी कुछ लोग मोहवश इसकी भी भिक्षा माँगते हैं। किसी तरह हमारा नाम आप समाचारपत्र में छाप दीजिये आदि नाम की भिक्षा-चोरी है। जनहित के लिये आवश्यक हो तो बात दूसरी है यह भिक्षा ही नहीं है और कहीं भिक्षा का रूप धारण भी करले तो भी यह तब तक भिक्षाचोरी नहीं है जब तक जनहित के लिये या न्याय के लिये आवश्यक है।

(ङ) कणग्राहक चोर—जो कुछ करते धरते नहीं हैं सिर्फ़ नाम बढ़ाने के लिये सहयोग का ढोंग करते हैं वे कणग्राहकचोर हैं। ये बिना पैसे की हरएक सभामें सदस्य बन जाँयँगे, न जिज्ञासा हो, न पीठबल देने का भाव हो फिर भी अपने नाम की गिनती कराने के लिये सब जगह पहुँचेंगे, बिना समझे ही हरएक का समर्थन करेंगे या विरोध करेंगे। जो कर्मठ हैं, हर जगह कुछ न कुछ कर सकते हैं ऐसे लोगों के जीवन में भी ऐसी बहुमुखी प्रवृत्तियाँ देखीं जातीं हैं पर यह कर्मठता न होने पर भी सिर्फ़ नाम के लिये जो अपना सब जगह प्रदर्शन करते हैं और दूसरों

का कुछ बोझ ही बढ़ाते हैं वे कणग्राहक चोर हैं जिज्ञासा से जाय, समय काटने के लिये न जाय, बिना कुछ किये दूसरों के यश में हिस्सा न बटाय तो कणग्राहकचोरी नहीं है।

(च) प्रमादचोर—किसी के नाम के उचित प्रकाशन में लापर्वाही करनेवाला प्रमादचोर है। यों तो सबकी जिम्मेदारी कौन लेसकता है पर जहां किसी सम्बन्ध से हमारे ऊपर दूसरे के नाम-प्रकाशन की जिम्मेदारी आगई वहां लापर्वाही नहीं करना चाहिये। और न किसी के अपयश का निरर्थक प्रसार करना चाहिये। दूसरे के यश-अपयशके विषयमें अपनी जिम्मेदारी न सम्हालना प्रमादचोरी है।

(छ) उऋणचोर—थोड़े यश की ओट में किसी का बड़ा यश छिपाजाना उऋणचोरी है। जैसे म. महावीर या म. बुद्ध का परिचय देते समय उनका तीर्थंकरत्व छिपाकर सिर्फ यह कहना कि ये अच्छे राजकुमार हैं। किसी खास बात का ही ही परिचय देने का अवसर हो तो बात दूसरी है क्योंकि मनमें छल हो स्वार्थ हो तभी उऋणचोरी होती है। खास बात के परिचय में छल आदि नहीं कहा जासकता।

(ज) विस्मृतिचोर— दूसरे का यश भ्रमवश अपने को मिल गया हो और दूसरा उसे लेना भूल गया हो या उपेक्षा की हो तो उसे अपनाये रहना विस्मृतिचोरी है। जैसे मानलो मैं एक साधारण चित्रकार हूँ मेरे यहाँ कोई चतुर चित्रकार आया उसके पास उसीके बनाये हुए बहुत से चित्र थे उनमें से एक वह भूल गया। मैंने उसका चित्र इस आशय से अपने कमरे में टाँग लिया कि लोग बिना कहे और बिना पूछे ही उसका कर्ता मुझे समझेंगे। इस प्रकार एक के भूले हुए यश का मैंने अपने यश के समान उपयोग कर लिया इससे मैं विस्मृतिचोर हो गया।

(झ) मौनचोर— ऊपर की घटना में चित्र के बनाने वाले का नाम पूछे जाने पर इस तरह मौन साधाजाय कि वह अपने को ही कर्ता समझे, यह मौन चोरी है। दूसरे का यश अपनाने में मौन का उपयोग करने वाला मौनचोर है।

(ञ) शब्दश्लेषचोर— दूसरे के यश छिपाने में दुहरी भाषा का उपयोग करनेवाला शब्दश्लेषचोर है। जैसे— यह एक ऐसे आदमी का बनाया है जो अमुक गांव में रहता है अमुक जाति का है आदि ऐसे विशेषण दिये जाँयँ जो अपने में और उस चित्रके बनानेवाले में समान हों परन्तु पूछनेवाले का ध्यान उसकी तरफ़ न जाय सिर्फ़ अपनी तरफ़ जाय इस प्रकार दुहरे अर्थ के शब्द बोलकर दूसरों का यश लेलेना शब्दश्लेषचोरी है।

इस प्रकार नाम की छलचोरी भी अनेक तरह की है।

२ नज़रचोर — दूसरे की नज़र बचाकर दूसरे का यश आदर सत्कार लेलेना नाम की नज़र चोरी है। जैसे मालिक के न होने पर किसी से कहना यहाँ का मालिक मैं हूँ। झूठ मूठ ही कहना अमुक का रचयिता, संस्थापक मैं हूँ। इसी प्रकार किसी कर्तृत्व में झूठा साँझा बताना आदि भी नज़र चोरी है। न्यायालय विद्यालय आदि संस्थाओं में अधिकारी न होते हुए भी ऐसे आसन पर इस आशय से बैठना जिससे लोग न्यायाधीश अध्यापक प्रमुख आदि समझें यह भी नजर चोरी है।

इसीप्रकार किसी के विचारों को अपने विचार

कहकर यश आदि लूटना भी नाम की नज़र चोरी है।

प्रश्न– विचारों का ठेका कहाँ तक लिया जा सकता है? विचारों का आदान-प्रदान जगत में ऐसा होता रहता है कि यह कहना कि ये अमुक के विचार हैं, कठिन है। बहुत से विचार तो सर्वसाधारण की सम्पत्ति हो जाते हैं, यह भी मालूम नहीं होता कि इनको सबसे पहले किसने प्रगट किया? तब मनुष्य विचार चोरी से कहाँतक बच सकता है?

उत्तर– जिस प्रकार नदी आदि सर्व साधारण की सम्पत्ति होने से उस में से पानी लेना चोरी नहीं है उसी प्रकार जो विचार साधारण जनता की सम्पत्ति बन गये हैं जिनके विषय में कोई दूसरा व्यक्ति दावा नहीं कर सकता कि ये मेरे मौलिक विचार हैं उन्हें हम अपनी मौलिकता की छाप लगाये बिना प्रगट करें तो चोरी नहीं है। यह भी हो सकता है कि कोई विचार हमारा मौलिक विचार ही हो हमने दूसरों से न लिया हो तो उसे मौलिक मानकर भी प्रगट करना चोरी नहीं है।

पर कल्पना करो हमने किसी की पुस्तकका अध्ययन किया उसकी बातें हमें अच्छी लगीं फिर इस प्रकार की इच्छा पूर्वक, कि कोई यह न समझे कि मैं ये विचार उस पुस्तक के बोल रहा हूँ, उस पुस्तक के विचार प्रगट करना चोरी है। मुख्य बात मन की है। मन में चोरी है तो चोरी है अन्यथा ऐसे बहुत से अवसर आते हैं जहाँ दूसरों के विचार प्रगट करने में दूसरों का उल्लेख करना अनावश्यक होता है। जैसे—

१– जो विचार अपौरुषेय होगये हैं अर्थात् जिनके कर्ता का पता नहीं है उनका उपयोग जैसे चाहे किया जा सकता है सिर्फ अपने नामकी छाप न लगाना चाहिये।

२– कुछ विचार अमुक व्यक्ति के नाम से इतने लोकप्रसिद्ध हो गये हैं कि उनका कर्ता कोई हमें नहीं मानता। वे विचार शास्त्रीय विचार बन गये हैं जैसे गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त, पृथ्वी को गोल और चलती हुई मानने का सिद्धान्त आदि।

(३) ऐसी जगह जहाँ हमें कोई विचारक के रूप में नहीं देखता, जहाँपर चाहे शास्त्र की बातें कहो चाहे अपने मौलिक विचार कहो श्रोता सब को शास्त्रीय बातें ही समझते हैं वहाँ किसी का नाम लिये बिना दूसरे के विचार प्रगट करना चोरी नहीं है।

इत्यादि अनेक अवसर ऐसे हो सकते हैं जहाँ नाम लेने की जरूरत नहीं है। पर जहाँ श्रोता का मन जिज्ञासा कर सकता हो कि ये किसके विचार हैं वहाँ नाम लेना ज़रूरी है, जहाँ मूल विचारक का नाम लेनेसे विचारों का मूल्य बढ़ता हो वहाँ भी नाम लेना ज़रूरी है।

मतलब यह है कि दूसरों का कर्तृत्व जान-बूझकर न छिपाना चाहिये, न उस पर अपने कर्तृत्व की छाप लगाना चाहिये। ऐसा किया जायगा तो यह चोरी हो जायगी।

दूसरे की रचना को अपने नाम से प्रकाशित करना भी नज़रचोरी है।

३ ठगचोर– नाम यश आदर आदि लूटने या छीनने के लिये ऐसी चालें चलना जिससे दूसरों को लाभ न हो या हानि हो या लाभ से हानि अधिक हो पर अपने को यश आदि मिल जाय। जैसे साधु वेष लेकर, दूसरों को कल्पित

भय बताकर अपने को योगी अवतार आदि कहना इस प्रकार अपनी पूजा कराने के लिये जगत को ठगना ठगचोरी है ।

किसी आदमी से प्रेम का व्यवहार रखना और उसके साधारण रहस्यों या उद्गारों को दूसरों के सामने ऐसी चतुराई से रखना कि वह निन्दित और हम प्रशंसित हो जाँयँ यह भी ठगचोरी है । धन की ठगचोरी के समान नाम की ठगचोरी के भी असंख्य प्रकार हैं ।

४ उद्घाटकचोर– किसी न किसी अंश में सुरक्षित रक्खी हुई दूसरे के यश नाम आदि बढ़ानेवाली चीज को चुराकर उसके सहारे अपना नाम फैलाना उद्घाटकचोरी है । जैसे किसी की रचना--जो कि हस्तलिखित है--चुराकर अपने नाम से प्रकाशित कर देना । किसी के किये गये आविष्कार को चुरालेना । किसी के भाव लेकर पहिले ही उन्हें अपने नाम से प्रकाशित कर देना आदि । यह सब उद्घाटकचोरी है ।

५ बलात्चोर– किसी की कृति को जबर्दस्ती चुराना, मूल रचयिता उसे प्रकाशित न कर पाये इसके पहिले खुद अपने नाम से प्रकाशित करना और मूल रचयिता के प्रकाशन में बाधा डालना आदि बलात्चोरी है । जबर्दस्ती दूसरे का यश आदि छीनना बलात्चोरी है ।

६ घातकचोर– दूसरे के यश सम्मान आदि छीनने के लिये उसे मारना उस की झूठी निन्दा करना आदि घातकचोरी है ।

उपकारचोर-- यद्यपि नामचोरों से उपकार चोरों का वर्णन हो जाता है फिर भी संक्षेप में उन का कुछ दिग्दर्शन करादिया जाता है । धनचोरों के प्रकरण में जो शंका समाधान किया गया है उससे इस प्रकरण की भी शंकाओंका समाधान हो जायगा ।

(क) विनिमयचोरी-- प्रत्युपकार कम करके भी यह बताना कि हमने पूरा बदला चुका दिया । तुम हमारा यह काम करदो मैं तुम्हारा वह करता हूं । ऐसी शर्त होने पर अपनी तरफ से पूरा काम न करना विनिमयचोरी है ।

(ख) विभागचोर-- अधिक उपकारी का कम उपकार मानना और कम का ज्यादा मानना । जैसे मातापिता सासससुर और गुरु आदि के उपकारों को इसलिये गौण करदेना कि सुव्यवस्था के लिये वे कुछ अंकुश रखते हैं और दूसरों के मामूली शिष्टाचार आदि उपकारों को अधिक महत्व देना क्योंकि संघर्षण न होने से वे अंकुश नहीं रखते सिर्फ मीठी बातें करते हैं ।

(ग)अनुज्ञाचोरी —उपकार के बदले में धन्यवाद आदि न देना. उचित होनेपर भी बेतकल्लुफी के नामपर न देना अनुज्ञा चोरी है । लज्जा आदि के कारण धन्यवाद न देसके, घनिष्ठता के कारण धन्यवाद न दे तो बात दूसरी है । पर उचित घनिष्ठता भी न हो, लज्जा का भी कारण न हो बेतकल्लुफी का अतिवाद हो तो अनुज्ञाचोरी होगी ।

(घ) भिक्षाचोरी — उपकार की आवश्यकता न होने पर भी आलस्यादि के कारण उपकार की भिक्षा माँगना भिक्षाचोरी है । जैसे पानी खींचने की ताकत रखने पर भी आलस्य या लज्जा के कारण किसी से कहना-ज़रा पानी खींच दीजिये मुझ से खिंचता नहीं है ।

शक्ति न हो, या शिष्टतावश कोई खींच दे या विनिमय के सिद्धान्त के अनुसार जहां किसी से सेवा लेना अनुचित न हो, या एक ही काम करने में एक को कम कठिनाई हो और

मुझे अधिक कठिनाई हो, हम किसी दूसरे काममें लगे हों इसीलिये किसी से कहा गया हो, अपने पद आदि के कारण किसी से कोई काम कराना शिष्टता के प्रतिकूल न हो तो भिक्षाचोरी नहीं होती। जैसे अपने में पानी खींचने की ताकत हो तो भी हम पुत्र से शिष्य से नौकर से पानी के लिये कह सकते हैं। हम ट्रेन में बैठे हों और पानी लाने में ट्रेन छूटने का डर हो तो बाहर के आदमी से कह सकते हैं। मतलब यह कि योग्य निमित्त होना चाहिये नहीं तो भिक्षाचोरी हो जायगी।

(ङ) कणग्राहीचोरी— देखूँ तुम कैसा करते हो, जरा कर के तो दिखाओ। उसने दिखाया। हमने कहा-अच्छा ठीक है, जरूरत होने पर हम तुम्हें बुलायेंगे। इस तरह बहुतों से काम के नमूने देखे और पूरा करा लिया पर उपकार किसी का न माना यह कणग्राहीचोरी है। एक बार एक भाई बोले-हमने अमुक गाँव में अपना मकान पूरा बना लिया और लोहेका मनों सामान वहां पहुचाया पर न तो भाड़े में एक पैसा दिया न किसी का अहसानमन्द हुआ। उस गाँव की तरफ कोई गाड़ी जाती होती तो उस में दो चार सेर लोहे की पोटली रख देता और कहता उस गाँव में सड़क पर तुम्हें हमारा आदमी मिलेगा उसका यह नाम है उसे देदेना। इस तरह थोड़ा थोड़ा करके सामान पहुँचा दिया। यह कणग्राही चोरी है।

(च) प्रमादचोर--लापर्वाही से किसी को धन्य वाद न देना आदि प्रमादचोरी है।

(छ) उऋणचोर--पूरा ऋण न चुका कर यह घोषित करना कि चुका दिया। जैसे माँ बाप को बुढ़ापे में खाना न देकर यह कहना कि हमने तुम्हारा ऋण चुका दिया। आदि।

(ज) विस्मृतिचोर--किसीने हमारा कोई उपकार किया पर कुछ समय बाद वह हमें और हमारे ऊपर किये गये उपकार को भूल गया। मिलने पर हमने उसे पहिचाना पर उसने हमें न पहिचाना तब इस आशा से हमने भी न पहिचानने का ढौल किया कि उसका उपकार हमें न मानना पड़े।

(झ) मौनचोर--न उपकारी भूला हो न उपकृत पर मिलनेपर और अवसर आजाने पर भी कृतज्ञता प्रगट न करना बल्कि जानबूझकर मौन रह जाना।

(ञ) शब्दश्लेषचोर--ऊपर के ही प्रकरण में मौन न रहकर ऐसे शब्दोंमें उपकार मानना जिन की वाक्यरचना, व्यङ्ग-स्वर आदि के कारण उपकार का अस्वीकार भी अर्थ निकलता हो। जैसे आपके उपकारों से तो मैं लद गया हूं, इस वाक्य को ऐसी भावभंगी से कहना जिससे वह बात या तो हँसी में उड़जाय या उसका उल्टा ही अर्थ होजाय यह शब्दश्लेषचोरी है।

२ **नज़रचोर**--परोक्ष में किसी के उपकार को स्वीकार न करनेवाला नजरचोर है। वह उपकारी की नजर बचाकर उपकार अस्वीकार करता है।

३ **ठगचोर**--उपकार कराके दम्भ, छल आदि से अपनी उपकृतता छिपानेवाला। जैसे एक आदमी न तो कोई समाजसेवा करता है न उसके प्रति किया गया उपकार समाजसेवा के लिये है फिर भी वेष, सम्प्रदाय आदि की दुहाई देकर और अन्धश्रद्धागम्य बातों के नामपर छल करके उपकार स्वीकार नहीं करता, वह ठगचोर है।

४ **उद्घाटकचोर**--उपकारी के उपकार को नष्ट करने के लिये जो छिद्र ढूँढ़ता रहता है वह उद्घाटक चोर है। बहुत से मनुष्य किसी से उप-

कृत होजाने पर लज्जित होते रहते हैं और सोचते रहते हैं कि ऐसा कोई अवसर मिले जब इसका उपकारीपन छीन लिया जाय । इसलिये वे ऐसी घटना या घटनाओं की ताक में रहते हैं जिनको अपकार सिद्ध किया जासके । बस उनके द्वारा वे पुराने उपकारों को लूट लेते हैं ।

५ **बलात्चोर**--धृष्टता से उपकार को अस्वीकार करनेवाला बलात्चोर है ।

६ **घातकचोर**--अपनी उपकृतता छिपाने के लिये उपकारी का घात करनेवाला, उसकी निन्दा करनेवाला और उसके उपकार को अपकार सिद्ध करने वाला घातकचोर है ।

उपयोगचोर-- धनचोर और उपयोग चोर एक सरीखे हैं अन्तर इतना ही है कि धनचोर में वस्तु ही लेलीजाती है जब कि उपयोगचोर में सिर्फ़ उस वस्तु का उपयोग किया जाता है इसलिये धनचोरी की अपेक्षा उपयोगचोरी आंशिकचोरी है । फिर भी चोरी अवश्य है ।

कहीं कहीं धनचोरी तो होती है पर उपयोगचोरी नहीं होती । एक सार्वजनिक बगीचे में किसी बेंच का उपयोग करलेना चोरी नहीं है पर बेंच लेलेना चोरी है । परिस्थिति आदि का विचार करके यह देखलेना चाहिये कि जिस चीज का हम उपयोग कर रहे हैं उसके मालिक की इच्छा हमें उपयोग करने देने की है या नहीं ? यदि हो तो उपयोग करने में चोरी नहीं है यदि नहीं है तो उपयोग करना चोरी है भले ही वह संकोच उपेक्षा भय आदि के कारण कह सके या न कह सके । ख़ैर धनचोरी के समान उपयोगचोरी के भी भेद-प्रभेद होते हैं उनका भी संक्षेप में वर्णन कर दिया जाय तो काफ़ी स्पष्टता होगी ।

(क) विनिमियचोर-- एक दूसरे की वस्तु के परस्पर उपयोग की कोई बात तय हुई हो तो इस बहाने दूसरे की अच्छी चीज का उपयोग करना और अपनी खराब चीज उपयोग के लिये देना विनिमयचोरी है । हां, अगर अपने पास अच्छी चीज न हो और हमने यह बात सूचित-सी कर दी हो तो यह बात दूसरी है ।

(ख) विभागचोर— किसी चीज का उपयोग करने में बटवारा करना हो तो उसमें अनुचित पक्षपात करना विभागचोरी है ।

(ग) अनुज्ञाचोर-- बेतकल्लुफी के बहाने किसी की चीज का उपयोग कर लेना अनुज्ञाचोरी है । बहुत से आदमियों की यह आदत रहती है कि वे अपनी चीज सुरक्षित रखते हैं और दूसरे की चीज उसकी अनुज्ञा के बिना उपयोग करते हैं । मालिक संकोचवश कुछ कह नहीं सकता, पर वह मन ही मन ऐसा डरने लगता है जैसे चोर से डरता हो । इसीलिये अपनी चीज को छिपाने का प्रयत्न करता है ।

किस चीज़ का उपयोग करना अनुज्ञात है और किस चीज़ का उपयोग करना अनुज्ञात नहीं है इसका विचार करते रहना चाहिये । परिस्थितिवश कहीं भ्रम होसकता है पर सूचना मिलते ही उसके पालन करने पर चोरी नहीं होती, पर बहुतसी बातें तो ऐसी होती हैं जिनको हम अच्छी तरह समझ सकते हैं पर जानबूझकर दूसरे को संकोचमें डालते हैं या उसके संकेतोंकी नासमझी के नामपर उपेक्षा करते हैं ।

हम किसी जगह बैठे हैं, पानी बरस रहा है पेशाब को किसी जगह जाना है हमने पास में रक्खे हुए किसी के छत्ते का उपयोग करलिया और जैसे का तैसा सुरक्षित रखदिया तो अनुज्ञाचोरी नहीं हुई पर हम किसी के ओढ़ने बिछाने

के कपड़ों का उपयोग कर लें तो अनुज्ञाचोरी होजायगी । हां, मालिक स्वेच्छा से अनुमति दे तो बात दूसरी है।

हमने किसी की चीज का उपयोग किया उसका मालिक संकोचवश कुछ कह न सका पर उसने उसे दूसरे दिन दूसरी जगह कुछ इस ढंग से सुरक्षित रख दिया कि जिससे किसी का ध्यान न जाय पर हमने ढूँढ़कर फिर भी उसी की चीज का उपयोग किया यह स्पष्ट ही अनुज्ञाचोरी है।

घनिष्ठ प्रेम के खास खास अवसरों को छोड़ कर साधारणतः मालिक की प्रसन्नतापूर्वक दी हुई अनुज्ञा के बिना किसी की चीज का उपयोग न करना चाहिये और न अपनी ही तरफ से घनिष्ठ प्रेमका दावा करके प्रेमके बहाने इस तरह की उपयोगचोरी छिपाना चाहिये।

(घ) भिक्षाचोर–हर समय आवश्यक होने पर भी और खरीदने की आर्थिक शक्ति होने पर भी चीज न खरीदना या घर में रहने पर भी अपनी चीज का उपयोग न करना किन्तु लोभवश कोई बहाना बनाकर दूसरे की चीज का माँगकर उपयोग करना भिक्षाचोरी है। आवश्यकतावश उपयोग के लिये एक दूसरे से चीजें माँगना ही पड़तीं हैं पर जहां इस व्यवहार की ओट में लोभ है छल है वहां यह चोरी ही है।

(ङ) कणग्राहीचोर– नमूने के रूपमें कई जगह से चीजें मांगना, थोड़ा बहुत उपयोग करके नापसन्द कहकर वापिस करदेना इस प्रकार दूसरों की चीज़से अच्छा लाभ उठाना कणग्राही चोरी है।

(च) प्रमादचोर--दूसरे की चीज का लापर्वाही से उपयोग करना प्रमादचोरी है।

(छ) उऋणचोर--किसी की अच्छी चीज का विशाल उपयोग कर लेने के बाद इस इच्छा से कि यह हमें उपकृत या ऋणी न समझे अपनी मामूली चीजका कुछ उपयोग करादेना उऋणचोरी है। हां, यह सोचकर कि हमने तो इनकी चीजों का बहुत उपयोग किया है थोड़ा बहुत उपयोग ये हमारी चीजों का करलें तो कुछ तो ऋण चुके-- उपयोग करने देना उऋण चोरी नहीं है।

(ज) विस्मृतिचोर--किसी की भूली हुई चीज इसलिये याद न दिलाना कि कुछ दिन काम लेने के बाद याद दिलाई जायगी कुछ दिन इससे कुछ काम तो लेलें, यह विस्मृति चोरी है।

साधारणतः यह नियम रखना चाहिये कि अपने यहां भूली हुई चीज का उपयोग न किया जाय वह ज्यों की त्यों सुरक्षित रक्खी जाय। हां, कोई मामूली चीज हो, अथवा उपयोग करने में उसके खराब होने का डर न हो तो बात दूसरी है। विस्मृतिचोरी है कि नहीं इसका पता तो अपने भावों से ही लग सकता है पर बाह्य-क्रिया से भी यह बात नहीं छिपती। छन्नचोर होने से कोई बहाना जरूर बना सकता है पर इससे उसका दुष्प्रभाव नहीं रुकता।

(झ) मौनचोर– मौन का ऐसा उपयोग करना जिससे उपयोगचोरी करते हुए भी उसके आरोप से बचे रहें। जैसे हम किसी ट्रामगाड़ी में बैठे, गाड़ी में भीड़ है इसलिये टिकिटवाला ध्यान नहीं रख सका कि किसने टिकिट लिया किसने नहीं लिया— वह पूछता आता है कि टिकिट ! टिकिट !! टिकिट !!! पर यह सोचकर कि कोई पूछेगा तो कह देंगे कि हमारा ध्यान नहीं था, हम मौन धारण कर जाते हैं यह मौन-चोरी है। मौन की ओट में हम मुफ्त में ही ट्राम का उपयोग कर लेना चाहते हैं।

(ञ) शब्दश्लेषचोर–- अनेकार्थक वाक्यों

से चोरी छिपानेवाला शब्दश्लेषचोर है । जैसे किसी चीज का काफी उपयोग कर लिया जाय और फिर कहा जाय कि आपकी चीज का कुछ उपयोग कर लिया है । कुछ और काफी में विभाजक रेखा न होने से यहाँ शब्दश्लेष के रूप में वाक्य का प्रयोग किया गया ।

२ **नज़रचोर**— नजर बचाकर किसी की चीज का उपयोग कर लेनेवाला । जैसे बिना टिकिट रेल में यात्रा करनेवाला आदि ।

३ **ठगचोर**— धोखा देकर किसी की चीज का उपयोग करनेवाला । जैसे किसी ताँगेवाले से कहा— भाई, अमुक जगह से एक सवारी लाना है ले आओ । इसप्रकार ताँगे में बैठकर सवारी लेने के बहाने किसी जगह जाना और कह देना कि यहाँ कोई सवारी नहीं है तुम चले जाओ । झूठमूठ बीमार लँगड़ा आदि बनकर किसी की गाड़ी का उपयोग कर लेना आदि ।

४ **उद्घाटकचोर**— ताला वगैरह तोड़कर किसी की चीज निकाल लेना और उसका उपयोग करके छोड़ देना ।

५ **बलात्चोर**— जबर्दस्ती किसी की चीज का उपयोग कर लेनेवाला । बेगार आदि इस श्रेणी में आ जाती है ।

६ **घातकचोर**— मारपीटकर भी किसी की चीज का उपयोग करनेवाला । बेगार में कहीं कहीं घातकचोरी का रूप देखा जाता है ।

इन चौबीस प्रकार के अर्थघातोंको त्याग कर देने से मनुष्य अचौर्यव्रती या ईमानदार कहा जाता है ।

प्राणघात के समान अर्थघात में भी व्यवहार पञ्चक आदि का विचार होता है जिसका विवेचन पहिले किया गया है । इसलिये तक्षण भक्षण रूप अर्थघात ही चोरी है, वर्धन रक्षण चोरी नहीं है ।

क्या चोरी है और क्या चोरी नहीं है इसका निर्णय पूर्वोक्त वर्णन से होजाता है उसके अनुसार जो कुछ चोरी सिद्ध हो उसका अधिक से अधिक त्याग करना चाहिये । चोर शायद चोरी को सस्ता सौदा समझते होंगे । पर यह सब से महँगा सौदा है । चोरी करनेवाले चैन से न तो खासकते हैं न बैठ सकते हैं, इज्जत नष्ट करते हैं, लज्जित होना पड़ता है इत्यादि नाना कष्ट हैं । खुद चोरी करते समय मनुष्य को जो मानसिक और शारीरिक कष्ट उठाना पड़ता है वह मिहनत मजूरी के कष्ट से काफी ज्यादा है ।

छन्नचोरी आदि में भी हम जितना पाते हैं उससे कई गुणा सन्मान आदि नष्ट कर देते हैं । सब मिलाकर उनका सौदा महँगा ही रहता है ।

एकबार एक भाईने मुझसे पूछा-फाउन्टेन पेन की स्याही की दावात आप कितने में लाते हैं ? मैने कहा चार आने में । वे बोले-मैं काफी सस्ते में निवट जाता हूं । मैंने पूछा-सो कैसे ? बोले-कभी इसके यहां से स्याही भर लेता हूं कभी उसके यहां से इस तरह काम चल जाता है ।

मैंने कहा—इतना मँहगा सौदा करने की हिम्मत मुझमें नहीं है ।

वे जरा चकित होकर बोले--क्या मुफ्त में भी कोई चीज मँहगी होती है ?

मैंने कहा बहुत मँहगी । आप आधे पैसे की स्याही मुफ्त में जहां से लेते हैं वहां सैकड़ों रुपयों का गौरव दे आते हैं और साथ ही कल के लिये चार पैसे के लाभका द्वार भी बन्द कर आते हैं । साथ ही स्याही खलास होनेपर दाता ढूँढ़ने में और स्याही लेने की भूमिका जमाने में जो समय शक्ति बर्बाद होती होगी उसकी कीमत भी आधे पैसे ऊपर से जरूर ज्यादा होगी । और उतनी

देर ; न सिक सकनेका नुकसान भी कुछ कम न होगा । इस प्रकार इतना घाटा उठाकर आप मुफ्त की स्याही का सौदा करते हैं, आपकी हिम्मत तो गजब की है !

अन्य छन्न चोरियों के विषय में भी कम ज्यादा इसी तरह का बहुत कुछ कहा जा सकता है । नजर चोरी आदि में ये हानियाँ तो हैं ही साथ ही राजदंड आदि की भी परेशानी है । इस प्रकार चोर का जीवन महान दुःखी जीवन है । नामचोर आदि में भी इसी तरह का घाटा और दुःख है ।

इसके अतिरिक्त चोरी से जीवन में जो अशान्ति होती है अविश्वास बढ़ता है, सहयोग और प्रेम नष्ट होता है उससे मानवजीवन जैसा नरक बनजाता है उसका कोई ठिकाना है ? चोरी से चीज का उत्पादन तो होता है जब सभी में वृत्ति आजायगी तो मनुष्य कितने दिन जियेगा ? इस प्रकार यह वैयक्तिक दृष्टि से और सामूहिक दृष्टिसे अत्यन्त दुःखप्रद है ।

ईमानदार के जीवन में बड़ी शक्ति और निर्भयता रहती है । उनका दिल और मस्तक ऊँचा रहता है वह विनयी होता है पर उसमें दीनता नहीं होती । अगर वह ईश्वरवादी है तो उसे ऐसा मालूम होता है मानों वह ईश्वर के संरक्षण में है जब कि चोर ईश्वर की पूजा करते हुए भी उसके नामसे काँप उठता है । ईमानदारी स्वयं एक सुख है दूसरेको भी सुख देनेवाली है । इस प्रकार विश्वकल्याण के लिये यह बहुत उपयोगी है ।

३ सत्यव्रत

सत्य का अर्थ यहां भगवान सत्य नहीं है किंतु ऐसी भाषा का प्रयोग करना है जिससे विश्वहित हो दूसरे शब्दों से निश्छलवृत्ति को हम सत्य कह सकते हैं । छल हम उसीसे करते हैं जिससे हमें कुछ द्वेष होता है, जुदाई का भाव होता है, प्रेम नहीं होता । इसलिये असत्य भेद-भाव बढ़ानेवाला है — सत्य प्रेम बढ़ानेवाला है इसलिये सत्यव्रत को हम प्रेम का या भगवती का अङ्ग कहते हैं ।

मानवसमाज सहयोग पर टिका हुआ है और सहयोग विश्वास पर टिका हुआ है । जितने अंशमें हम विश्वासका घात करते हैं उतने अंशमें सहयोग का नाश करते हैं । सहयोग को सुरक्षित रखने के लिये विश्वास का सुरक्षित रखना सत्य है और विश्वासघात असत्य है ।

साधारणतः व्यवहार में ऐसा समझा जाता है कि जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही कहना सत्य है, क्योंकि इससे मनुष्य का विश्वास कायम रहता है । इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार अर्थ और शब्दकी एकता सत्य है पर अर्थ का सिर्फ अभिधेयार्थ ही नहीं है लक्ष्य भी है ।

भाषा-शास्त्र में शब्द के अर्थ तीन तरह के माने गये हैं—१ अभिधा २ लक्षणा और ३ व्यञ्जना । और अभिधा भी अनेक तरह की होती है । उनमें मुख्य और प्रकरण संगत अर्थ कौनसा है इस बात का अच्छी तरह विचार करके किसी वाक्य का अर्थ समझना चाहिये फिर शब्द और अर्थ की एकता देखना चाहिये ।

१ अभिधा—शब्द के सांकेतिक अर्थ को बतलानेवाली अभिधा है । जैसे घोड़ा, हाथी, मनुष्य आदि शब्दों का संकेत अमुक अमुक प्राणियों में किया गया है इसलिये घोड़ा आदि शब्दों से उनउन जानवरों को बतानेवाली अभिधा है । ऐसे अर्थ को अभिधेय अर्थ कहते हैं ।

अभिधा के भी अनेक भेद हैं। कोई एक घर का भी नाथ न हो पर उसे पुकारने के लिये जगन्नाथ कहना यह भी अभिधा है, हृदय की भक्ति दिखलाने के लिये पत्थर की मूर्त्ति को भगवान कहना यह भी अभिधा है। कालभेद या परिस्थिति भेद गौण करके पुराने राजा को राजा कहना यह भी अभिधा है। चमकनेवाली को बिजली कहना, चञ्चलता के कारण चञ्चला कहना यह भी अभिधा है अभिधा अनेक तरह की है। शब्द का अर्थ लगाते समय जहाँ जिस अभिधा का प्रयोग है वहाँ वही अभिधा समझना चाहिये।

२ लक्षणा—अभिधेय अर्थ जहाँ संगत या सत्य न हो वहाँ उससे सम्बद्ध दूसरा अर्थ ग्रहण करना लक्षणा है। जैसे 'नगर दौड़ा आया' इस वाक्य में नगर का अर्थ नगरनिवासी है क्योंकि नगर (घर सड़क आदि) दौड़ नहीं सकता। दूसरा अर्थ लेने में इतना तो देखना ही पड़ता है कि अभिधेय अर्थ से उसका कुछ संबंध है या नहीं। कुछ न कुछ संबंध - समानता - संयोग आदि अवश्य होना चाहिये जैसा कि नगरवासियों का संबंध नगर से है।

इन्द्र के हजार आँखें थीं—इसका लक्षणा-रूप अर्थ है—वह चारों तरफ अपनी नजर रखता था या उसके खुफिया विभाग में हजार आदमी थे आदि। सहस्रबाहु के हजार हाथ थे, इसका लक्षणारूप अर्थ यह कि उसके हाथों में हजार हाथों का या बहुत हाथों का बल था। आलंकारिक वर्णनों में प्रायः लक्षणा का उपयोग किया जाता है। गणेशजी का सिर हाथी सरीखा था, इसका अर्थ यह कि उनका सिर बड़ा था। हनुमान बन्दर थे अर्थात् उछलने-कूदने और पेड़ों पर चढ़ने में होशियार थे। कुम्भकर्ण छः छः महीने सोता था अर्थात छः छः महीने तक घर में ही खाता-पीता आलस्य में पड़ा रहता था, छः छः महीने घर से बाहर न निकलता था न राज-सभा में जाता था।

मनुष्य अलंकारप्रिय है, पुराने जमाने में और भी अधिक था इसलिये भाषा में भी वह अलंकारों को पसन्द करता था, श्रोताओं की इस प्यास को बुझाने के लिये वक्ता, लेखक, कवि अलंकारों का खूब प्रयोग करते थे। पर कुछ समय बाद भोलेपन के कारण लोग उन अर्थों की लक्ष्यता भूल गये, उन्हें अभिधेय समझने लगे, इसका फल यह हुआ कि पुरानी कथाएँ धर्मशास्त्र और इतिहास से हटकर गपोड़ों में गिनी जाने लगीं पर इसमें मूल कथाकारों की भूल नहीं है किंतु लक्षणा और अभिधा का भेद न समझनेवाले या समझकर भी वहां काम में न ला सकनेवाले भोले पाठकों और अनुयायियों की भूल है। इसलिये सत्यासत्य का निर्णय करते समय हमें अभिधा और लक्षणा का भेद न भूल जाना चाहिये।

३ व्यञ्जना—जहाँ अभिधा और लक्षणा से पूरा अर्थ न निकलता हो वहाँ उससे भी अधिक अर्थ का ज्ञान कराने वाली व्यञ्जना है। जैसे किसी ने कहा—संध्या हो गई, तो अभिधा का अर्थ तो जल्दी समझ में आगया पर यह बात इस समय किस बात को समझाने के लिये कही गई है यह समझ में न आया। यह समझा देना व्यञ्जना का काम है कि सन्ध्या हो गई इसलिये प्रार्थना को चलो, या दीपक जलाओ आदि। धर्मशास्त्र में जो कथाएँ दी जातीं हैं उनका असली अर्थ व्यञ्जना से मालूम होता है। कथाओं का व्यंग्य अर्थ ही

देखना चाहिये और अर्थ की अपेक्षा सत्य असत्य का निर्णय करना चाहिये। राम-रावण की कथा झूठी है या सच्ची इससे कोई मतलब नहीं, क्योंकि उस कथा का मुख्य अर्थ यह है कि राम की तरह बनो, रावण की तरह मत बनो। यह अर्थ जब तक झूठा नहीं है तब तक यह कथा झूठी नहीं है।

वचन की सत्यासत्यता का विचार करते समय यह देख लेना चाहिये कि उसका मूलार्थ क्या है? अभिधा है लक्षणा है या व्यञ्जना है? अगर अभिधा है तो अभिधेयार्थ अगर सत्य है तो उस वचन को सत्य कहो अन्यथा झूठ कहो। इतिहास, विज्ञान, दर्शन, समाचारपत्र आदि में अभिधेय अर्थ की मुख्यता रहती है इसलिये यहाँ सत्यासत्य का निर्णय इसी अपेक्षा से करना चाहिये। सत्यवादी का कर्तव्य है कि वह इनके प्रकरण में अभिधेय अर्थ की दृष्टि से जान बूझकर झूठ न बोले।

जहाँ लक्षणा हो वहाँ उसीकी अपेक्षा से सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिये। इस अपेक्षा से नगर का दौड़ना भी सत्य है, मुख को चन्द्र कहना भी सत्य है, हनुमान को बन्दर कहना भी सत्य है · पर अगर लक्षणा को अभिधा समझ लिया जाय अर्थात् हनुमान को सचमुच बन्दर समझ लिया जाय, मुख को सचमुच चन्द्र समझ लिया जाय, जैन तीर्थंकर बीच में बैठकर चारों तरफ देख देखकर व्याख्यान देते थे इसलिये उन्हें चतुर्मुख कहा गया - अब इसीसे उनके चारों तरफ मुख मान लिये जाँय, शुद्ध रक्त को दूध की उपमा दी सो उसे दूध ही मान लिया जाय, तो असत्य है क्योंकि वहां लक्षणा की जगह अभिधा का प्रयोग किया गया है।

कविता, चित्र, मूर्ति आदि में लक्षणा का विशेष उपयोग होता है।

जहाँ व्यञ्जना हो वहाँ सत्यासत्य का निर्णय व्यंग्य अर्थ देखकर ही करना चाहिये। जैसे किसी ने सदाचार, आत्मशुद्धि, जनकल्याण आदि धर्म-शास्त्रीय उपदेश में कहा--ईश्वर है, आत्मा है, पर-लोक है, स्वर्ग नरक है। इन वाक्यों का अभिधेय अर्थ दर्शनशास्त्र के लिये मुख्य है परन्तु धर्म-शास्त्र के लिये वह गौण है। धर्मशास्त्र का मुख्य अर्थ व्यञ्जना से मालूम होगा कि ईश्वरादि है इसलिये हमें पाप से बचना चाहिये, जीवन के के क्षुद्र सुख-दुःख में अपने को न भुलाना चाहिये आदि। यह व्यंग्यार्थ सत्य है इसलिये ईश्वरादि अभिधा की दृष्टि से कैसे भी हों - धर्मशास्त्र उन्हें सत्य कहेगा। इसी प्रकार रामचन्द्रजी आदि की कथा अभिधेय अर्थ की दृष्टि से कैसी भी हो पर व्यंग्यार्थ राम की तरह बनना चाहिये आदि की अपेक्षा सत्य ही है।

प्रश्न जहाँ अभिधा या लक्षणा दो में से कोई एक रहे वहीं व्यङ्ग्य अर्थ आ सकता है, अगर अभिधेय और लक्ष्य दोनों में से एक भी अर्थ न होगा तो व्यङ्ग्य किस आधार पर खड़े होंगे?

उत्तर– हरएक वाक्य में अभिधा या लक्षणा रहती है, भेद इतना ही होता है कि कहीं इनमें सचाई होती है कहीं नहीं होती, सो देखना यही चाहिये कि जो मुख्य अर्थ है उसमें सचाई है या नहीं। हो सकता है कि अभिधेय या लक्ष्य अर्थ असत्य हो किंतु व्यंग्य अर्थ ठीक हो और मुख्यता भी इसी की हो तो वह वाक्य सत्य मानाजायगा। सत्य असत्यका निर्णय

मुख्य अर्थ की अपेक्षा करना चाहिये। फिर भी जहाँ तक बन सके अभिधेय अर्थ में सचाई लाने की कोशिश करना जरूरी है, जिसका अभिधेय और व्यंग्य दोनों सत्य है वही वाक्य पूरा सत्य है।

अभिधा आदि की दृष्टि से वाक्यों के ९ भेद होते हैं— १. उभयसत्य, २. बहुसत्य, ३. उपमान सत्य, ४. उपमानक सत्य, ५. वस्तु सत्य, ६. पापसत्य, ७. न्यायरक्षक असत्य, ८. वस्तु असत्य, ९. उभय असत्य।

१ उभयसत्य वह है जिसका शब्दार्थ भी सत्य है उससे जो कर्तव्य अर्थ प्रगट होता है वह भी सत्य है। जैसे सत्य और अहिंसा का पालन करने से मनुष्य महात्मा बन जाता है। इस वाक्य में शब्दार्थ भी सत्य है और 'इसलिये सबको सत्य अहिंसा का पालन करना चाहिये' यह कर्तव्यार्थ भी सत्य है इसलिये यह वाक्य उभय-सत्य कोटि का है।

२ बहुसत्य वह है जिसमें अभिधा अर्थ न हो लक्षणा अर्थ हो और वह सत्य हो साथ ही उससे जो कर्तव्य निकलता हो वह भी सत्य हो। जैसे—

तेरी गोदीका सिंहासन मिलजावे सबको मनभाया।
निःपक्ष जगत पर छाजाये तेरेही अञ्चल की छाया॥

यहाँ भगवती अहिंसा की गोदी और उसके अञ्चल में रूपक है, क्योंकि भगवती अहिंसा कोई इस प्रकार मनुष्याकार धारण करने वाली महिला नहीं है पर इस अलंकार वाक्य से अहिंसा की महत्ता, माता की तरह कल्याणकारकता आदि अनेक बातें जल्दी समझ में आती हैं इसलिये यहाँ आलंकारिक वाक्य प्रयोग किया गया है। आलंकारिकता जहाँ साफ हो वहाँ इस प्रकार के प्रयोग उचित ही हैं। बल्कि आकर्षक होने के कारण कभी कभी इनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। फिर भी कभी कभी भ्रम होने की सम्भावना है इसलिये इसे उभयसत्य नहीं कहा बहुसत्य कहा। लक्षणा वाक्यों में यही भेद समझना चाहिये।

३ उपमान सत्य वह है कि जहाँ कोई सत्य बात समझाने के लिये दृष्टान्त या कहानी वगैरह कही जाय, वह कहानी आदि कल्पित या अर्ध-कल्पित हो पर हो वैसी ही जैसी कि घटनाएँ हुआ करती हैं। अप्राकृतिक या अघटित घटनाएँ उसमें न हों। इस प्रकार ठीक उपमान द्वारा एक सचाई प्रगट करना उपमान सत्य है।

४ उपमानक सत्य वह है जिसमें कर्तव्य तो सच्चा ही बताया जाता है पर उसके लिये जो कहानियों का चित्रण किया जाता है वह अघटित या अप्राकृतिक होता है। उपमान की अपेक्षा यह कुछ खराब है इसलिये इसे उपमानक कहा है। भूत-पिशाच आदि की कहानियाँ अथवा ऐसी ही अद्भुतादि रसपूर्ण शिक्षाप्रद कथाएँ उपमानक सत्य हैं।

५ वस्तुसत्य वह है जिसमें किसी वस्तुका या घटना का ठीक ठीक परिचय दिया जाता है। जिसमें कर्तव्य के निर्देश का भाव नहीं रहता या स्वल्प रहता ह। ऐतिहासिक वैज्ञानिक दार्शनिक आदि ग्रंथों में तथा समाचारपत्रों के समाचारों में इसी सत्य की मुख्यता है।

करनेवाले तो वस्तुसत्य स भी कुछ न कुछ कर्तव्य का ज्ञान कर लेते पर वक्ता का मुख्य उद्देश जहाँ वस्तुका या घटना का रूप बतलाता है वहाँ और उतने अंश में वह वस्तु सत्य है।

६-फलसत्य * – जिसका अभिधेय अर्थ असत्य हो, पर फल या प्रयोजन सत्य हो अर्थात् न्यायरक्षक, आत्मशोधक या विश्वसुख के अनुकूल सुखकर हो, वह फलसत्य है। जैसे-- अत्याचार से किसी की रक्षा करने के लिये असत्य बोलना, लघुता न होने पर भी अभिमान दूर करने के लिये अपनी लघुता बताना आदि।

७-पापसत्य– वह है जिस में घटना की दृष्टिसे तो सचाई है किन्तु कर्तव्य की प्रेरणा जिसमें पापमय मिलती है जैसे चोरी सिखाने के लिये सफल चोरों की कहानियाँ कहना आदि। यह घटना सत्य है पर पापोत्तेजक होने से पाप सत्य है।

८-वस्तुअसत्य– जिस घटना से सन्देश कुछ न मिलता हो पर जिसका वर्णन असत्य हो। जैसे-समाचार दृष्टिसे ही कोई गलत समाचार कहना या इतिहास वगैरह कुछ गलत लिख जाना।

९-उभयअसत्य– वह है जिसमें घटना भी असत्य है और उससे जो कर्तव्य की प्रेरणा मिलती है या फल मिलता है वह भी असत्य है। अन्याय्य-आत्मरक्षण उभयअसत्य है। दूसरों को ठगने आदि के लिये जो झूठ बोला जाता है वह भी उभयअसत्य है। इन नव भेदों से पता लग सकता है कि कहाँ कहाँ किस किस अर्थ की मुख्यता है और उसका प्रयोग किस प्रकार करना चाहिये।

सत्यवचनों में पापसत्य हेय है, असत्यवचन में दोनों हेय हैं। उपमानक-सत्य का प्रयोग कम से कम करना चाहिये। फल सत्य क्षन्तव्य है, बाकी उभयसत्य बहुसत्य उपमानसत्य वस्तुसत्य उपादेय हैं।

इन नव भेदों में कल्याण का विचार किया गया है पर इस में दृष्टि अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना की है। इसलिये अभिधा आदि की दृष्टिसे इन नव भेदों के दूसरे नाम इस प्रकार होंगे —

१—उभयसत्य— सत्याभिधेय-सत्यव्यंग्य
२—बहुसत्य— सत्यलक्ष्य-सत्यव्यंग्य
३—उपमानसत्य— अर्धसत्यलक्ष्य-सत्यव्यंग्य
४—उपमानकसत्य— असत्यलक्ष्य-सत्यव्यंग्य
५—वस्तुसत्य— सत्याभिधेय-शून्यव्यंग्य
६—फलसत्य— असत्याभिधेय-सत्यव्यंग्य
७—पापसत्य— सत्याभिधेय-असत्यव्यंग्य
८—वस्तुअसत्य - असत्याभिधेय-शून्यव्यंग्य
९—उभयअसत्य— असत्याभिधेय-असत्यव्यंग्य

इन नामों से अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

वाच्यवाचक की या शब्द और अर्थ की मुख्यता से ये जो नव भेद बतलाये गये हैं उनपर विचार करके मनुष्य को सत्यव्रत पालना चाहिये। पर यह भूलना न चाहिये कि बोलना सिर्फ शब्दों से नहीं होता-हृदय के भाव जिस जिस द्वार से बाहर निकलते हैं उस उस द्वार से भावों का निकालना भाषा ही है। इसलिये 'हमने यह कहा और वह कहा' इत्यादि कहने से ही अपने भावों का पता दूसरों को नहीं लगता और न केवल शब्दों से ही दूसरों के भाव जाने जा सकते हैं। हमारा बोलना कहाँ तक सत्य है या दूसरा आदमी कहाँ तक सच बोल रहा है-यह जानने के लिये हमें भाषा के सभी द्वारों से जाँच करना पड़ेगी और जब

* ३३१ पृष्ठ पर नव भेदों के नाम और क्रम कुछ गलत छप गये हैं। ठीक क्रम के अनुसार— ६—फलसत्य और ७—पापसत्य होना चाहिये। न्यायरक्षक असत्य निकाल देना चाहिये वह फलसत्य में शामिल है।

सभी द्वारों से एक ही भाव दिखाई देगा तभी हमारी सचाई सिद्ध होगी।

भाषाद्वार— भाषा के पांच द्वार हैं— १. शब्द, २. स्वर, ३. चेष्टा, ४. आकृति और ५. कृति अर्थात् परिणाम या फल।

अपने मन के भाव शब्द द्वारा तो प्रगट किये जाते हैं परन्तु शब्द का ऊँचा नीचा स्वर, शरीर की चेष्टाएँ, मुख की आकृति और उनके भावों के प्रदर्शन करने का परिणाम, इससे भी मनके भाव मालूम होते हैं।

१--शब्द से भावप्रकाशन तीन तरह का होता है उच्चरित, लिखित, सांकेतित। मुख से बोला गया शब्द उच्चरित शब्द है। नागरी फारसी आदि लिपियों में लिखा गया शब्द लिखित शब्द है। तार आदि में जो संकेत कर लिये जाते हैं, झंडे तथा रंगों से संकेत करके जो शब्द समझ लिये जाते हैं वह सांकेतित है। मनोभाव समझने के लिये उच्चरित शब्द उपयोगी है क्योंकि उससे स्वर चेष्टा आकृति का भी पूरा सहयोग मिलता है इतना लिखित सांकेतित आदि में नहीं मिल पाता है।

२—स्वरसे भी भावों का पता लगता है और इसके द्वारा शब्दों की जाँच की जाती है। 'क्या कहा' की अपेक्षा किस स्वर में कहा, इसका मूल्य अधिक होता है। प्रेम के स्वर में कभी कभी माताएँ बच्चों को गाली देकर भी दुलारतीं हैं पर उन गालियों से बच्चे खुश ही होते हैं। इसलिये जहाँ शब्द से कोई बात कही गई है वहाँ स्वर भी उसके अनुकूल होना चाहिये या कम से कम उसके विरुद्ध न होना चाहिये अगर स्वर शब्दों के द्वारा प्रगट किये गये भावों के विरुद्ध हो तो शब्द का अच्छा या बुरा अर्थ नष्ट हो जाता है, जैसा स्वर हो वैसा अर्थ बन जाता है। शब्द से स्वर का मूल्य अधिक है क्योंकि शब्द की अपेक्षा मनुष्य स्वर पर अंकुश कम रखता है या रख पाता है-इसलिये उसके भीतरी भाव शीघ्र प्रकट हो जाते हैं।

३—कभी कभी मनुष्य शब्द और स्वर पर अंकुश रखकर अपने मनोभावों से उल्टे भाव प्रगट कर जाता है पर उसकी चेष्टाएँ उसके असली भावों को प्रगट कर जातीं हैं। जैसे कोई आदमी बिना किसी उत्तेजना के कह रहा है— मैं आप से द्वेष नहीं करता, मैं भला चाहता हूँ; पर अपने हाथों की मुट्ठियाँ इस तरह दबा रहा है मानों वह मुट्ठी में दबाकर पीस डालना चाहता है। इस प्रकार उसकी चेष्टा उसके भावों को बता रही है। एक आदमी निर्भयता की बातें करता है स्वर भी ऐसा ही रखता है पर भागने की या छिपने की चेष्टा करता है तो यहाँ भी असली मनोभाव चेष्टा ही प्रगट करती है। साधारणतः शब्द और स्वर से चेष्टा बलवान है।

४—शब्द, स्वर, चेष्टा-इन तीनों से बलवान है मुखाकृति। हम किसी से कहते हैं—बड़ी खुशी की बात है आपने मेरे दोष बताये इसके लिये मैं धन्यवाद देता हूँ। यहां स्वर कोमल है हाथ जोड़कर नम्रता भी प्रगट की गई है पर नाक की सिकुड़न ने, ओठों की विकृत बनावट ने और आंखों की उग्रता ने ठीक इससे उल्टा भाव प्रगट कर दिया है जिसे प्रगट करनेवाला भी ठीक ठीक नहीं समझ पाया है। शब्द स्वर चेष्टा पर अंकुश रखने की अपेक्षा मुखाकृति पर अंकुश रखना कठिन है इसलिये मुखाकृति तीनों से बलवान है अधिक प्रामाणिक है।

५--शब्द, स्वर, चेष्टा और मुखाकृति से बल-

वान है कृति या परिणाम। तुमने कोईभी बात कही हो, कैसा भी स्वर रहा हो, चेष्टा और मुखाकृति भी कैसी ही रही हो पर अगर कृति इनसे उल्टी है तो वही उल्टा अर्थ वास्तव में सच्चा है। एक माँ उत्तेजित होकर बेटे को खूब गाली देती है कहती है तुझे खाने न दूंगी डंडा लेकर भगाने की या घर से निकालने की चेष्टा करती है मुँह भी क्रोध से तमतमा गया है पर कुछ मिनिटों के बाद ही रोटी खिलाने के लिये बेटे को ढूंढती-फिरती है और रोटी खिलाती है—तो उसका यह कार्य या परिणाम उसकी चारों भाषाओं [शब्द, स्वर, चेष्टा, मुखाकृति] को जीतकर उनपर अप्रामाणिकता की छाप मार जाता है। एक भाई बड़ी नम्रता से पेश आते हैं, हाथ जोड़ते हैं, सेवा करने की उत्सुकता दिखाते हैं पर समर्थ होने पर भी मौके पर काम नहीं आते तो उनकी शब्दादि भाषा की अपेक्षा यह परिणाम-भाषा अधिक प्रामाणिक है। एकबार एक प्रसिद्ध श्रीमान् से मैं मिलने गया, शब्द स्वर चेष्टा और मुखाकृति से उनने खूब आदर व्यक्त किया, बोले-शाम का भोजन आपको मेरे यहां करना पड़ेगा। मैंने कहा-मुझे तो जाना है। वे बोले-कोई बात नहीं, एक ट्रेन पीछे सही, कुछ बात करेंगे। मैं ठीक चार बजे आपके स्थान पर मोटर भेज दूंगा।

मैं उन्हींकी धर्मशाला में ठहरा था अनुरोध भी उनने जरूरत से ज्यादा किया था, पर चार बजे के बदले ६॥ बज गये ठंड के दिन थे इसलिये भोजन का समय ही निकल गया पर गाड़ी न आई, लाचार होकर सात बजे की गाड़ी से मैं भूखा ही वहां से रवाना हो गया।

इस परिणाम-भाषा ने उनकी चारों भाषाओं का मूल्य कौड़ी भर न रक्खा। हो सकता है कि वे भूल गये हों—सचमुच भूल गये हों [यद्यपि उनकी अप्रामाणिकता की जैसी ख्याति है उसके अनुसार उनके भूलने की बात पर विश्वास करने की जरूरत नहीं है] फिर भी उनके वचन का अर्थ उनके कार्य से ही निश्चित हुआ।

शब्द और अर्थ का कैसा सम्बन्ध है और कहां किस शब्द से कैसा अर्थ समझना चाहिये? दूसरे के सत्यव्रत को हम समझ सकें, अपने सत्यव्रत को समझा सकें, दूसरे के असत्य के भ्रम में न आवें— इसके लिये उपर्युक्त भाषाद्वार तथा अभिधा आदि का वर्णन किया गया है। इसके बाद संयम की दृष्टि से अर्थात् भगवती अहिंसा की दृष्टि से हमें सत्यव्रत पर विचार करना है।

सत्यव्रत भगवती अहिंसा का अंग है इसलिये सत्यासत्य का निर्णय हमें लोकहित की दृष्टि से करना चाहिये। कौनसा वचन सत्य है और कौनसा असत्य है—इसकी कसौटी लोकहित अर्थात् विश्वकल्याण ही कहा जा सकता है। इसलिये कभी कभी असत्य भी सत्य हो जाता है और सत्य भी असत्य हो जाता है। जैसे— हिंसा भी अहिंसा है और अहिंसा भी हिंसा है—इसी तरह सत्य असत्य के विषय में भी समझना चाहिये।

इस विषय में भी व्यवहार-पञ्चक को कसौटी बनाना चाहिये। वर्धन रक्षण और विनिमय के लिये जो वचन कहे जाँय-वे सत्य हैं, भक्षण तक्षण के लिये जो कहे जाँय-वे असत्य हैं।

सत्य और ससत्य के समझने में सुविधा हो इसलिये सत्य और तथ्य का अन्तर ध्यान में रखना जरूरी है। जो विश्वहित की दृष्टि से उचित हो ठीक हो-उसे सत्य कहते हैं, जो घटना या वस्तुस्थिति की दृष्टि से ठीक हो उसे

तथ्य कहते हैं। साधारणतः तथ्य और सत्य दोनों मिले रहें यही अच्छा है पर अपवाद रूपमें कभी तथ्य भी असत्य हो जाता है, कभी अतथ्य भी सत्य हो जाता है।

फिर भी हिंसा जिस प्रकार अनिवार्य है उस प्रकार अतथ्य अनिवार्य नहीं है। कुछ कुछ प्राणवध हमारे लिये जैसा अनिवार्य है वैसा अतथ्य-भाषण अनिवार्य नहीं है। प्राणघात बिलकुल न हो और हम एकाध दिन जीवित रहें यह असंभव है पर हम मौन रहकर या अतथ्यभाषण किये बिना जीवित रह सकते हैं। इसलिये हिंसामें जैसी क्षन्तव्यता है वैसी अतथ्य भाषण में नहीं है।

फिर भी अतथ्यभाषण जीवन में रहता है और बड़े बड़े महात्माओं में भी रहता है। पर हर तरह का अतथ्यभाषण पुण्य नहीं कहा जा सकता है। इसलिये जैसे प्राणघात का विचार तेरह भेदों में किया था उसी तरह विश्वासघात या अतथ्यभाषण का भी करना चाहिये। उनमें से कौन कौनसा अतथ्यभाषण कितना उपयोगी है या क्षन्तव्य है और कौन कौनसा त्यागने योग्य है इसका पता लग जायगा।

१. साधक अतथ्य— विनय आदि के कारण अपनी झूठी निन्दा करना या निस्वार्थ विनय से दूसरे की प्रशंसा में परिमित अतथ्य भाषण करना साधक-अतथ्य है। इससे प्रेम बढ़ता है, अहंकार द्वेष आदि नष्ट होता है। इस प्रकार व्यवहार-शुद्धि आत्मोन्नति होती है इसीलिये यह साकध-अतथ्य है। दुनिया का काम न बिगड़े, दूसरों को कष्ट न हो इसलिये अपने ऊपर आये हुये संकट और वेदनाएँ प्रगट न करने के लिये अतथ्य भाषण करना पड़े यह भी साधक-अतथ्य है।

प्रश्न--आत्मनिन्दा आदि साधना ही हो ऐसा नियम नहीं है। कभी कभी यह इस तरह की जाती है कि जिससे असंयम ही प्रगट होता है न्यायविचार में बाधा ही पड़ती है तो क्या आत्म-निन्दा होने से ही यह साधक-अतथ्य हो जायगा।

उत्तर--आत्मनिन्दा आदि के अनेक मतलब हो सकते हैं। एक आदमी इसलिये आत्मनिन्दा करता है जिससे मेरा पाप छिपा रहे और जो शिक्षा मुझे दी जाने वाली है--वह न दी जाय मेरा पाप सुरक्षित रहे, ऐसा आदमी साधक-अतथ्यभाषी न होगा-बाधक अतथ्यभाषी होगा। इसी प्रकार अपनी तारीफ कराने के लिये ही जो आत्मनिन्दा आदि करता हो वह भक्षक-अतथ्य-भाषी है। पर जो शिष्टाचार के लिये या विनय के लिये आत्मनिन्दा करता है वह साधक है। इस विषय में किसी का आशय समझना कुछ कठिन तो है पर बहुत कठिन नहीं है। आशय के अनुसार अतथ्य-भाषण का भेद समझना चाहिये।

प्रश्न—बहुत से संत कह गये हैं कि मुझ समान कोई पापी नहीं है, मैं सबसे बड़ा खल हूँ दुष्ट हूँ आदि। ये बातें वे इसलिये कह गये हैं कि उनने अपने मानसिक पापों का अनुभव किया था - अपनी दुष्टता को समझा था। उनने अपनी समझ से अतथ्य भाषण नहीं किया था, पर यह भी निश्चित है कि वे दुष्ट पापी आदि नहीं थे और सबसे बड़े दुष्ट तो कदापि नहीं थे तो उन्हें अतथ्यभाषी-साधक कैसे कह सकते है?

उत्तर-- वे साधक तो हैं ही और उनके उद्गार साधकता के ही सूचक हैं, भले ही वे तथ्यरूप हों या अतथ्यरूप। उनके उद्गार

उत्कट आत्मनिरीक्षण के सूचक हैं। उनने जो जो अपने मनमें पाप देखा है वह तो मनुष्य मात्र में होता है, साधारण जनों में उससे बहुत अधिक होता है पर साधारण लोग अज्ञान और असंयम के कारण उसे पाप ही नहीं समझते, न अनुभव करते हैं, पर सन्त लोग सूक्ष्मदर्शी और संयमी या मोमिन होते हैं, इसलिये वे अपने साधारण मानसिक विकारों को भी देखते हैं और उन्हें हटाने के लिये तड़पते हैं। यही तड़पन वे खुदा या ईश्वर के सामने या दुनियाके सामने पेश करते हैं। पर वास्तव में वे अपने को सब से बड़ा पापी नहीं समझते हैं और समझते भी हों तो होते नहीं है, इसलिये आत्मशुद्धि के लिये उनका यह अतथ्यभाषण है--पर साधक अतथ्यभाषण है।

साधक-अतथ्य-भाषण से मनुष्य असत्य-वादी नहीं कहलाता। वाच्यवाचक की दृष्टि से यह फलसत्य भाषा है।

२ वर्धक--अतथ्य--विश्वहित या विश्वहित के अविरुद्ध परहित करने के लिये जो अतथ्य भाषण किया जाता है वह वर्धक-अतथ्य है। इसका निर्विवाद दृष्टान्त देना कठिन है क्योंकि एक जगह जो वर्धक है दूसरी जगह वह वर्धक नहीं रहता। अतथ्य अविश्वास पैदा करके हित की अपेक्षा अहित ही अधिक कर जाता है। फिर भी इसकी उपयोगिता है। जैसे--एक बार की घटना है कि एक जैनी भाई देवी के आगे होने-वाली पशुबलि रोकना चाहते थे पर उन्हें विश्वास था कि समझाने बुझाने से लोग मानेंगे नहीं इसलिये उनने रात में देवी की मूर्त्ति छिपा दी और दिन में देवी का भाव खेलने लगे। लोग मूर्त्ति न देखकर और उनके शरीर में देवी को आई हुई जानकर हाथ जोड़कर देवी को शान्त करने लगे। देवी ने कहा--मैं जगदम्बा हूँ-जगत की अम्बा, समझे! मैं मनुष्यों की अम्बा हूँ तो पशुओं की भी अम्बा हूँ, पर तुम मेरे ही बेटों को मेरे ही सामने काटकर चढ़ाते हो? तुम्हारे बेटों को काटकर अगर कोई तुम्हें चढ़ाये तो तुम्हें कैसा लगे? वैसा ही मुझे लगता है इसीलिये मैं इस मन्दिर से चली गई हूं।

देवी की बात से लोग घबराये। उनने कहा-मां, तुम जैसा कहोगी वैसा ही होगा पर तुम लौट आओ।

देवी ने कहा--बस एक शर्त पर मैं लौट सकती हूं कि कल से तुम लोग यहां पशुबलि न किया करो।

लोगों ने मंजूर किया और पशुबलि बन्द हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार झूठ बोलने से लोगों का धर्म और पशुओं का सुख बढ़ा, परन्तु कभी कभी ऐसे अतथ्य हानिकर भी होते है। रहस्योद्घाटन होने पर इसकी प्रतिक्रिया भी हो सकती है। साथ ही परस्पर में विश्वास भी कम होता है।

प्रश्न-- अगर कोई अपराधी प्राणदंड या अन्य दंड पानेवाला हो, पर हमारे झूठ बोलने से वह बच सकता हो तो उसे बचाना सुखवर्धक होने से वर्धक अतथ्य कहलायगा कि नहीं?

उत्तर-- नहीं, क्योंकि यह न्यायभक्षक होने से अधिक दुःख पैदा करेगा। अपराधी, जो अभी गाय सा मालूम होता है संकट टल जाने पर शेर हो जायगा। तुम्हारे सामने विनीत रहने पर भी वह दूसरों के सामने गर्जेगा कि हमने अमुक की हत्या भी की, पर किसीने मेरा क्या कर लिया? कदाचित् वह न भी गर्जे

पर हत्या आदि प्राणदंड के योग्य अपराध को निष्फल देखकर दूसरों के दिल से हत्या का डर निकल जायगा। इसलिये दंड व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा करना वर्धकअतथ्य नहीं है। इसमें अगर तुम्हारा स्वार्थ नहीं है तो अविवेकज है, अपराधी को बचाने में अगर तुम्हारा स्वार्थ है तो भक्षक या तक्षक है।

प्रश्न-- मानलो एक अपराध ऐसा है जिसे सरकारी कानून अपराध मानता है पर वास्तव में वह अपराध नहीं है। सरकार का अन्याय रोकने के लिये वह किया गया है तो ऐसे अपराधी को छिपाने में वर्धकअतथ्य है या नहीं।

उत्तर-- सरकारी कानून से मनुष्यता का कानून बड़ा है इसलिये निस्वार्थ या निःपक्ष रीति से मनुष्यता के कानून की रक्षा के लिये सरकारी कानून की कभी अवहेलना करना पड़े तो वह उचित है। उस हालत में अतथ्य-भाषण करना पड़े तो वह वर्धकअतथ्य कहलायगा। हाँ, अतथ्य से जो हानि होती है वह यहाँ भी हो सकती है।

यद्यपि आज मानव समाज इस परिस्थिति में नहीं है कि वर्धकअतथ्य का बहिष्कार करके भी उसके द्वारा होनेवाला वर्धन दूसरे उपाय से कर सके फिर भी प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य होना चाहिये कि इस अतथ्य के बिना वर्धन करने की कोशिश करे। इतने पर भी वर्धन के लिये अनिवार्य हो उठे तो अतथ्यभाषण क्षन्तव्य है। हां, यह बात अवश्य है कि जमाना ऐसा आता जाता है कि इस अतथ्य का उपयोग कम ही हो। जैसे झूठे प्रलोभनों से बच्चों को पढ़ने में उत्तेजित करना आदि अब कम पसन्द किया जाता है क्योंकि इससे हानि बहुत होती है और कुछ समय बाद झूठे प्रलोभन बेअसर भी हो जाते हैं।

अतथ्य किसी भी क्षेत्र में हो कुछ समय बाद वह बेअसर होजाता है या इतना बेअसर होजाता है जितना बेअसर प्राणघात या अर्थघात नहीं होता इसलिये अहिंसा के अपवादों की अपेक्षा तथ्य के अपवादों का उपयोग कम ही करना चाहिये।

३ न्यायरक्षक-अतथ्य--न्यायकी रक्षा के लिये, अत्याचार से बचने बचाने के लिये जो अतथ्य भाषण किया जाता है वह न्यायरक्षक-अतथ्य है। अतथ्य की खराबियाँ तो इसमें भी हैं इसलिये जहां तक बने इसका भी प्रयोग कम करना चाहिये, पर ऐसे प्रसंग आ सकते हैं जब हमें न्यायरक्षक अतथ्य बोलना पड़ता है। इसके लिये एकाध उदाहरण देना उपयोगी होगा।

एक सती के पीछे गुंडे पड़े हैं और वह ऐसी जगह छिप गई है या ऐसे रास्ते चली गई है जिसका हमें पता है। गुंडे हमसे पूछते हैं तो उस समय हमारा कर्तव्य तो यह है कि हम झूठ न बोलकर अहिंसा से या हिंसा से उन गुंडों को रोक लें। पर मानलो अपनी अशक्ति या विपरीत परिस्थिति के कारण हम उन्हें नहीं रोक सकते, उनको भुलाने के सिवाय दूसरा कोई मार्ग उस नारीकी रक्षा का नहीं है तो उसकी रक्षा के लिये हम झूठ भी बोल सकते हैं--यह न्यायरक्षक अतथ्य होगा।

प्रश्न--अगर हम मौन रहें या ऐसा गड़बड़ उत्तर दें कि शब्दों से झूठ बोलना न कहलावे पर उनको कुछ समझ में न आवे तो कैसा?

उत्तर--अतथ्यभाषण की अपेक्षा यह मार्ग कुछ अच्छा है। पर देखना यह चाहिये कि मौन रहने से गुंडे कुछ समझ तो नहीं जाते? कभी कभी मौन भी भाषा का काम कर जाता है।

प्रश्न—इस मार्ग को कुछ अच्छा क्यों कहना चाहिये ? छल से मौन रखना या गड़बड़ बोलना भी तो अतथ्य भाषण हुआ।

उत्तर—कुछ छल तो अवश्य हुआ पर निस्वार्थता होने से और नीतिरक्षण के लिये होने से यह पापछल न हुआ। साथ ही प्रगट रूपमें झूठ बोलने से इसमें इतना लाभ अवश्य है कि अमुक आदमी मुँह से झूठ नहीं बोलता इसलिये मुँह के शब्दों की या साफ शब्दों की कीमत बढ़ जाती है इसलिये उतने अंशों में विश्वासघात भी कम होता है।

प्रश्न-- डाँकुओं से अपने धनकी रक्षा करने में झूठ बोला जाय तो कैसा ? सती की रक्षा के समान इसमें निस्वार्थता नहीं है ?

उत्तर-- निस्वार्थता नहीं है पर अन्याय का विरोध अवश्य है क्योंकि डाँकुओं का काम अन्यायपूर्ण है इसलिये डाँकुओं से असत्य बोला जाय तो यह न्यायरक्षकअतथ्य होने से क्षन्तव्य होगा। पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि यह सतीत्वरक्षण आदि परोपकारमय अतथ्य-भाषण के बराबर क्षन्तव्य नहीं है क्योंकि इसमें मुख्यता स्वार्थ की है। आदर्श तो यहां भी तथ्यभाषण ही है, पर परिस्थिति अनुकूल न हो तो अतथ्य-भाषण किया जा सकता है वह क्षन्तव्य होगा।

४ सहज-- सहज हिंसा की तरह सहज अतथ्य भाषण नहीं होता। हिंसा तो बिना प्रयत्न के भी हो जाती है पर अतथ्य भाषण इस प्रकार बिना प्रयत्न के नहीं होता। बिना प्रयत्न के अगर कभी आवाज निकाली भी जाय तो उसका सम्बन्ध--विश्वासघात से नहीं होता इसलिये उसे अतथ्य-भाषण नहीं कह सकते।

५ भाग्यज - जिस प्रकार भाग्य से प्राणघात बतलाया गया अर्थघात बतलाया गया, उस प्रकार विश्वासघात नहीं होता। फिर भी प्राकृतिक कारणों से कुछ का कुछ सुनाई दिया जाय या गोत्रस्खलन हो जाय (कुछ से कुछ निकल जाय) तो इसे भाग्यज अतथ्यभाषण कह सकते हैं इस में किसी का दोष नहीं है।

६ भ्रमज—विस्मरण से या और किसी कारण से भ्रम हो जाय और उस भ्रम से अतथ्य भाषण हो जाय तो यह भ्रमज है। इसमें भी बोलनेवाला अपराधी नहीं कहा जा सकता। हां, भ्रम न हो और उसे भ्रम कहा जाय और अपने अतथ्य भाषण को भ्रमज कहकर पापफल से बचा जाय तो यह तक्षक होगा। यह पूरा पाप है। इसी प्रकार कषायावेग के कारण भ्रम हो जाय तो भी पाप है। जैसे-एक आदमी हमारा शत्रु है हमारे मन में उससे घृणा द्वेष आदि है, उसने कोई बात सहज भाव से कही पर हम उसका सहज अर्थ नहीं लगाते, ऐसा अर्थ लगाते हैं जिससे उसकी निंदा हो, और उस भाव का प्रकाशन करते हैं तो यह भ्रमज अतथ्यभाषण न होगा तक्षक अतथ्यभाषण होगा।

जैसे एक संयुक्त कुटुम्ब में कुछ चीज खाने के लिये आई, कुटुम्ब का कोई आदमी वह चीज लेने लगा, कुटुम्ब के मुखिया ने उससे कहा थोड़ी थोड़ी चीज दूसरों को देना है इसलिये कुछ बची रहने देना। यह सूचना इसलिये थी कि लेनेवाला मर्यादित उपयोग करे, पर कुटुम्ब के मुखिया से था उसे द्वेष, इसलिये उसने ऐसा अर्थ लगाया कि ये हमें कुछ लेने ही नहीं देना चाहते, पद पद पर अपमान करना चाहते हैं। इसलिये उसे बदनाम करने के लिये वह इस तरह चिल्लाया

जिससे मेहमान सुन सकें कि मुझे क्या जरूरत है मैं तो मेहमानों के लिये ले जाता हूँ उनका सन्मान करने में भी आपको बुरा लगता है तो जाने दीजिये, यह पड़ी है, अथवा इस तरह चिल्लाया कि मुझे क्या करना है मैं तो अमुक बीमार को यह चीज दे रहा हूँ, मैं तो इसीसे भर पेट रोटी भी नहीं खाता भूखा रहता हूँ। उसके चिल्लाने से मेहमान तथा अन्य रोगी आदि ने मुखिया को मनही मन बुरा समझ लिया, निन्दा की, कदाचित् द्वेष भी पैदा हो गया।

देखने में यह भ्रमज अतथ्य भाषण हुआ है क्योंकि चिल्लानेवाले ने भ्रम से कुछ का कुछ समझ लिया है पर वास्तव में यह भ्रमज नहीं है। भ्रमज तो वहाँ कहा जायगा जहां इन्द्रिय या बुद्धि या ज्ञान संस्कार के कारण कोई भ्रम होगा, कषाय के कारण जो भ्रम होता है वह तक्षक अतथ्य भाषण है। इसमें जो उग्र कषाय भाव है इसका जो बाहिरी जगत पर परिणाम होता है, एक मनुष्य की सरलता का जिस निर्दयता से उपयोग किया जाता है उसको देखते हुए यह बहुत ही तीव्र अतथ्यभाषण है इसलिये उग्र पाप है। इसलिये भ्रमज अतथ्य भाषण का विचार बौद्धिक कारणों को देखकर करना चाहिये द्वेषादि वृत्तियों से पैदा होनेवाला भ्रम, भ्रम नहीं है तक्षण आदि है।

७ **आरम्भज-अतथ्य**—व्यापार आदि में जो अतथ्यभाषण जरूरीसा हो जाता है और जिसमें किसी को ठगने की वृत्ति नहीं रहती सिर्फ उचित लाभ लेने और उचित रहस्य छिपाने की वृत्ति रहती है वह आरम्भज-अतथ्य है। जैसे-किसी ग्राहक को एक रुपये में सौदा देना है पर हम एक रुपया कहेंगे तो वह बारह आना कहेगा और फिर चौदह आने में सौदा हो सकेगा, पर उतने में तो सौदा किया नहीं जा सकता इसलिये हमने अठारह आना दाम बताया, उसने चौदह आना कहा अन्त में कुछ हम घटे कुछ वह बढ़ा, एक रुपया में सौदा जम गया। यह अतथ्य भाषण आरम्भज है। जरूरी तो यही है कि दूकानदार एक बात की दूकान बनाले पर कभी कभी ऐसा होता है कि एक बात की दूकान चल नहीं पाती। एक बात की दूकान में न ज्यादा न कम, ऐसा नियत मुनाफा रक्खा जा सकता है पर जब दूकानदारों में प्रतियोगिता होती है तो वे कोई चीज नियत मुनाफे से कम मुनाफा लेकर या मुनाफा न लेकर बेचते हैं और दूसरी चीजमें अधिक मुनाफा ले लेते हैं, इस प्रकार टोटल बराबर कर लेते हैं पर इसमें एक बातवाला दूकानदार मारा जाता है इसलिये कुछ दिन बाद वह भी अनेक बात में सौदा करने लगता है। हाँ, दूकान असाधारण हो या दूकानदार में बहुत दिनों तक घाटा सहने की ताकत हो तो एकबात की दूकान जमजाती है, अथवा किसी जगह व्यापारियों में प्रतियोगिता नहीं होती तो वहाँ भी एकबात की दूकान सहज ही में जम सकती है। पर इन कठिनाइयों को कोई हल न कर सके और अनेक बात में सौदा पक्का करे तो यह आरम्भज अतथ्य कहलायगा।

पर मानलो ऐसा ग्राहक अपनी दूकान पर आया जो आपसे साधारण ग्राहक की तरह बार बार भाव न करेगा, आप जो कहेंगे वही मान लेगा तो उसको साधारण ग्राहक की तरह भाव बताना और साधारण ग्राहक से अधिक मुनाफा लेकर सौदा देना भक्षकअतथ्य है बल्कि अमुक अंश में चोरी है। ऐसे विश्वस्त ग्राहकों से एकबात की दूकान की तरह साधारण

मुनाफा ही लेना चाहिये। बल्कि अगर ज्यादा दाम बोला गया हो तो उसके दाम वापिस करना चाहिये या कम लेना चाहिये।

इसी तरह जब कोई हमसे यह कहे कि अमुक चीज़ पर इतने प्रतिशत मुनाफा लेकर आप चीज दें और आप उस प्रतिशत मुनाफे को मंजूर कर लें तब फिर झूठ बोलकर उसे ठगना न चाहिये अन्यथा यह भक्षकअतथ्य हो जायगा, आरम्भज-अतथ्य न रहेगा।

प्रश्न— बहुत से मनुष्य बिना किसी द्वेष के छोटी छोटी बातों में झूठ बोला करते हैं वे पन्द्रह मिनट की कह जाँयँगे और एक घंटे में आयेंगे अमुक समय पर आने को कह जाँयँगे और घंटे भर बाद आयेंगे--इसमे बहुत हानि होती है। यह है तो आरम्भज, पर, आरम्भज के समान जरूरी नहीं मालूम होता।

उत्तर-- यह आरम्भज नहीं, प्रमादज है। आरम्भज को क्षन्तव्य मानना चाहिये, पर इस प्रमादज को क्षन्तव्य मानना पड़ता है। वास्तव में यह अपराध है। समय की पाबन्दी का हर-एक आदमी को खयाल रखना चाहिये। कोई आकस्मिक संकट आ जाय या बहुत जरूरी काम आ जाय और समय की पाबन्दी न हो सके तो बात दूसरी है पर उसके लिये कारण बनाकर अपनी आलोचना अवश्य करना चाहिये और कारण के महत्त्व के अनुसार पश्चात्ताप भी प्रगट करना चाहिये। हमने अमुक समय दिया है इसका खयाल रखना चाहिये और उसके पालन की चिन्ता करते रहना चाहिये, थोड़ा बहुत त्रास सहकर भी उसका पालन करना चाहिये। लापर्वाही या प्रमाद बिलकुल न हो, कोशिश पूरी हो, फिर भी अगर समय की पाबन्दी न हो सके तो यह आरम्भज-अतथ्य होगा। अगर ठीक कारण न हो तो प्रमादज होगा।

८ **स्वरक्षक-अतथ्य**— कोई आदमी अपने को धोका देना चाहता हो और उसके धोखे से बचने के लिये हमें अतथ्य बोलना पड़े तो यह स्वरक्षक-अतथ्य होगा। पर यह स्वरक्षक न्यायके विरुद्ध न होना चाहिये। एक तरह से यह न्यायरक्षक-अतथ्य का अंश है, पर न्यायरक्षक में स्वार्थका विचार गौण है कदाचित् नहीं है जबकि इसमें स्वार्थ का विचार है। न्यायरक्षक में न्याय के लिये प्रवृत्ति है स्वरक्षक में स्वार्थ के लिये प्रवृत्ति है। न्यायरक्षक का स्थान इससे ऊँचा है।

अपना रहस्य छिपाने के लिये कभी कभी जो अतथ्य-भाषण करना पड़ता है वह भी स्वरक्षकअतथ्य है। वह न्यायरक्षक के लिये भले ही न हो पर न्याय के विरुद्ध न हो।

जहाँ तक हो सके स्वरक्षकअतथ्य से भी बचना चाहिये, धोखेबाजोंको भी तथ्य से जीतना चाहिये। अतथ्य से अतथ्य को जीतना क्षन्तव्य तो है पर अतथ्य से जो अविश्वसनीयता आती है उससे हानि होती ही है।

९ **प्रमादज-अतथ्य**—लापर्वाही से जो मनुष्य असत्य बोलता है वह प्रमादज असत्य है। समय की पाबन्दी न करना आदि--इस असत्य से व्यावहारिक जीवन में सबको बहुत असुविधा झेलना पड़ती है इसलिये इस अतथ्य का भी त्याग करना चाहिये।

१० **अविवेकज अतथ्य**-अन्धश्रद्धा अविचारकता आदि के कारण मनुष्य जो झूठ बोलता है वह अविवेकज-अतथ्य है।

११ **बाधक-अतथ्य**—ऐसा अतथ्य जो साधक सा मालूम हो, पर बोला गया हो न्याय में बाधा डालने के लिये, वह बाधक-अतथ्य है। इसका

विवेचन साधक-अतथ्य के विवेचन में किया गया है । यह अतथ्य गहरा पाप है ।

१२ तक्षक अतथ्य–ऐसा झूठ बोलना जिससे दूसरों के दिल को चोट पहुँचती हो, उसकी झूठी निन्दा होती हो, पर अपना कोई स्वार्थ सिद्ध न होता हो। अपना कोई लाभ हो या न हो पर बहुत से आदमियों को ईर्ष्या अहंकार आदि के कारण इसमें खूब मजा आता है कि दूसरे की झूठी निन्दा की जाय, दूसरे के दिल को झूठी बात कहकर चोट पहुँचाई जाय आदि । यह अतथ्य पूरा पाप है ।

१३ भक्षक अतथ्य-स्वार्थवश झूठ बोलना, इन अतथ्यभेदों का अच्छाबुरापन प्राणघात के समान है । उसपर विचार करके अतथ्य का त्याग करना चाहिये ।

इन भेदों के विवेचन से इतना पता लग जाता है कि अतथ्य वचन छोड़ने योग्य होने पर भी कोई कोई अतथ्य वचन अच्छे हैं । इसलिये साधारणतः तथ्य और सत्य का साहचर्य होने पर भी कभी कभी और कहीं कहीं अतथ्य भी सत्य हो जाता है । इसी प्रकार यह भी खयाल में रखना चाहिये कि कहीं कहीं और कभी कभी तथ्य भी असत्य हो जाता है ।

यहाँ तथ्य-भाषण के कुछ भेद कर दिये जाते हैं जिससे तथ्य की सत्यासत्यता जानने में और व्यवहार करने में सुभीता हो ।

१–शुद्ध, २–शोधक, ३–प्रमादज, ४–राहस्यिक, ५–निन्दक, ६–पापोत्तेजक ।

१ शुद्ध तथ्य–जिसमें भलाई-बुराई का विशेष विचार नहीं है, तथ्य को अधिक से अधिक हितकारी मानकर कह दिया जाता है, बोलचाल में साधारण लोग जिसे मुख्य रूपमें सत्य मानते हैं वह शुद्ध तथ्य है। इसे विश्वासवर्धक भी कह सकते हैं। इससे प्रेम और आत्मीयता बढ़ती है। इतिहास विज्ञान आदि में इसी की अधिक से अधिक आवश्यकता है।

२ शोधक तथ्य–दूसरे व्यक्ति के या समाज के दोष इस मतलब से कहना कि ये दूर हो जाँय, निन्दा का भाव मनमें न हो, सुधार का भाव मनमें हो तो यह शोधकतथ्य है । समाज सुधारक आदि को यह शोधक-तथ्य बहुत कहना पड़ता है । इसी आशय से पिता पुत्रके, गुरु शिष्यके दोष बताता है, शोधक तथ्य अप्रिय तो हो जाता है पर उसके मूल में सद्भावना और हितैषिता रहती है ।

प्रश्न–अगर कोई मनुष्य बदमाश है, धूर्त है, समाज को ठगता है, अथवा अपनी अज्ञानता या नासमझी के कारण समाज को कुराह में ले जाता है या समाज की हानि करता है तो उसके कार्यों की निन्दा करना पड़ती है या विरोध करना पड़ता है; विरोध में उस व्यक्ति के सुधार की भावना गौण हो जाती है पर समाज के रक्षण या सुधार की भावना रहती है तो इसे क्या कहा जाय ?

उत्तर– इसे शोधक-तथ्य कहना चाहिये क्योंकि इसमें अगर व्यक्ति की निन्दा भी है तो समाज के हित के लिये है । हां, व्यक्ति की निन्दा करने के लिये समाजहित की दुहाई दी जाती हो, समाजहित का बहाना बनाया जाता हो तो यह निन्दक-तथ्य होगा । अगर निन्दा झूठी हुई तब तो यह तथ्य ही न कहलाया यह तो तक्षक या भक्षक अतथ्य बन गया । शोधकतथ्य तभी होगा जब अपनी बात ईमानदारी से ज्यों की त्यों कही जायगी, एक तरह की निष्पक्षता होगी, व्यक्तिगत विरोध होगा पर निन्दा झूठी न होगी, एक व्यक्ति का विरोध बहुत से व्यक्तियों के अहित को दूर करनेवाला होगा ।

हां, एक बातका और भी खयाल रखना चाहिये कि जब हम समाजहित की शुद्ध दृष्टि से किसी व्यक्ति का विरोध भी करें तो यह देख लें कि विरोधी की भूल नासमझी के कारण हुई है या स्वार्थ लोलुपता आदि असंयम के कारण। अगर नासमझी से हुई हो तब हमें उसके व्यक्तित्व को पूरी तरह सुरक्षित रखना चाहिये और इस बात की पूरी कोशिश करना चाहिये कि विरोध के कारण उसके उचित सन्मान या उचित स्वार्थ को धक्का न लगे। पर अगर यह माळूम हो कि विरोधी व्यक्ति स्वार्थ के कारण समाज को कुराह पर ले जा रहा है तो उसके व्यक्तित्व आदि के विषय में उदासीन रहकर या व्यक्तित्व आदि की पर्वाह किये बिना उसके मत का ईमानदारी और निःपक्षता से विरोध करना चाहिये। यह शोधकतथ्य कहलायगा।

३ प्रमादज तथ्य-- किसी बात को ज्यों का त्यों तो कहना, पर कहने की उपयोगिता का विचार न रखना प्रमादजतथ्य है। कहा जाता है कि किसी किसी के पेट में बात नहीं पचती, वह बिना स्वार्थ के या द्वेष के इधर की बात उधर या उधर की बात इधर कह देता है। उसमें द्वेष नहीं होता कि जिससे उसे चुगल-खोर या निन्दक कहा जा सके, उसमें सिर्फ एक तरह का अविवेक या लापर्वाही होती है। पर यह लापर्वाही होती है बहुत भयंकर, कभी कभी इससे बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं। इसलिये बात को पचाने की अधिक से अधिक शक्ति हमारे भीतर होना चाहिये। अगर कभी कहीं ऐसी बात का जिकर करना भी हो तो इन तीन बातों का विचार कर लेना चाहिये।

क-- जिम्मेदारी, ख-- हिताहित, ग--बात का पूरापन।

क-- किसी बात को कहने की जिम्मेदारी हमारे ऊपर कितनी है--इसका खयाल रक्खे।

जिम्मेदारी या उत्तरदायित्व भी दो तरह का होता है एक तो नियोजित दूसरा सहज। नियोजित उत्तरदायित्व तो वह है जिसमें हम किसी समाचार को कहने के लिये नियुक्त किये जाते हैं या हो जाते हैं। गुप्तचर, समाचार-पत्र के सञ्चालक, निरीक्षक (इन्स्पेक्टर) आदि इसी तरह के उत्तरदायी हैं। सहज उत्तरदायित्व यह है कि जिससे हम प्रेम, अनुराग या मोह के वश में होकर बिना किसी प्रेरणा के इधर का समाचार उधर कह देते हैं।

सहज उत्तरदायित्व में जो प्रेम, अनुराग या मोह रहता है वह तीन तरह का होता हैं-- १--उभयप्रेम, २--मूलप्रेम और ३--पात्रप्रेम। जिसका समाचार कहा जाता है वह मूल है, जिसको समाचार कहा जाता है वह पात्र है।

उभयप्रेम से हम ऐसा ही समाचार इधर से उधर कहते हैं जिससे हम दोनों की भलाई समझते हैं, इस बात का खयाल रखते हैं कि दोनों में से किसी को बुरा न लगे किसी का भी अप्रिय काम न हो, दोनों को प्रसन्नता हो।

मूलप्रेम से हम ऐसा ही समाचार कहते हैं जिससे मूल का हित समझते हैं, समाचार कहने से मूल को प्रसन्नता होगी ऐसा खयाल करते हैं। जैसे उसने कोई तारीफ काम किया हो उसमें कोई गुण हो तो उसका प्रचार करना आदि। इसमें पात्र की अपेक्षा मूल से प्रेम अधिक होता है।

पात्र-प्रेम से हम ऐसा समाचार कहते हैं जो पात्र को प्रिय या आवश्यक मालूम होता है, मूल को प्रिय होगा या न होगा इसका विचार नहीं करते, इसमें मूल की अपेक्षा पात्र से प्रेम अधिक होता है।

सहज उत्तरदायित्व में जहाँ तक उभयप्रेमी बना जाय वहाँ तक अच्छा है। इस प्रकार तथ्य बोलने में पहिली विचारणीय बात उत्तरदायित्व की है।

ख– दूसरी बात हिताहित की है। ऐसी ही बात इधर से उधर कहो जिससे दुनिया को कुछ लाभ पहुँचता हो या हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता हो।

ग– तीसरी बात है--बात का पूरापन। अधूरा तथ्य कभी कभी झूठ से भी भयंकर होता है इसलिये जो बात कहो वह ऐसी कहो जिससे उसके जरूरी जरूरी सभी पहलू प्रगट हो जाँय। सुननेवाले को कोई भ्रम पैदा न हो जाय। जैसे मानलो मैंने किसी आदमी के विषय में कहा– कि उसकी यहाँ जरूरत नहीं है क्यों कि यहाँ तो किसी तरह काम चलता ही है पर अमुक जगह बहुत जरूरत है इसलिये उसको वहाँ ही रहना चाहिये। तुमने उस आदमी से जाकर कह दिया कि वे (मैं) कहते थे कि तुम्हारी (उसकी) वहाँ जरूरत नहीं है। पूरी बात न कही कि--क्यों जरूरत नहीं है? उसने समझा कि मुझे नालायक समझा जा रहा है। इससे उसके मन में क्षोभ हुआ, वैर बढ़ा आदि। यह बात के अधूरेपन का फल था। बात के अधूरेपन से कभी कभी बड़े बड़े अनर्थ हो जाया करते हैं।

इन तीनों बातों का विचार करके इधर उधर समाचार ले जाना या पहुँचाना चाहिये अन्यथा चुप रहना चाहिये, बात को पचाने की आदत डालना चाहिये, नहीं तो यह प्रमादज तथ्य होगा जो कि बहुत हानिकर है।

४ राहस्यिक तथ्य– किसी के न्यायोचित गुप्त रहस्य को जानबूझकर प्रगट करना राहस्यिक-तथ्य है जोकि अनुचित है इसलिये असत्य है। प्रमादज-तथ्य में भी रहस्य की बात प्रगट हो जाती है पर उसमें प्रमाद या लापर्वाही की मुख्यता है। राहस्यिक में द्वेष या कषाय की मुख्यता है।

प्रश्न– अगर दुराचारियों के दुराचार का भंडाफोड़ न किया जाय तो जगत में पाप का तांडव होने लगे पर राहस्यिक अतथ्य को आप असत्य या अनुचित कहते हैं, तब दुराचारियों से समाज की रक्षा कैसे की जाय?

उत्तर– न्यायोचित रहस्य को प्रगट करने की मनाई है जो गुप्त रहस्य अनुचित है, जिसके अप्रगट रहने में जगत की हानि अथवा अन्याय या पाप के फैलने की आशंका है या उसी के पतन की आशंका है--वह रहस्य प्रगट किया जा सकता है। अगर कोई डाँकुओं का दल कहीं आक्रमण करने की तैयारी कर रहा है और हमें इस बात का पता है तो वह रहस्य प्रगट कर देना और डाँकुओं को असफल बना देना उचित है। कोई आदमी जाली सिक्के या नोट बनाकर जनता को परेशान करता है तो उसका रहस्य प्रगट कर देना भी उचित है। कोई आदमी चुपचाप आत्महत्या की या परहत्या की चोरी करने की या व्यभिचार करने की तैयारी कर रहा है तो उसका वह रहस्य खोल देना और उसके पाप को विफल बना देना उचित है। इस प्रकार जगत्कल्याण की दृष्टिसे रहस्य खोला जा सकता है।

प्रश्न--इस देश में ऐसे भी साधु हुए हैं जो पापियों के रहस्य के विषय में भी मौन रखते थे बिलकुल वीतराग थे, उनका कार्य हितकर था या अहितकर ?

उत्तर--जो लोग भगवती की विशेष साधना करते हैं या जिनकी सेवाएं विशेष क्षेत्र में होने के कारण परिमित हैं या जिनके सिर पर कोई एक जिम्मेदारी ऐसी है कि अगर वे साधारण मार्ग से चलें तो वे अपनी जिम्मेदारी पूरी न कर सकेंगे, उनको अपना जीवन विशेष रूपमें मर्यादित बनाना पड़ता है। अगर डाकू भी उनके ऊपर विश्वास कर सकें कि ये हमारा भी रहस्य दुनिया में प्रगट न करेंगे तो डाकुओं के मन में यह श्रद्धा किसी दिन उन मुनियों के द्वारा डाकुओं का कल्याण करा सकती है। इसलिये वीतरागता का वह रूप भी किसी किसी के लिये कभी कभी उपयोगी हो सकता है। पर यहां तो रहस्य प्रगट न करने वालों का विचार नहीं करना है किन्तु रहस्य प्रगट करनेवालों का यह विचार करना है कि कोई आदमी निस्वार्थ भाव से या न्याय की रक्षा के लिये किसी का रहस्य प्रगट कर दे तो वह कैसा है। जो भगवती की विशेष साधना के लिये पापियों का भी रहस्य प्रगट नहीं करते उनका विचार साधना के अनुसार किया जाना चाहिये। राहस्यिक तथ्य के विषय में तो यह समझना चाहिये कि परिस्थिति आदि के अनुसार पापियों का रहस्य प्रगट न करना क्षन्तव्य हो सकता है।

निन्दक तथ्य---बात में सचाई हो पर उसके कहने का मतलब न तो सचाई हो, न विश्व-कल्याण हो, किन्तु दूसरे को नीचा दिखाना, एक ढंग से अपने घमंड की पूजा करना हो वह निन्दक तथ्य है।

बहुत से लोग अपनी निन्दकता छिपाने के लिये कहने लगते हैं---हम किसी की चापलूसी नहीं करते साफ बात कहते हैं किसी को बुरा लगे तो भले ही लगे आदि। पर ऐसे लोगों को याद रखना चाहिये कि स्पष्टवादिता का चापलूसी से विरोध है इसका अर्थ निन्दकता से सहयोग नहीं है। स्पष्टवादी होने के लिये इस बात का विचार जरूरी है कि तुम्हारा वक्तव्य जनहित के लिये जरूरी हो या उस आदमी के हित के लिये जरूरी हो जिसके विषय में तुम स्पष्टवादी बने हो। अपना बड़प्पन बघारने के लिये और इसके लिये दूसरों के मामूली दोषों को बढ़ा बढ़ा कर कहने के लिये न हो।

किसी व्यक्ति के या समाज के सुधार के लिये जो आलोचना की जाती है वह निन्दक नहीं शोधक तथ्य है। शोधक तथ्य सत्य है निन्दक तथ्य असत्य है।

पापोत्तेजक तथ्य--ऐसी बात कहना जो घटना की दृष्टि से तो सच मालूम होती हो पर उसका परिणाम सच अर्थात् कल्याणकारी न हो जैसे-चोरी जूवा आदि से कोई आदमी धनी बन गया तो इसका इस ढंग से उल्लेख करना कि वह अनुकरणीय मालूम हो तो यह बात पापोत्तेजक तथ्य है इससे पाप को उत्तेजना मिलती है।

प्रश्न--जगत में अगर पाप अच्छा फल देकर सफल होता है तो उसका उल्लेख न करने से कैसे चलेगा ? हमारे आँख बन्द कर लेने से जैसे दुनिया मिट नहीं जाती उसी प्रकार पाप की सफलता का उल्लेख न करने से पाप की सफलता मिट न जायगी। पाप इस प्रकार सफल क्यों होता है इसका पता लगाने के लिये कम से कम पाप

की सफलता का उल्लेख जरूरी है।

उत्तर—पाप की वह सफलता क्यों होती है और उसे कैसे रोका जा सकता है इत्यादि विचार के लिये पाप की सफलता सूचक घटनाओं का उल्लेख पापोत्तेजक तथ्य नहीं है क्योंकि इससे पाप को उत्तेजना नहीं मिलती। इसमें तो पाप की उस सफलता को रोकने के लिये उनका उपाय ढूँढ़ने के लिये इशारा किया जाता है।

प्रश्न—घटना का परिणाम कुछ भी हो पर समाचार पत्र आदि का काम है कि वे घटना को ज्यों का त्यों प्रकाश में लायें। हो सकता है कि जिससे हम बुरा परिणाम समझते हों उससे अच्छा परिणाम निकले।

उत्तर—समाचार पत्रों का सम्बन्ध जहां तक समाचारों से है वहां तक उन्हें शुद्ध तथ्य ही प्रगट करना चाहिये। जब वे उपदेशक के रूप में काम करें तब उन्हें खयाल रखना चाहिये कि उनका तथ्य शोधक हो पापोत्तेजक तथ्य नहीं।

प्रश्न—बहुत से विद्वानों का मत है कि कला कला के लिये है। इसलिये वे अपने कथा साहित्य में परिणाम पर विचार नहीं करते वस्तुस्थिति पर विचार करते हैं। उनका कहना है कि दुनिया में सत्य की ही विजय नहीं होती असत्य की भी होती है तब हम वास्तविकता के विषय में उपेक्षा क्यों करें और एक निश्चित लकीर पर ही चल कर पाठकों की उत्सुकता पहिले नष्ट करके मजा किरकिरा क्यों करदें? हम सत्यासत्य की पर्वाह किये बिना कला की ही उपासना क्यों न करें?

उत्तर—सत्य पर जगत स्थिर है इसलिये कला को स्थिर रहने के लिये सत्य के यहां स्थान न होगा ऐसी बात नहीं है। कला को वास्तविकता के विरुद्ध जाने की कोई जरूरत नहीं है, जाना भी न चाहिये। वास्तविकता सुखान्त ही नहीं है दुःखान्त भी है। इसलिये कलाकार को सुखान्त की तरह दुःखान्त का भी चित्रण करना चाहिये। पर सुखान्त हो या दुःखान्त दोनों में ही सत्य रह सकता है रहता है। पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख, दोनों में सत्य है। कलाकार पाप या पुण्य किसी को भी नायक बनाकर दुःखान्त या सुखान्त कथा लिख सकता है। दोनों में कला के लिये स्थान है दोनों में ही सत्य है।

प्रश्न—पुण्य का फल सुख बताना और पाप का फल दुःख बताना, दोनों एक ही बात है। पर जीवन में तो पुण्यात्मा भी दुःखी और पापी भी सुखी देखे जाते हैं—इस तथ्य पर कलाकार क्यों उपेक्षा करे और कलाकार यदि उपेक्षा भी कर जाय तो पाठक के मन का समाधान कैसे हो, तथ्य पर प्रकाश न डालने के कारण क्या वह साहित्य पर विश्वास करना न छोड़ देगा?

उत्तर— पुण्य या पाप किसी काम का नाम नहीं है जो काम जनहित या विश्वहित के लिये उपयोगी है वह पुण्य है, जो इसके विरुद्ध है वह पाप है। जिसे हमने पुण्य कहा है उससे अगर दुःख मिलता है तो यह सोचना चाहिये कि ऐसा हुआ क्यों? सुखकर ही तो पुण्य है फिर पुण्य दुःखान्त कैसे हुआ? यहां अवश्य ही ऐसी बात मिलेगी जिसके विषय में हमें भ्रम हुआ है?

अधिकतर होता यह है कि जब सदाचार के साथ में विवेक नहीं होता तब भावना अच्छी होने पर भी समझदारी न होने से पुण्य भी दुःखद हो जाता है, अर्थात् जो कार्य साधारण रूप में जनहित के लिये है, वह देशकाल का विचार न करने से अहित के लिये हो जाता है। पुण्य को

दुःखान्त बताने का मतलब यह है कि विवेकहीन पुण्य की निरर्थकता बताई जाय, अथवा समाज की उस विवेकहीनता पर प्रकाश डाला जाय जिसने व्यक्ति के पुण्य को निष्फल बना दिया है। समाज की विवेकहीनता या व्यक्ति की विवेक-हीनता ही पुण्य की निष्फलता में कारण है । लेखक अगर इसकी तरफ इशारा करता है, इसके लिये चरित्रचित्रण में एक धर्मात्मा का बलिदान करा देता है तो यह दुःखान्त चित्रण भी सत्य है।

१	पुण्यप्रधान चरित्र	सुखान्त
२	पापप्रधान ,,	दुःखान्त
३	व्यक्तिदोषप्रधान पुण्य चरित्र	,,
४	व्यक्तिगुणप्रधान पाप ,,	सुखान्त
५	समाजदोषप्रधान व्यक्तिपुण्यचरित्र	दुःखान्त
६	समाजदोषप्रधान व्यक्तिपाप ,,	सुखान्त
७	पुण्यप्रधान चरित्र	दुःखान्त
८	पाप प्रधान ,,	सुखान्त
९	प्रकृतिप्रधान ,,	दुःखान्त
१०	प्रकृति प्रधान ,,	सुखान्त

१—इसमें नायक के पुण्य का सफल उत्कर्ष बताया जाता है, उसके पाप तथा समाज के पाप गौण रहते हैं या इतने कमजोर रहते हैं कि नायक के पुण्य से पराजित होकर निष्फल जाते हैं। म. राम की कथा, पांडवों का जीवन आदि इसी तरह के हैं । भारतवर्ष में अधिकांश पुराने चरित्र इसी श्रेणी में आते हैं।

२—इसमें व्यक्ति के गुण गौण रहते हैं पाप की मुख्यता होती है और पाप सफल होकर चरित्र को दुःखान्त बनाता है। शिशुपालवध, कीचक-वध, जयद्रथवध, आदि इसी श्रेणी के हैं। इस प्रकार के चरित्र कुछ कम ही लिखे जाते हैं क्योंकि जिसके पाप को मुख्यता देना है उसको नायक बनाने का रिवाज कम है। होना भी चाहिये।

३—इस श्रेणी में उन लोगों के चरित्र आते हैं जो थे तो पुण्यात्मा, पर उस पुण्य के अनुरूप जिनमें समझदारी, द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विवेक नहीं था इसलिये उनका पुण्य सफल नहीं हुआ। उनने भगवान सत्य को पाये बिना भगवती अहिंसा को पाने की चेष्टा की इसलिये उनका जीवन दुःखान्त हुआ। इसमें उन राजपूत वीरों की कहा-नियाँ आ सकतीं हैं जिनने ईमानदारी और बहा-दुरी से प्राण दिये पर अहंकारवश संगठन न कर सके या अन्यायी का भी पक्ष ले बैठे।

४—इस श्रेणी में उनके चरित्र आते हैं जिनने किये तो पाप हैं पर उनमें कुछ ऐसे गुण रहे हैं जो उन्हें जीवन में सफल बना सके हैं। उदाहरणार्थ अपने या अपनी जाति के स्वार्थ के लिये साम्राज्य निर्माण करना एक पाप है पर इस पाप में सफल होने वालों के सुखान्त-चरित्रों से दुनिया का साहित्य भरा पड़ा है। उनमें साम्राज्य बनाने वाले महापुरुषों के गुण--वीरता त्याग कष्टसहि-ष्णुता आश्रित-वात्सल्य सदाचार आदि—दिखाई देते हैं उन्हीं से उनका जीवन सफल रहता है लेखक का जोर भी इन्हीं गुणों की तरफ होता है। इस-लिये इन्हें सुखान्त बनाने में भी कुछ विशेष हानि नहीं है बल्कि बहुत कुछ लाभ भी है।

५—इस श्रेणी में ऐसे महापुरुषों के चरित्र आते हैं जो पूर्ण पुण्यात्मा अर्थात भगवान सत्य और भगवती अहिंसा के लाड़ले थे विवेकी भी थे सदाचारी भी थे, फिर भी जिनका जीवन सुखान्त नहीं हुआ। जैसे महात्मा ईसा। महात्मा ईसा का जीवन महान था, पवित्र था, विवेकपूर्ण था, फिर भी अपने जीवन में वे कोई सफलता

न देख पाये । इसमें उनका नहीं समाज का अपराध था ऐसे महात्माओं के दुःखान्त चरित्र में समाज के दोषों पर ही मुख्यता से प्रकाश डाला जाता है ।

इस वर्ग में महात्मा ईसा सरीखे महान् व्यक्ति ही आते हैं सो बात नहीं है किन्तु समाज की चक्की में पिस-पिसकर जिन जिन छोटे बड़े व्यक्तियों का बलिदान हो जाता है वे सब आते हैं, उनकी उस विषय में निरपराधता ही पुण्य है जिसकी निष्फलता के कारण उनका चरित्र पांचवें वर्ग में आ जाता है । समाज के अत्याचार से पीड़ित कोई विधवा आत्महत्या करले तो इस समाज-दोष का प्रदर्शन भी इसी वर्ग में आ सकता है। इस वर्ग में समाजदोष की मुख्यता है ।

६—इस वर्ग में वे चरित्र आते हैं जो समाज के दोष के कारण पापपूर्ण होनेपर भी सुखान्त होते हैं । यह भी हो सकता है कि उस सुखान्तता का कारण व्यक्ति के कोई असाधारण गुण हों । सो अगर उन गुणों पर प्रकाश डालने का लेखक का विचार हो तो वह चौथे वर्ग का अर्थात् व्यक्तिगुणप्रधान पापचरित्र कहलायगा । पर अगर लेखक का विचार व्यक्ति के गुण दिखाने का नहीं है, उसके तो वह पाप ही दिखाना चाहता है फिर भी जगत की घटनाओं को देखकर उस पाप को सुखान्त बताता है तो इस जगह उसे समाज के किसी दोष पर प्रकाश डालना चाहिये जिससे पाप भी सुखान्त हो सके ।

पाप कहते ही उसे हैं जो विश्व में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक बढ़ानेवाला हो इसलिये जो कार्य पाप है वह आगे पीछे विश्वदुःखवर्धन करनेवाला तो होगा ही, फिर भी स्थूल रूपमें जो वह सुखान्त मालूम हुआ उसका कारण ढूँढ़कर बताना लेखक का काम है जिससे सुखान्त दिखनेवाला पाप दुनिया से दूर हो ।

दुराचारी, ढोंगी, दुःस्वार्थी, धर्मगुरु, नेता आदि समाज की छाती पर तागड़धिन्ना करते हुए भी सफल देखे जाते हैं वे अपने ही समान अन्य स्वार्थियों को इकट्ठा कर लेते हैं इस पाप की पीढ़ियाँ तक सुखान्त देखी जाती हैं पर दूसरी तरफ इनसे समाज की हानि देखी जाती है इसका कारण होता है--समाज का अविवेक, अपरीक्षकता आदि । इसकी तरफ ध्यान दिलाने से पापी जीवन को सुखान्त दिखाने में भी बुराई नहीं है ।

इन छः वर्गों के कथानक ऐसे हैं कि इनमें से किसी भी वर्ग का कथानक लेखक चुन सकता है फिर भी सत्य का विरोधी नहीं होता ।

जो लोग तथ्य को मुख्यता देना चाहते हों और दुःखान्त लिखना ही पसन्द करते हों और भले आदमियों को भी दुःखान्त चित्रित करना चाहते हों वे भी तीसरे-व्यक्तिदोषप्रधान पुण्य-चरित्र और पांचवें समाजदोषप्रधान व्यक्ति पुण्य वर्ग के चरित्र लिख सकते हैं इनमें तथ्य का भी निर्वाह है और सत्य का भी इनको पापोत्तेजक तथ्य नहीं कह सकते ।

कला कला के लिये है, येह कहनेवालों को इन छः वर्गों में अपनी कला का विहार कराने के के लिये इतनी गुंजायश है कि उनकी कला किसी की पर्वाह किये बिना काफी विहार कर सकती है । कला की स्वतन्त्रता में भी बाधा न आयगी न तथ्य का विरोध होगा न सत्य का ।

आगे के जो वर्ग हैं उनमें से सातवें आठवें वर्ग का उपयोग किसी लेखक को न करना चाहिये, वे पापोत्तेजक हैं, और तथ्यहीन भी हैं । नववें दसवें वर्ग भी पापोत्तेजक हो

सकते हैं पर उनमें पुण्य पाप की पर्वाह नहीं है, वह कथाकार या धर्मशास्त्रकार का विषय नहीं है वह तो इतिहास या भौतिक विज्ञान आदिका विषय है।

७—किसी पुण्य को दुःखान्त बताया जाय पर उस दुःख का कारण न तो व्यक्ति का दोष बताया जाय न समाज का, यह सातवीं श्रेणी है जो कि सत्यहीन भी है और तथ्यहीन भी है।

पुण्यात्माओं का जीवन भी जगत् में दुःखान्त देखा जाता है पर वह सामूहिक रूप में सुखान्त होता है यह बात न भूलना चाहिये। अगर वह सामूहिक रूप में सुखान्त नहीं है तो उसके मूल में कोई सामाजिक दोष होना चाहिये जिससे वह पांचवें वर्ग में आजाय। अगर कोई सामाजिक दोष नहीं है तो कोई व्यक्तिगत दोष होना चाहिये जिससे तीसरे वर्ग में आजाय। सामाजिक या व्यक्तिगत कोई भी दोष न हो और पुण्यजीवन दुःखान्त हो जाय -यह बात तथ्यहीन है और सत्यहीन तो है ही। इस प्रकार के चित्रण मन को पुण्य से लापर्वाह बनाकर अन्त में पापोत्तेजन देते हैं। स्वाभाविकता के नाम पर भी इनका चित्रण नहीं किया जा सकता। वास्तव में ये स्वाभाविक हैं भी नहीं।

८—पाप को सुखप्रद चित्रित करना आठवाँ वर्ग है। यह भी सातवें वर्ग की तरह तथ्यविरुद्ध और सत्यविरुद्ध है। जीवन में पापी का जीवन भी जो सुखान्त देखा जाता है उसके भीतर सामूहिक दुःख रहता है। इसलिये सामूहिक रूप में वह दुःखान्त ही कहा जा सकता है। अथवा उस व्यक्ति में कोई गुण ऐसा जबर्दस्त होता है जिससे उस का जीवन सुखान्त हो जाता है उस गुण की तरफ अगर ध्यान दिलाया जाय तो वह चित्रण चौथे वर्ग का हो जायगा। अथवा समाज का कोई ऐसा दोष हो जिससे समाज के लिये दुःखकर कार्य भी व्यक्ति के लिये सुखकर रूप में सफल बन जाता है, तो इस समाजदोष की तरफ ध्यान दिलाने से यह छट्ठे वर्ग का हो जायगा। परन्तु न तो समाज का दोष बताया जाय न व्यक्ति के गुण की तरफ़ इशारा किया जाय और फिर पाप को सुखान्त बताया जाय तो यह पापोत्तेजक है असत्य है और अतथ्य भी है। सामूहिक रूपसे जो सुखसे अधिक दुःख दे वही तो पाप है इस पाप को सुखान्त बताना तथ्य और सत्य दोनों का विद्रोह करना है।

९-१०—प्रकृतिप्रधान घटनाएँ सुखान्त भी होती हैं और दुःखान्त भी। एक आदमी धर्मात्मा था पर मकान पर बिजली गिरी इससे दबकर मर गया; एक आदमी पापी था, भूकम्प हुआ जमीन फटी उस में वह नीचे गया पर दूसरे ही क्षण दूसरा कम्प आया वह आदमी नीचे से उछलकर फिर ऊपर आगया, बच गया, इस प्रकार प्रकृतिप्रधान सुखान्त दुःखान्त घटनाएँ इतिहास लेखक या समाचारवाहकों के विषय हैं। कथाकार को इन का उपयोग सन्देश देने के लिये न करना चाहिये और अगर भोले लोगों के दिल पर प्रभाव डालने के लिये करना भी पड़े तो इस प्रकार करना चाहिये कि पहिले या दूसरे वर्ग में उन्हें शामिल किया जासके।

इस प्रकार चरित्रचित्रण के लिये दस वर्ग बनाकर विवेचन करने से पापोत्तेजक तथ्य का वास्तविक रूप समझ में आजायगा। पापोत्तेजकता से बचने के लिये कला की हत्या करना पड़ेगी या तथ्य पर उपेक्षा करना पड़ेगी या स्वाभाविकता को नष्ट करना पड़ेगा ऐसी कोई बात नहीं है।

प्रारम्भ के छः वर्ग में रहने से साहित्य सत्य तथ्य कलापूर्ण और स्वाभाविक बनजाता है।

इस प्रकार नाना तरह के अतथ्य और नाना तरह के तथ्य का विवेचन करने से पता लगजाता है कि कहां किस रूप में कितना सत्य है। सत्य व्रत आखिर भगवती अहिंसा का एक अंग है इसलिये विश्वहित ही उसकी कसौटी है।

संसारहित है प्राण तेरा यम नियम सब अंग हैं।

यहाँ भगवती अहिंसा के तीन ही अंग बतलाये गये हैं १—अहिंसा अर्थात् प्राणघातत्याग २—अचौर्य अर्थात् अर्थघात त्याग ३—सत्य अर्थात् विश्वासघात त्याग। इसके सिवाय भी कर्तव्य कर्म हैं जो उपांग हैं इसलिये इन अंगों में ही समाजाते हैं। ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि संयम के अन्य अंगों का भी विवेचन किया जाता है पर विश्वकल्याण की दृष्टि से विचार किया जाय तो वे उपसंयम ही मालूम होते हैं। ब्रम्हचर्य वास्तव में सद्भोग है और अपरिग्रह वास्तव में निरतिग्रह है। ये मूल संयम नहीं हैं संयम के साधक या अंग होने से उपसंयम हैं।

फिर भी देश काल के अनुसार संयम और पाप का इच्छानुसार विभाग करके विवेचन किया जा सकता है। भगवती के अंग दो या चार या पांच भी किये जा सकते हैं यह सिर्फ़ समझाने की शैली है।

मैंने जो भगवती के तीन ही अंग किये हैं और बाकी को उपांग बनाया है इसका एक कारण यह भी है कि अंग और उपांग का जैसा कम ज्यादा महत्त्व है वैसा ही मेरे बताये हुए भगवती के अंगों और उपांगों का है।

जीवनमें जब संयम का प्रवेश होता है तब वह किसी एक ही रूप में दिखाई नहीं देता, वह सब तरफ़ से दिखाई देता है। यह हो सकता है कि कोई शक्ति के अनुसार कम ज्यादा संयम का पालन करे पर यह नहीं हो सकता कि अमुक अंग का पालन करे अमुक का नहीं। किसी किसी बीमारी के प्रगट होने का द्वार एकाध ही होता है पर बीमारी सर्वांगपूर्ण होती है, उसका फल मौत आदि भी सर्वांगपूर्ण होता है। इसी प्रकार असंयम भी सर्वांगपूर्ण है। अब यह बात दूसरी है कि किसी का असंयम प्राणघातरूप में प्रगट होता है किसी का अर्थघात या विश्वासघात के रूप में। प्रगट होने के द्वार के भेद से असंयम में तरतमता नहीं होती। जो लोग अकेला सत्य आदि का व्रत लेते हैं वे संयमी नहीं हैं संयम के एकाध बाहरी रूप के अभ्यासी हैं। हाँ, संयम में विश्वहित की दृष्टि से तरतमता होती है उस दृष्टि से संयमी जीवन में तरतमता बताई जासकती है और अंगों और उपांगों में भी तरतमता है।

साधारणतः यही उचित है कि मनुष्य उपांगों की अपेक्षा अंगों को पाने की पहिले चेष्टा करे। पर इसका यह मतलब नहीं है कि मनुष्य पाप से नहीं बच सकता तो अनुपापों की सीमा न रक्खे छोटा से छोटा अनुपाप भी अगर हम रोक सकें तो भी अच्छा है विश्वहित में कुछ न कुछ सहायता मिलेगी ही, भले ही इतने से हम संयमी न कहला सकें। जो मनुष्य दंभ के बिना, लालसा के बिना, थोड़ा-सा भी विश्वहित करता है वह भी निरर्थक नहीं जाता।

आचारकांड-चौथा अध्याय

[भगवती के उपांग]

चार उपांग

तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में उपांगों के भेद बतादिये गये हैं और उसी अध्याय के अंत में अंग उपांगों की तरतमता बता दी गई है। उप-संयम चार हैं १-सद्भोग, २-सदर्जन, ३-निरतिग्रह, ४-निरतिभोग। इस तरह उपसंयम के विरोधी उपपाप भी चार हैं- १ दुर्भोग २ दुरर्जन ३ अतिग्रह ४ अतिभोग। यद्यपि ये चारों उपपाप पाप में शामिल हैं फिर भी पाप और उपपाप में तरतमता है और वह तरतमता सामाजिक दृष्टि से है। पाप नैतिक नियम और सामाजिक मर्यादा के प्राण और शरीर दोनों को नष्ट करदेता है जब कि उपपाप बाहरसे मर्यादा की कुछ रक्षा करता है प्राण नष्ट करके भी वह शरीर को बचाये रखता है। उपपाप से हानि कम होती है ऐसा नियम तो नहीं है पर आघात सीधा न होने से हानि कम मालूम होती है। सामाजिक नियमों का सीधा उल्लंघन न होने से उपपापी को पापी नहीं कहते।

सद्भोग

भोग शब्द के कई अर्थ हैं। पहिले काम के चार भेदों में भोग नाम का पहिला भेद आया है जिसका अर्थ था किसी चीज़ का ऐसा उपयोग करना जिससे दूसरे बार अपने लिये उसकी वैसी उपयोगिता न रहे। बोलचाल में कहीं कहीं भोग शब्द का अर्थ स्त्री पुरुष का लैङ्गिक विषय-सेवन किया जाता है। साहित्य में और बोलचाल में भोग शब्द काम के अर्थ में भी आता है। उस आदमी ने जवानीभर खूब भोग भोगे अर्थात् हर तरह का वैषयिक सुख लूटा। पर यहाँ भोग शब्द का अर्थ इससे भी कुछ व्यापक है। काम से जो विषयानन्द मिलता है वह तो भोग है ही पर जीवनानन्द भी भोग है। इस प्रकार स्वाद का आनन्द भी भोग है पेट भरने का आनन्द भी भोग है। इस प्रकार काफी व्यापक अर्थ में भोग शब्द का उपयोग किया जा रहा है। इसके अनुसार जीवन के लिये उपयोगी किसी भी वस्तु का उपयोग कर लेना भोग है।

भोग कोई पाप नहीं है। जहाँ तक वे अपने को सुख देते हैं और दूसरों को दुःख नहीं देते वहाँ तक इनका इच्छानुसार उपयोग करना चाहिये। भोग का त्याग वहीं पुण्य है जहाँ वह विश्वसुखवर्धन के लिये उपयोगी हो जाय। निरर्थक ही भोगों का त्याग करना कोई पुण्य या कर्तव्य नहीं है।

प्रश्न- पुराने जमाने में बड़े बड़े महात्माओंने, जैसे म. महावीर म. बुद्ध आदिने गृहत्याग किया था, उपवास आदि किये थे, अधिक से अधिक

भोगों का त्याग किया था क्या वह सब पुण्य नहीं था ।

उत्तर– वह पुण्य था क्योंकि उनने उतना ही त्याग किया था जितना त्याग जरूरी था । उनने विश्वकल्याण के लिये जो लोकसाधना का कार्य किया था उसके लिये उस समय गृहत्याग जरूरी था, बहुत कष्टसहिष्णुता की आवश्यकता थी उसका अभ्यास भी करना था, शिष्यों में ऐयाशी न आजाय इसके लिये खुद आदर्श बनकर बताना था इसलिये उनने अनेक तरह के कष्ट उठाये । जरूरत न होने पर तो दोनों ने ही बहुत सी तपस्याओं का त्याग कर दिया था । म. बुद्ध ने तो मध्यममार्ग का प्रचार करके अनुचित देहदंड का त्याग कर ही दिया था और म. महावीर ने भी केवलज्ञान पाने के बाद बहुतसी बाह्य तपस्याओं का त्याग कर दिया था । ब्रह्मचर्य आदि तो उन्हें जरूरी ही था इसलिये रक्खा था ।

हाँ, जो लोग उपयोगिता को देखकर त्याग नहीं करते त्यागी कहलाने के लिये त्याग करते हैं, किसी अवसर की तैयारी करना भी जिनका लक्ष्य नहीं है, अनावश्यक गंदगी रखते हैं, परिश्रम से जी चुराते हैं और अनावश्यक कष्ट सहते हैं वह सब व्यर्थ है । सद्भोग के त्याग करने की जरूरत नहीं है या अमुक अंश में किसी साधना के लिये त्याग करने की जरूरत है । त्याग करना चाहिये दुर्भोग का ।

कला का व्यसन न हो किन्तु कलाप्रियता हो, परिमित शृङ्गार हो, स्वच्छता हो, कम खर्च में स्वास्थ्यवर्धक स्वादिष्ट भोजन हो, इस प्रकार के भोग का त्याग न करना चाहिये । हाँ, सहिष्णुता जरूरी है जिससे इनके अभाव में भी मनुष्य सुखी रह सके ।

एक बात और है । किसी को कला में आनन्द मिलता है, किसी को एकान्तमय सादगी में, किसी को किसी और चीज में, यह सब अपनी अपनी रुचि की बात है, अरुचिकर होने से अगर हम किसी चीज का त्याग कर देते हैं तो इसे संयम नहीं कहते । संयम तो उसे कहते हैं कि जो रुचिकर भी हो पर स्वपरकल्याण या विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से उसका त्याग किया जाय । इसलिये रुचिकर होने पर भी दुर्भोग का त्याग करना चाहिये । सद्भोग अगर अरुचिकर हो तो उसका त्याग हो ही जायगा पर वह संयम न कहलायगा । रुचिकर सद्भोग के त्याग करने की जरूरत नहीं है ।

कभी कभी रुचिकर सद्भोग के त्याग की भी जरूरत हो जाती है । महात्मा लोग जनहित के लिये गृहत्याग करते हैं, बड़ी बड़ी आमदनी छोड़ते हैं, आजीविका छोड़ते हैं, जेलों में जाते हैं, यह सब साधारण संयम नहीं है किन्तु विशेष संयम है अर्थात् तप है । तप भी संयम का एक अंश कहा जा सकता है पर उसमें एक बड़ा अन्तर यह है कि उसमें संयम के एक ही अंश पर बहुत अधिक जोर डाला जाता है । बाकी अंशोंसे तप में बहुत कम सम्बन्ध रहता है । उन अंशों में वह असंयमी भी हो सकता है । स्वतंत्रता के लिये जेल में जानेवाला बहादुर अगर निस्वार्थ हो तो हम उसे तपस्वी कहेंगे । पर यह हो सकता है कि वह अपने आन्दोलन के विषय में पूरा ईमानदार होकर भी जीवन के अन्य अवसरों पर व्यभिचारी मिथ्यावादी चोर हिंसक आदि हो । इसलिये हम उसे तपस्वी कहकर भी संयमी नहीं कह सकते । साधारण तप और संयम एक दूसरे

के अनुकूल हैं पर अनुकूल होने पर भी उनके एक साथ रहने का नियम नहीं है। साधारण रीति से तपस्वी असंयमी भी हो सकता है और संयमी अतपस्वी भी हो सकता है। तपस्वी संयमी हो यह शोभा की बात है।

इससे इतना पता लगता है कि संयम के लिये दुर्भोग का ही त्याग जरूरी है सद्भोग का त्याग नहीं। इसलिये सद्भोग उपसंयम है। जनहित के लिये सद्भोग का त्याग करना पड़े तो वह तप है।

यहाँ सद्भोग और दुर्भोग का विचार संयम की दृष्टि से ही करना है। जिससे हिंसा होती हो, द्वेष बढ़ता हो, जिम्मेदारी का भान न रहता हो, सामाजिक सुव्यवस्था भंग होती हो वह दुर्भोग है, इससे उल्टा सद्भोग है।

सद्भोग अगणित हैं इसलिये उन को गिनाने की जरूरत नहीं है। मुख्य मुख्य दुर्भोगों से मनुष्य बचा रहे तो इतना होने से ही वह सद्भोगी कहा जा सकता है। इसलिये यहाँ खास खास दुर्भोगों का विचार कर लिया जाता है।

एक बात और है, दुर्भोग का निर्णय भी देशकाल के अनुसार होता है, या कम से कम किसी कार्य की दुर्भोगता देश काल के अनुसार काफी घटती बढ़ती है। जैसे—मांसभक्षण हिंदुस्थान में दुर्भोग है बल्कि हिंसा है जब कि ध्रुव प्रदेशों के आसपास जहां वनस्पति दुर्लभ है वहां दुर्भोग नहीं है या स्वल्प है। दुर्भोग भी बहुत से हैं पर उनमें से मुख्य मुख्य के नाम यहां दिये जाते हैं।

१—व्यभिचार, २—मांसभक्षण, ३—मद्यपान

१ व्यभिचार— अपने पति या अपनी पत्नी के सिवाय किसी पुरुष या स्त्री से कामसेवन करना व्यभिचार है।

व्यभिचार की चार श्रेणियाँ हैं—

१—परस्त्रीगमन या परपुरुषगमन, २—असहचरगमन, ३—वेश्यागमन, ४—अप्रमाणितसहचरगमन।

बलात्कार आदि में व्यभिचार की मुख्यता नहीं है हिंसा की मुख्यता है, वह एक तरह की डकैती भी है इसलिये वह व्यभिचार से कई गुणा अधिक और दूसरी तरह का महापाप है। उपपाप से वह इतना अधिक और भिन्न है कि उपपाप के प्रकरण में उसका विचार भी नहीं किया जाता है। वह तो मनुष्यवध के समान बल्कि कुछ अंशों में उससे भी अधिक है।

१—परस्त्रीगमन या परपुरुषगमन भी उपपाप नहीं है क्योंकि काफी बड़ी भारी चोरी है और बड़ा भारी असत्य है। वह अर्थघात और विश्वासघात होने से पाप है। उपपाप के प्रकरण में उसका उल्लेख सिर्फ इसलिये किया जाता है कि वह व्यभिचार नामक उपपाप की जाति का पाप है।

व्यभिचार, चोरी और विश्वासघात में शामिल हो जाता है इसलिये उसे अलग गिनाने की जरूरत नहीं है अन्यथा उसकी महत्ता चोरी और विश्वासघात से कम नहीं है बल्कि यह सामाजिक व्यवस्था और कौटुम्बिक जीवन को इस तरह बर्बाद करता है कि चोरी और झूठ का पाप भी इसके आगे फीका पड़ जाता है।

पिछले तीन व्यभिचार ही वास्तव में उपपाप हैं।

२— असहचरगमन का अर्थ है जिनका विवाह न हुआ हो या जो विधुर या विधवा हों उनमें परस्पर कामसेवन होना। अगर उनमें से कोई भी एक विवाहित है तो वह व्यभिचार उपपाप नहीं रह जाता किंतु अपने सहचर के साथ

विश्वासघात और चोरी होने से पाप हो जाता है।

प्रश्न—विवाहित ही पापी है या खुद अविवाहित होने पर विवाहित के साथ कामसेवन करनेवाला भी पापी है।

उत्तर—दोनों विवाहित हैं तो दोनों पापी हैं ही, पर अगर दो में से एक भी विवाहित है तो भी दोनों पापी हैं क्योंकि दूसरे के सहचर के साथ कामसेवन करना भी दूसरे के साथ विश्वासघात या चोरी करना है। हां, अगर किसी को दूसरे के विवाहित होने का पता न हो तो वह पापी नहीं उपपापी कहा जायगा।

प्रश्न—विधवा के साथ विवाह कर लिया जाय तो इसे उपपाप कहा जाय या न कहा जाय?

उत्तर— विधवा-विवाह तो पाप है ही नहीं, साथ ही उपपाप भी नहीं है। किसी का कभी विवाह हुआ और उस विवाह का साथी मर चुका है तब उसकी स्थिति विवाह के लिये वैसी ही हो जाती है जैसी उसी उम्र के कुमार या कुमारी की, इसलिये वधू—जिसका विवाह हो रहा है—कुमारी हो या विधवा उसमें कोई अन्तर नहीं है। न इसमें विश्वासघात है न चोरी।

प्रश्न— क्या विधवा के साथ संबंध करने से व्यभिचार का दोष नहीं लगता? यदि लगता है तो विधवा-विवाह में वह दोष कहां चला जायगा?

उत्तर— बिना विवाह के तो कुमारी के साथ संबंध करने में भी व्यभिचार का दोष है पर विवाह के द्वारा जैसे कुमारीपन स्वस्त्रीपन में बदल जाता है उसी प्रकार विवाह के द्वारा विधवापन भी स्वस्त्रीपन में बदल जाता है। विधुरपन का विचार करने से भी यही बात ध्यान में आती है। विधुर जैसे एक दिन परपुरुष है लेकिन विवाह के बाद वही स्वपुरुष हो जाता है और व्यभिचार का दूषण नहीं लगता उसी प्रकार विधवा भी एक दिन पर-स्त्री है लेकिन उसके साथ विवाह करने के बाद उसमें परस्त्रीपन नहीं रहता।

प्रश्न— विधवा को परस्त्री न कहिये क्योंकि जब पर ही नहीं तब परस्त्री कहाँ रही? परन्तु जो स्त्री तलाक दे चुकी है वह तो परस्त्री ही है उसका पति जिन्दा है तब उस के साथ विवाह करनेवाला व्यभिचारी कहाजायगा या नहीं?

उत्तर— तलाक अच्छी चीज नहीं है तलाक कम से कम हो या बिलकुल न हो यह बहुत अच्छा है। पर अगर हो जाय तो उस के साथ शादी करने वाला व्यभिचारी नहीं है। क्योंकि एक दिन जो पति था वह तो अवश्य जिन्दा है पर उस स्त्री की अपेक्षा उसका पतित्व जिन्दा नहीं है। इसलिये वह स्त्री अब विधवा के समान विवाह के योग्य है। यही बात पुरुष के लिये है।

विधवाविवाह आदि प्रश्नों पर जो विचार करना पड़ता है उसका कारण यह है कि नर और नारी में अनावश्यक या अन्यायपूर्ण विषमता आगई है। एक युग ऐसा निकल गया है जब नारी सम्पत्ति के समान समझी जाती थी और ऐसे भी दुर्दिन गुजर चुके हैं जब कि पति के मरने पर उस की पत्नियाँ भी उस की लाश के साथ स्वाहा कर दी जाती थीं। वे क्रूर दिन तो निकल गये पर उनका असर आज भी बना हुआ है। नरनारीसमभाव जैसा चाहिये वैसा अभी नहीं आपाया है। इसलिये विधुर का विवाह निर्विवाद है किन्तु विधवा के विवाह में नई नई आपत्तियाँ खड़ी की जाती हैं। सामाजिक सुव्यवस्था या नर और नारी दोनों के हित की दृष्टि

से जो उचित मालूम हो वह करना चाहिये लेकिन पुरुष महान है और नारी हीन है इस दृष्टि से नारी को दुःखी करने की या उस के दुःख दूर करने में बाधा डालने की चेष्टा न करना चाहिये।

नरनारीसमभाव के विषय में दृष्टि-कांड में विस्तार से कहा गया है उससे समझ में आजाता है कि विधुरविवाह और विधवाविवाह में व्यभिचार की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं हो सकता। इस प्रकार विधवाविवाह उपपाप नहीं है। विवाह न करके विधवा या कुमारी के साथ विधुर या कुमार का सम्बन्ध होना उपपाप है।

३– असहचर गमन से हलका उपपाप है वेश्यागमन। वेश्यागमन से जो अनेक दोष आजाते हैं वह अलग बात है पर एक असहचर व्यक्ति विवाह की सुविधा न मिलने पर वेश्यागमन करे तो यह उपपाप होगा। हां विवाहित व्यक्ति अगर वेश्यागमन करे तो यह पाप होगा क्योंकि इस में चोरी अर्थात् अर्थघात और विश्वासघात है। विवाहित व्यक्ति का वेश्यागमन एक महान पाप है।

प्रश्न– असहचर पुरुष वेश्यागामी हो तो उपपापी है पर स्वयं वेश्या क्या है? पापिनी या उपपापिनी?

उत्तर– वेश्या पापिनी हो सकती है, होती भी है, पर वेश्या अपने वेश्याजीवन से पापिनी नहीं है, क्योंकि समाज के द्वारा दी हुई या अनुमोदित की हुई उसकी वह जीविका है। इस में सन्देह नहीं कि वेश्याजीवन बड़ा दुःखमयजीवन है और पाप के सारे द्वार वहाँ इस तरह खुले हुए हैं कि अधिकांश वेश्याएँ उन में घुसे बिना नहीं रहपातीं। जो वेश्यावृत्ति के चक्कर में पड़ जाती हैं उन्हें अभागिनी कहना चाहिये फिर भी जब तक उनके जीवन में कोई दूसरे पाप न हो तब तक उन्हें वेश्यावृत्ति के कारण पापिनी नहीं कह सकते उन्हें उपपापिनी कह सकते हैं क्योंकि आजीविका की ओट में वे ऐसे पुरुषों से भी सम्बन्ध करलेती हैं जो विवाहित हैं।

यद्यपि विवाहित पुरुष के साथ सम्बन्ध रखने वाली स्त्री को पापिनी ही कहना चाहिये फिर भी इसमें अन्य स्त्रियों का जितना अपराध है उतना वेश्या का नहीं, क्योंकि समाज ने जिस वृत्ति की उसे अनुमति दी है उसमें विवाहित या अविवाहित के भेद पर जोर नहीं दिया गया है और इसको व्यावहारिक बनाने में भी वेश्या को कठिनाई है। यह आजीविका ही इस ढंग की है कि समाज उन्हें इस तरह का भेद करने के लिये विवश नहीं कर सकती कि विवाहितों को तुम अपने यहां न आने देना। उनके ऊपर इस विवेक की जिम्मेदारी डाली जाय तो वे साफ़ बच सकती हैं।

प्रश्न—वेश्या वृत्ति अच्छी है या बुरी? अच्छी है तो इसे उपपाप क्यों कहा जाय? यदि बुरी है तो समाज ने इसके लिये अनुमति क्यों दी?

उत्तर—वेश्या वृत्ति अच्छी तो नहीं है पर समाज को आत्मरक्षा के लिये अमुक अंश में उसकी अनुमति देना पड़ी है जिन पुरुषों का विवाह नहीं हो पाया है वे अपनी कामवासना को शान्त करने लिये अन्य स्त्रियों पर नजर न डालें इसलिये वेश्याओं की रचना हुई है अगर वेश्याएँ न होतीं तो साधारण स्त्रियों की शीलरक्षा का सवाल कठिन हो जाता।

अगर पुरुषों में ऐसा उन्माद न होता जो आक्रमण करा बैठता है, तो वेश्याओं की जरूरत

नहीं थी अथवा विवाह--बन्धन काफ़ी शिथिल और क्षणिक होते तो भी इसे वेश्याओं की जरूरत न होती पर विवाह की शिथिलता से कौटुम्बिकता नष्ट हो जाती इसलिये विवाह-बन्धन की दृढ़ता तो अत्यावश्यक है । अब तो यही कहा जा सकता है कि कामोन्माद जैसा शिथिल होता जायगा उसी प्रकार वेश्याओं की जरूरत कम होती जायगी ।

समाज में वेश्याएं न रहें यह सब से अच्छी बात है पर इस अच्छे की अच्छाई तभी ठीक है जब समाज में वेश्याओं की जरूरत न रहे । प्रायः सभी युवक युवतियां विवाहित हों, अविवाहित अर्थात् असहचर हों तो वयस्क लोग हों या कोई खास तरह के साधक हों, तो वेश्याओं की जरूरत न होगी ।

प्रश्न--असहचर पुरुषों के लिये तो वेश्याओं की जरूरत हुई पर असहचर नारियों को वेश्या सरीखी किसी पुरुष संस्था की जरूरत क्यों नहीं हुई ? अगर बिना किसी ऐसी संस्था के असहचर नारियो का काम चल गया तो असहचर पुरुषों का काम क्यों नहीं चल सकता ?

उत्तर--नर और नारी की शरीर रचना तथा उसके आधार से बनी हुई मनोवृत्ति के कारण नारी उस प्रकार आक्रमणशीला नहीं है जैसा पुरुष है । इस विषय में नारीको पुरुष के आक्रमण से बचाने की जितनी जरूरत है उतनी पुरुष को नारी के आक्रमण से बचाने की नहीं है । मूल कारण तो यही है जिससे असहचर नारी के लिये वेश्या सरीखी किसी संस्था के बनाने की जरूरत नहीं पड़ी । दूसरा कारण सामाजिक है । आर्थिक सूत्र पुरुष के हाथ में होने से नारी ऐसी संस्था का उपयोग नहीं कर सकती थी ।

खैर, बात यह है कि वेश्या--संस्था होना समाज के लिये शोभा की बात तो नहीं है सुख शान्ति की दृष्टि से भी यह आदर्श व्यवस्था नहीं कही जा सकती, पर शोभा की हो या अशोभा की, आदर्श हो या अनादर्श, जब तक समाज इस जरूरत को पूरा करने का कोई दूसरा अच्छा रास्ता नहीं निकाल पाया है और कानून के द्वारा उसने वेश्या वृत्ति का समर्थन किया है तब तक वेश्या अपनी वृत्ति के कारण पापिनी नहीं कही जा सकती ।

वेश्या को उपपापिनी कहा है क्योंकि जिस उद्देश को लेकर वेश्या-संस्था को समाज के द्वारा अनुमति मिली थी उस उद्देश का दुरुपयोग वेश्याओं के द्वारा होता है । वे विवाहित पुरुषों को भी अपने सम्पर्क में लेती हैं इस प्रकार दाम्पत्य को धक्का पहुँचाती हैं । इस दृष्टि से समाज को वेश्याओं की जरूरत नहीं है । विवाहित पुरुष तो वेश्या-सेवन से पूरे व्यभिचारी बनते ही है पर जीविका की ओट में वेश्याएँ भी व्यभिचारिणी बनती हैं, इसलिये वेश्या को उपपापिनी कहा है । उसके लिये यह समाजानुमोदित पाप है, उसकी जीविका ऐसी है कि विवाहित सम्पर्क से बचना उस के लिये कुछ कठिनसा है इसलिये इसे उपपाप कहा गया है । अगर कोई वेश्या यह प्रतिज्ञा लेले कि मै विवाहित पुरुष को अपने सम्पर्क में न आने दूंगी तो वह शीलवती कही जा सकती है । इस प्रकार व्यभिचारहीन वेश्यापन उसकी जीविका ही कहलायगी, पाप या उपपाप नहीं । हो सकता है कि कोई विवाहित उसे धोखा दे जाय पर उसे जानबूझकर आँख बन्द न करना चाहिये यथाशक्ति सच्चे दिल से जाँच करलेना चाहिये तब उसका कोई अपराध न होगा वह शीलवती कहला सकेगी ।

खैर, वेश्या भी शीलवती हो सकती है और समाज की आवश्यकता पूर्ण करने के कारण शीलवती वेश्या को उपपापिनी भी नहीं कह सकते पर पुरुष उपपापी अवश्य है, क्योंकि उसका वेश्यासेवन समाजहित के कारण नहीं है, असंयम के कारण है। शीलवती के सिवाय अन्य वेश्याएँ उपपापिनी हैं और जिस स्त्री ने आजीविका के लिये नहीं जनहित के लिये नहीं किन्तु विषय-तृष्णा को खुराक देने के लिये वेश्याजीवन स्वीकार किया हो वह पापिनी है. उसका व्यभिचार उपपाप नहीं कहा जा सकता, वह पाप है। अगर वह शीलवती-वेश्या बने तो उपपाप है।

४—अप्रमाणित-सहचार-गमन का अर्थ है बिना शादी किये हुए किसी को पति या पत्नी बनालेना। शादी अमुक विधि से होना चाहिये ऐसी कोई बात नहीं है पर ऐसी कोई घोषणा अवश्य करना चाहिये जिससे समाज के आगे दाम्पत्य के अधिकार प्रमाणित हो सकें। मनमुटाव होने पर या किसी के आपत्ति में पड़ने पर दोनों में से कोई यह न कह सके कि हमारा इसका क्या रिश्ता? यह हमारा विवाहित पति या विवाहित पत्नी नहीं है। अप्रमाणित साहचर्य में अर्थात् किसी स्त्री को या पुरुष को रखैल बनाने में दाम्पत्य की जिम्मेदारियों से भागने की चेष्टा करने का छल है। जब तक देने से अधिक लेना हुआ तब तक ठीक, जब प्रतिसेवा करने का अवसर आया तब भगा दिया यह छल है इसलिये जब तक दाम्पत्य के पूरे बन्धन को दोनों स्वीकार न करें तब तक उनका सम्बन्ध एक तरह का व्यभिचार ही है। हां, उस समय उन दोनों की रजामन्दी होती है किसी तीसरे के अधिकार को धक्का नहीं लगता इसलिये इसे पाप नहीं कहा। पर इस में पूरी निरपराधता नहीं है, जिम्मेदारी से भागना है, समाज में इससे दुःखवृद्धि होती है इसलिये यह कुछ पाप अवश्य है और इसीलिये इसे उपपाप कहा है।

प्रश्न— बहुपत्नीत्व को उपपाप कहा जाय या नहीं?

उत्तर— यद्यपि व्यभिचार सम्बन्धी उपपाप का निर्णय सामाजिक परिस्थिति के अनुसार ही किया जाना चाहिये किन्तु जब विवशता के कारण कोई बुराई समाज में घुसजाती है तब समाजानुमोदित होने पर भी धर्म उस बुराई का बुरापन हिंसा अहिंसा के आधार पर करता है। इसलिये बहुपत्नीत्व उपपाप है। पहिली पत्नी के प्रति वह विश्वासघात है।

जहाँ तक मुझे मालूम है वहां तक इस प्रश्न से सम्बन्ध रखने की दृष्टि से दाम्पत्य व्यवस्था तीन तरह की है १— अभिन्न दाम्पत्य जिस में एक पति और एक पत्नी होती है। यही व्यवस्था उत्तम है। २— बहुपतित्व, जहाँ अनेक भाई एक स्त्री के साथ शादी करलेते हैं। भारतवर्ष में द्रौपदीका उदाहरण इस विषय में प्रसिद्ध है। तिब्बत में यह प्रथा रही है और आज भी है। यह अनुचित है फिर भी इसे उपपाप नहीं कह सकते क्योंकि इस में बहुपत्नीत्व सरीखा विश्वासघात नहीं किया जाता।

इस में सब भाई या अनेक भाई मिलकर एक साथ एक नारी को चुनते हैं, नारी इस कार्य में किसी पुरुष के साथ विश्वासघात नहीं करती इसलिये यह उपपाप भी नहीं है फिर भी यह अच्छी प्रथा नहीं है क्योंकि इससे बहुतसी स्त्रियाँ पतिहीन रह जायँगी साथ ही इससे नारी के कष्ट भी बढ़ सकते हैं, उचित परिमाण में प्रेम का आदान-प्रदान नहीं हो सकता।

इससे भी खराब प्रथा बहुपत्नीत्व की है। इस में पहिली पत्नी का अधिकार छीना जाता है कुछ विश्वासघात भी किया जाता है। समाजानु-मोदित होने से और थोड़े बहुत अंशों में कभी आवश्यक भी होने से इसे पाप नहीं कहा फिर भी इसे उपपाप अवश्य कहना चाहिये। और इस प्रथा को नष्ट करना चाहिये।

प्रश्न– दो सखियाँ अगर एक ही पुरुष को चाहती हों दोनों में परस्पर गाढ़ प्रेम भी हो दोनों इस बात पर रज़ामन्द हों कि वे उस पुरुष के साथ शादी करके मिलकर रहें, इस प्रकार दोनों की एक साथ उस पुरुष के साथ शादी हो जाय तो इसे उपपाप कहा जाय या नहीं?

उत्तर-- इस हालत में यह उपपाप न रहेगा। इस की बुराई बहुपतित्व के बराबर रह जायगी। अगर दोनों की उस पुरुष के साथ शादी न होने के कारण जीवन में कोई दुःखान्त घटना होने की सम्भवना हो तो दोनों को साथ ही शादी करलेना चाहिये। पर यह भी खयाल रखना उचित है कि जैसे दो सखियों का किसी एक पुरुष पर आसक्त होना सम्भव है उसी प्रकार दो मित्रों का एक ही नारी पर आसक्त होना सम्भव है इसलिये अगर दोनों मित्र रजामन्द हो जायँ और वह स्त्री भी रज़ामन्द हो जायँ तो दोनों को एक साथ इसके साथ शादी करलेना चाहिये इसलिये आपवादिक बहुपत्नीत्व की तरह आपवादिक बहुपतित्व भी कानून से अनुमोदित होने चाहिये, दोनों मित्र प्रतिस्पर्धी बनकर एक दूसरे का नाश करें इस की अपेक्षा बहुपतित्व को क्यों न अपनालें?

इस मे सन्देह नहीं कि जीवन के अन्त तक बहुपतित्व का सुखमय रहना कठिन है पर यह कठिनाई बहुपत्नीत्व में भी है इसलिये कानून के द्वारा या तो दोनों अनुमोदित हों या दोनों त्याज्य हों।

आदर्श और अधिक से अधिक व्यवहार्य तो अभिन्न दाम्पत्य है जिसमें एक ही पत्नी और एक ही पति रहता है पर अपवाद के रूपमें अगर कभी इस नियम को शिथिल करना पड़े तो बहु-पत्नीत्व और बहुपतित्व दोनों को जगह मिलना चाहिये जिससे नरनारी--समभाव को धक्का न लगे। साथ ही यह नियम रखना चाहिये कि एक ही साथ बहुत पति या बहुत पत्नियाँ बनाई जायँ एक विवाह के बाद दूसरा विवाह करके बहुत पति या बहुत पत्नी न बनाई जाँय क्योंकि इससे पहिले पति या पहिली पत्नी के साथ एक तरह का विश्वासघात होता है। अगर पहिले पति या पहिली पत्नी से स्वीकृति भी ली जाय तो भी वह स्वीकृति शुद्ध नहीं होती उसमें किसी न किसी तरह का दबाव पड़ता है।

प्रश्न–अगर दो में से किसी एक में ऐसी दुष्टता हो कि दाम्पत्य निभ ही न सकता हो या कोई एक ऐसा बीमार पड़ गया हो कि वर्षों या जीवन भर दाम्पत्य की सुविधा उससे न मिल सकती हो तो ऐसी हालत में क्या किया जाय?

उत्तर–दुष्टता शब्द का दुरुपयोग न किया जाय फिर अगर सचमुच दाम्पत्य को अशक्य कर देनेवाली दुष्टता हो तो तलाक दे देना चाहिये। पर बीमारी के कारण तलाक देना उचित नहीं जहां तक हो बीमार को निभाना चाहिये। हां, अगर बीमारी असाध्य हो बहुत लम्बे समय के लिये हो, उससे दाम्पत्य अशक्य बनता हो, और अपनी जवानी का प्रारम्भ हो, ये चारों बातें हों तो बीमारी की सेवा और जीवन निर्वाह का उचित

प्रबन्ध करके दूसरा विवाह करना चाहिये। ऐसी बीमारी के लिये खास कानून या सामाजिक नियम होना चाहिये जिससे नव दम्पति पुराने बीमार की सेवा के लिये जिम्मेदार हों।

ठीक तो यही है कि बीमारी के कारण तलाक न हो पर ऊपर की चार बातें इकट्ठी हों और तलाक का अवसर आ जाय तो सेवा का प्रबन्ध होने पर तलाक दिया जा सके। यह नियम स्त्री और पुरुष दोनों के लिये एकसा हो।

प्रश्न—सन्तान की तीव्र लालसा हो पर वर्तमान दाम्पत्य से सन्तान होने की आशा न हो तो बहुपतित्व या बहुपत्नीत्व की अनुमति दी जाय या तलाक की अनुमति दी जाय।

उत्तर—दोनों की न दी जाय। इसके लिये गोद लेकर शिशुपालन किया जाय अथवा समाज सेवा में दोनों अपना जीवन अर्पण कर दें। सन्तान के लिये दाम्पत्य को कलंकित करना अनुचित है।

प्रश्न--दम्पति के सन्तानहीन होने से क्या मनुष्य-जाति का क्षय न हो जायगा?

उत्तर--संसार के आधे दम्पति अगर सन्तान-हीन होंगे तो भी मनुष्य जाति का क्षय नहीं हो सकता, उसे क्षय-मार्ग पर जानेवाली भी नहीं कह सकते क्योंकि शेष दम्पति अपनी सन्तान से जनसंख्या सुरक्षित रख सकते हैं।

प्रश्न--कोई ऐसा द्वीप हो जहां मनुष्य की बस्ती न हो वहां कोई जहाज भटक कर पहुंच जाय जिसमें एक पुरुष और स्त्रियां हों वहां सन्तान-बृद्धि के लिये एक पुरुष के साथ अनेक स्त्रियों का विवाह उचित होगा या अनुचित?

उत्तर--समाज के लिये इस प्रश्न के उत्तर का कुछ उपयोग नहीं है यह तो वहां की बात है जहां अभी समाज-रचना ही नहीं हुई है, जैसे उस एकान्त द्वीप में समाज-रचना नहीं है, ऐसे अवसर पर क्रम से या एक साथ बहुपतित्व बहु-पत्नीत्व सब चल सकता है। उस समय सामाजिक नियमों से चिपटे रह कर संघर्ष न करना चाहिये, और न ऐसे उदाहरणों से वर्तमान समाज-रचना में शिथिलता लाना चाहिये।

प्रश्न--जहां विवाह संस्था है वहीं व्यभिचार सम्बन्धी पाप या उपपाप से बचने की जरूरत है; अगर विवाह की प्रथा न हो तो वहां शील या व्यभिचार का विचार कैसे होगा? कहा जाता है कि पुराने युग में विवाह होता ही नहीं था जब जिसको जिसके साथ रहना होता था रहता था जाना होता था चला जाता था। इस अवस्था को पापमय कहें या पुण्यमय?

उत्तर--उन्मुक्त जीवन की अपेक्षा विवाहित जीवन समाज के लिये अधिक कल्याणकारी है। इच्छानुसार आने जाने की सामाजिक स्वतन्त्रता होने पर दाम्पत्य जीवन चिन्तामय और अविश्वास-मय हो जाता है इसलिये यह सामाजिक उपपाप है।

समाज में अगर विवाह की प्रथा न हो और उन्मुक्त व्यवहार चलता हो तो कहने के लिये व्यभिचार का उपपाप या पाप न रहेगा और व्यक्ति को उपपाप न कहसकेंगे पर इस सामाजिक स्वच्छंदता का दुःपरिणाम अवश्य होगा। बुराई को कोई नाम दिया जाय या न दिया जाय, अगर वह है तो उसका दुष्फल होता ही है। इसलिये विवाह संस्था हो या न हो पर दाम्पत्य को अधिक से अधिक स्थिर पवित्र छलरहित विश्वस्त बनाने की जरूरत है। कम से कम इतना तो होना ही चाहिये कि सन्तान का उत्तरदायित्व दोनों उठावें। हां, अगर सन्तान के पालन-पोषण की जिम्मेदारी

राष्ट्र अपने हाथ में लेले, इसी प्रकार प्रसूति वगैरह की व्यवस्था भी राष्ट्र अर्थात् सरकार करे और विवाह की प्रथा उठा दी जाय तो व्यभिचार कहने लायक किसी दोष को जगह न रह जायगी फिर भी विवाह में जो शान्ति है उतनी न मिलेगी यों तो कुछ गुण दोष दोनों तरफ रहेंगे पर गुणों का टोटल विवाह-प्रथा के पक्ष में ही अधिक रहेगा।

खैर, इस प्रकरण का सार यह है कि व्यभिचार के पाप से तो मनुष्य को बचना ही चाहिये वह तो पूरा विश्वासघात और चोरी है साथ ही व्यभिचार के उपपाप, असहचरगमन वेश्यागमन अप्रमाणित सहचर गमन से भी बचना चाहिये। ये दुर्भोग हैं इसलिये उपपाप हैं।

२--मांसभक्षण--दूसरा दुर्भोग है मांसभक्षण। किसी चलते फिरते प्राणी के शरीर का भक्षण मांस भक्षण है। पुराने समय में वनस्पतियों के शरीर को भी मांस आदि शब्द से कहते थे। आम आदि की गुठली को अस्थि, उसके दल को मांस उसके रेशों को सिरा, छाल को त्वक् (त्वक् तो आज भी कहते हैं) कहते थे कहीं कहीं साधारण भोजन को भी मांस कहा है। पर यहाँ वनस्पति शरीर को नहीं किन्तु पशु पक्षी आदि चलते फिरते प्राणियों के शरीर से मतलब है। भोजन के लिये इन के मांस हड्डी चमड़ा नस खून का उपयोग न करना चाहिये।

प्रश्न-- दूध भी शरीर का भाग है और उसमें प्रायः वे ही तत्व हैं जो खून में हैं तब दूध भी भोजन के काम में न लेना चाहिये।

उत्तर--दूध शरीर का ऐसा भाग है जिसे निकालना ही पड़ता है उसके निकलने से कष्ट नहीं होता न शरीर की खास हानि होती है, इसलिये दूध रक्त की तरह अभक्ष्य नहीं है, इसलिये दूध पीना प्राणघात में शामिल न होगा। दूध लिया जाता है जानवर के पालन पोषण के बदले में, इसलिये वह अर्थघात भी नहीं है। हां निर्दयता से दूध निकाला जाय, बछड़े को न दिया जाय तो अवश्य इस में पाप है। साधारणतः दूध दुर्भोग नहीं है।

उपादान कारणों की एकता से भक्ष्य अभक्ष्य का सम्बन्ध नहीं है उसका सम्बन्ध है प्राणियों के घात अघात से। रक्त में घात होता है दूध में नहीं होता इसलिये रक्त अभक्ष्य है, दूध भक्ष्य है।

प्रश्न-- जानवरों के बालों का उपयोग करना या मोती का उपयोग करना दुर्भोग है या नहीं?

उत्तर-- साधारणतः ऊन का उपयोग दुर्भोग नहीं है, परन्तु जो बाल प्राणियों को मारकर निकाले जाते हों उनका उपयोग करना दुर्भोग है। इसी तरह मोती का उपयोग करना भी दुर्भोग है क्योंकि वह भी प्राणियों को मारकर निकाला जाता है।

प्रश्न-- यह तो पूरा प्राणघात है इसे दुर्भोग क्यों कहा? पाप कहना चाहिये न कि उपपाप।

उत्तर-- प्राणघात में जो क्रूरता है वह दुर्भोग में नहीं है। बहुत से लोगों को दुर्भोग के कारण का पता भी नहीं रहता। मोती पहिनने वाले बहुत से व्यक्ति नहीं समझते कि मोती में किस प्रकार प्राणिहत्या होती है। उसकी तरफ ध्यान दिये बिना मोती कस्तूरी आदि चीजों का उपयोग हुआ करता है। दूसरी बात यह है कि अपने आप मरने पर भी मोती आदि प्राणी में से निकाले जा सकते है इसलिये भी लोग उन का उपयोग करते हैं।

मोती आदि दुर्भोग अवश्य हैं इन का उपयाग न करना चाहिये फिर भी मांस-भक्षण सरीखा दुर्भोग नहीं है। मांस-भक्षण में इसकी अपेक्षा मनोवृत्ति अधिक दूषित होती है।

प्रकृतिने मनुष्य को मांस-भक्षी नहीं बनाया है। मांस-भक्षी प्राणियों के दांत और नख जैसे होते हैं वैसे मनुष्य के नहीं होते। मनुष्य तो बन्दर की तरह शाकभोजी है। मनुष्यने अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करके मांसभोजन को अपना लिया है। इससे एक तरह की ूरता आजाती है।

मनुष्य में बुद्धि जितनी अधिक है उतनी अधिक सुख-दुःख-संवेदन की शक्ति नहीं है अथवा अधिक होने पर भी बहुत अधिक नहीं है, पशुपक्षियों में सन्तान-प्रेम, दाम्पत्य, कृतज्ञता, भय, उल्लास आदि सब बातें करीब करीब मनुष्य सरीखीं पाई जाती हैं, उनके प्राण हम थोड़े से स्वाद के लिये लेलें यह काफी निर्दयता कही जासकती है।

प्रश्न– बहुत से लोग स्वाद के लिये मांस-भक्षण नहीं करते पेट भरने के लिये मांसभक्षण करते हैं? क्या यह उनकी निर्दयता है? अथवा क्या यह क्षम्य नहीं है?

उत्तर–हिन्दुस्थान सरीखे मुल्क में मांस खाना स्वाद के लिये ही है, यहां अन्न इतना सस्ता है कि मांस मछली आदि के लिये उससे कई गुणे दाम खर्च करना पड़ते हैं इसलिये जो लोग यहां मांस खाते हैं वे पेट भरने के लिये खाते हैं यह नहीं कहा जा सकता। जिन देशों में अन्न की अपेक्षा मांस महँगा है वहां मांस-भक्षण उपपाप नहीं है पाप है, हिंसा अर्थात प्राणघात है। जहां मांस अन्न से सस्ता है, वहां यह उपपाप है। जहां अन्न करीब करीब मिलता ही नहीं है, वहां मांस-भक्षण क्षन्तव्य है, यद्यपि क्षन्तव्य होकर भी इस उपपाप में गिनना पड़ेगा।

प्रश्न–कोई भी चीज़ जब बाज़ार में कम होती है और खरीदने वाले अधिक होते हैं तब वह महँगी हो जाती है। स्वाद के लिये मांस खानेवाले अधिक हैं इसलिये यहाँ मांस महँगा है परन्तु यदि आपकी बात मानकर लोग मांस खाना छोड दें तो मांस किस काम आयगा वह सस्ता हो जायगा? सस्ता होने पर क्या आप मांस भक्षण को उपपाप कहेंगे?

उत्तर—यदि स्वादलोलुपता न हो सिर्फ़ विवशता के कारण पेट भरने का विचार हो तो मांस-भोजन उपपाप है। यही कारण है कि दुर्भोग के प्रकरण में उसका उल्लेख किया गया है। जिन देशों में अन्न की कमी है वहां भी मांस-भक्षण उपपाप है।

प्रश्न–प्रकृति के दोष को मनुष्य क्या करे? जहां पूरा अन्न नहीं होता वहाँ मनुष्य मांस न खाये तो क्या खाये? वहां उसे उपपापी भी क्यों कहना चाहिये।

उत्तर—मांस-भक्षण से दुःखवृद्धि होती है इसलिये वह किसी न किसी अंश में पाप तो है ही, परिस्थिति ने उसे विवश किया है इसलिये उसे पापी न कहा जाय उपपापी कहा जाय इतनी ही रियायत हो सकती है। सर्प के मुंह में विष है इसमें उसका कोई अपराध नहीं, फिर भी दुःखवर्धक होने से वह मारा जाता है, शेर मांस खाता है इसमें उसका कोई अपराध नहीं, किन्तु विश्वदुःखवर्धक होने से वह मारणीय है। अगर कोई कार्य दुःखद है तो उसे बुराई में गिनना पड़ेगा भले ही परिस्थिति के अनुसार हम उसे पाप या उपपाप कुछ भी कहें?

प्रश्न-पहिले सहज भाग्यज भ्रमज प्राणघात ऐसे बताये गये हैं जिन्हें पुण्यपाप का विषय नहीं कहा गया । जहां अन्न कम होता है वहाँ मांसभक्षण को भी सहजघात क्यों न कह दिया जाय?

उत्तर-स्वास लेने आदि में जो प्राणघात होता है वह सहजघात है उसमें मनुष्य को इच्छापूर्वक कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता वह सोते में भी होता है । मांसभक्षण ऐसा नहीं है । वह इच्छापूर्वक होता है । भक्षणघात के प्रकरण में इस विषय में कुछ कहा गया है वहां देखलेना चाहिये।

प्रश्न--मांसभक्षण को उपपाप भी क्यों कहा, उसे तो पाप ही कहना चाहिये?

उत्तर--सत्यामृत का दूसरा नाम मानवधर्म शास्त्र है, इसमें विश्वहित का पूरा खयाल रक्खा गया है फिर भी उसके व्यवहार्य रूप पर विचार करते समय मानवहित पर विशेष दृष्टि रक्खी गई है । विश्वहित की दृष्टि से मांसभक्षण पाप है पर परिस्थिति के अनुसार मानव की विवशता देखकर मानवहित की दृष्टि से कहीं कहीं इसे क्षन्तव्य भी मानलिया जाता है इसलिये इसे उपपाप कहा गया है इसीलिये दुर्भोग के प्रकरण में इसका उल्लेख किया गया है ।

प्रश्न--जिन धर्मों ने मांसभक्षण का प्रचार किया है या समर्थन किया है उन्हें आप धर्म कैसे कह सकेंगे? और धर्मसमभाव कैसे रख सकेंगे? जैसे इसलाम में आप भक्ति कैसे रख सकते हैं?

उत्तर--धर्म मांस का प्रचार नहीं करता, इसलाम ने भी मांसभक्षण का प्रचार नहीं किया बल्कि उसने तो मांसभक्षण रोका है, प्राणिवध के निर्दय तरीकों को बन्द किया है, किसी प्राणी को तड़पाकर मारने की मनाई की है, हज वगैरह करते समय मांस खाना आदि बिलकुल बन्द कर दिया है। मांसभक्षण का प्रचार अगर इसलाम का उद्देश होता तो हज वगैरह के समय अधिक से अधिक मांस खाने की बात कही जाती न कि मांस खाना बिलकुल बन्द किया जाता । इससे मालूम होता है कि इसलाम ने भी अहिंसा को बढ़ाया है, यथासाध्य हिंसा को घटाया है ।

हां, यह अवश्य है कि परिस्थिति के अनुसार जितनी हिंसा रोकी जा सकती थी उतनी रोकी गई, अति करने से प्रतिक्रिया न हो जाय इसलिये कुछ विधान रखना पड़ा । इस प्रकार उस परिस्थिति के अनुसार निरतिवादी विधान बनाया गया ।

ऐसे भी मजहब हैं जिनने मांसभक्षण के विषय में कुछ नहीं किया । उनके सामने समाज की दूसरी समस्याएँ इतनी प्रबल थीं वे इस तरफ ध्यान नहीं दे सके इसलिये हम उन्हें हिंसा-प्रचारक नहीं कह सकते ।

कोई मजहब सब सचाइयों को दुनिया के आगे पेश नहीं कर सकता । उसके विधान देश काल के अनुसार बनते हैं या उन्हीं पर जोर डाला जाता है । पूर्ण सत्य को दिखाने की ताकत किसी में नहीं है, इसलिये किसी मजहब में कोई बात रह जाती है, किसी में कोई बात विशेष रूपमें आ जाती है, पर इसीलिये धर्म-समभाव का विरोध नहीं किया जा सकता, न उसे अव्यवहार्य बताया जा सकता है क्योंकि सभी धर्म कल्याण की दृष्टि से समाज को आगे बढ़ानेवाले होते हैं ।

प्रश्न--खैर, धर्मों में मांसभक्षण की उत्तेजना न सही, मांसभक्षण को दुर्भोग कहना भी ठीक है पर दुर्भोग तो यह इसीलिये है कि इसमें प्राणिवध होता है परन्तु अगर प्राणी अपने आप मर जाय तो उसके मांस-भक्षण में क्या पाप है ?

उत्तर--यों दिखने में तो कोई पाप नहीं माळूम होता पर मृत-मांसभक्षण जनसमाज के लिये व्यवहार्य नहीं है । म. बुद्ध ने इस बात की अनुमति दी थी पर इससे मोरे गये पशु का मांस भक्षण न रुका । जनता का ध्यान उत्पत्ति की तरफ़ मुश्किल से जाता है । खाते समय मरे या मोरे गये का भेद उसके ध्यान में नहीं आता । एकबार मांस का स्वाद आ जाने पर और मृत-मांस दुर्लभ होने पर लोग नाना तरीकों से प्राणियों को मारने लगते हैं और उनके वे तरीके ऐसे निर्दय अर्थात् तड़पानेवाले होते हैं कि उससे कसाई का काम दयालुतापूर्ण माळूम होता है । स्वास रोक करके तड़पा तड़पाकर मारना, गरम पानी में उबालना आदि निर्दयता के कार्य मृत-मांसभक्षण के नामपर किये जाने लगते हैं इसलिये '*मांस के लिये पशुओं को न मारा जाय*' इस नियम के लिये हर तरह के मांस का त्याग होना चाहिये ।

प्रश्न--कहीं कहीं अपने आप मरे जानवर के मांस खाने की मनाई है पर मारे गये मांस खाने की मनाई नहीं है इसका क्या कारण है ?

उत्तर--यह भेद स्वास्थ्य की दृष्टि से किया गया है, हिंसा अहिंसा की दृष्टि से नहीं । अपने आप मरे हुए जानवर में अधिकतर कोई न कोई बीमारी रहती है इसलिये उसका मांस भी विशेष बीमारी पैदा कर सकता है ।

प्रश्न--अंडों का सेवन मांसभक्षण है कि नहीं ?

उत्तर--मृतमांस के विषय में जो बात कही गई है उसका कुछ भाग अंडों के बारे में भी कहा जा सकता है । अंडा पक्षी का शरीर है उसमें प्राण है इसीलिये उसमें प्रगति होती है, जीवन के इतने चिन्ह देख लेने पर अंडा और पक्षी की भेद-रेखा इतनी पतली हो जाती है कि अंडा खानेवाला पक्षी खाने के लिये तैयार हो जाता है, फिर यह अर्थ भी निकलने लगता है कि बेहोश पशु को मारकर खाने में क्या दोष है उस समय वह भी अंडे के समान है । इस प्रकार बेहोश करके मारने की प्रथा में सब तरह की हत्या आ जायगी । कहा यों जायगा कि चीज तो एक ही है पहिले खाई कि पीछे खाई । जिस प्रकार हम भ्रूण-हत्या को हत्या कह सकते हैं उसमें मनुष्य-वध से कम पाप होने पर भी उसे हत्या की श्रेणी में लेते हैं उसी प्रकार अंडे का नाश भी पक्षी के नाश की श्रेणी में लेना चाहिये।

इस प्रकार अंडे खाने में साधारण मांसभक्षण से कम दोष होने पर भी मांस के समान उसका भी त्याग करना चाहिये ।

३--मद्यपान-- मद्यपान का मतलब नशीली चीज़ों से है, शराब अफीम आदि चीजें इस में शामिल हैं । नशे में मनुष्य अपव्यय करता है घर और समाज की जिम्मेदारी पूरी नहीं करता साथ ही भान न रहने से दूसरों का अपमान कर बैठता है या सता डालता है, इस प्रकार नशा करने से अपनी और समाज की काफ़ी हानि होती है ।

शराबी लोगों के घर उजड़ जाते हैं, पत्नी और बच्चों की दुर्दशा हो जाती है, किसी का उस पर विश्वास नहीं रहता, इत्यादि कारणों से मद्यपान दुर्भोग है, हर एक आदमी को इसका त्याग करना चाहिये ।

जो लोग भंग आदि का नशा करते हैं वे भी एक तरह के शराबी हैं ।

प्रश्न-- भंग के नशे में अच्छे अच्छे विचार सूझते हैं कुछ लोग तो भंग पीकर ही अच्छा

साहित्य निर्माण कर गये हैं। कुछ ने शराब का भी उपयोग किया है, तब इसे दुर्भोग क्यों कहा जाय, ? इस के अतिरिक्त एक बात यह भी है कि जो देश बहुत ठंडे हैं वहाँ शराब स्वास्थ्य के लिये भी आवश्यक है, थोड़ी मात्रा में पीने से नशा भी नहीं आता। कभी कभी दवा के लिये भी शराब की जरूरत होती है या दवा में मिलाना पड़ती है। इस सब कारणों से मद्यपान को दुर्भोग क्यों कहा जाय ?

उत्तर– मद्य किसी चीज का नाम नहीं है एक ही चीज देश काल पात्र के भेद से मद्य या अमद्य हो सकती है। बुराई है नशे में। इसलिये अगर दवा में मद्य का मिश्रण हुआ हो तो उस मद्यपान में दोष नहीं है। ठंडे देशों में अगर कोई मद्य स्वास्थ्य के लिये आवश्यक हो और वहाँ नशा न लाता हो तो वह भी मद्यपान नहीं है। साहित्य-निर्माण आदि के विषय में भी ऐसी ही कुछ बात कही जा सकती है पर साथ ही यह भी समझना चाहिये कि लेखन आदि के लिये शराब की आवश्यकता मालूम होना वास्तविक नहीं है, नशेबाजी का दुष्परिणाम है।

नशीली चीजों में यह भी एक खराबी है कि जीवन की सहज शक्तियों को वे इस प्रकार पचा जाती हैं कि उन के बिना सहज शक्तियों का अस्तित्व भी मालूम नहीं होता, ऐसा मालूम होने लगता है कि हमारी विचारकता एकाग्रता हमारी नहीं है भंग या शराब की दी हुई है। पर बात ऐसी नहीं है आज तक हजारों तीर्थंकर पैगम्बर अवतार दार्शनिक वैज्ञानिक कवि आदि हुए हैं उनमें हजार में नवसौ निन्यानवे को विचार और भावना के लिये नशे की आवश्यकता नहीं हुई। एकाध को हुई तो इसका कारण यही कहा जा सकता है कि उसे वह दुर्व्यसन पहिले से लगा था। दुर्व्यसन से लाभ तो कुछ होता नहीं है किन्तु स्वाभाविक शक्तियाँ इस तरह कुंठित हो जाती हैं कि नशे के बिना वे स्वाभाविक काम नहीं कर पातीं। इसलिये साहित्य आदि के लिये नशे की आदत डाल लेना दुर्भोग ही है। यदि इसका थोड़ा बहुत उपयोग हो भी, तो भी इसका त्याग ही करना चाहिये ? क्योंकि इससे स्वाभाविक शक्ति का नाश ही होता है। कृत्रिम गति के लिये स्वाभाविक गति का नाश करना पालकी में बैठने के लिये अपने पैर कटा डालने के समान है।

प्रश्न--दुःख भुगतने के लिये बहुत से आदमी नशा करने लगते हैं, दुःख कम करना तो धर्म है ऐसे आदमियों के लिये नशा भी चिकित्सा क्यों न समझी जाय ?

उत्तर–जैसे आत्महत्या दुःख से छूटने का ठीक उपाय नहीं है उसी प्रकार नशा दुःख भुलाने का ठीक उपाय नहीं है। जीवन को नाटक समझकर दुःख को भुलाना या उसको सह-जाना ही ठीक उपाय है नशा से तो मनुष्य अपने दुःख बढ़ा लेता है उनको दूर करने में शिथिल हो जाता है कभी कभी दुःखोत्पादक अनेक कुकृत्य भी कर जाता है, सहिष्णुता नष्ट हो जाती है इस प्रकार लाभ की अपेक्षा हानि कई गुणी होती है, लाभ क्षणिक होता है और हानि स्थायी होती है, इसलिये नशा चिकित्सा नहीं है न इसे अपनाना चाहिये।

दुर्भोग और भी कहे जा सकते हैं, ऐसे खेल तमाशे देखना जिससे मनोवृत्तियां दूषित होती हों आदि भी दुर्भोग हैं पर ऐसे दुर्भोगों का व्रतरूप में नियन्त्रण करना कठिन है, इसलिये ऐसे दुर्भोगों की गिनती यहां नहीं की जाती है। जो मोटे

मोटे दुर्भोग हैं उनका यहाँ उल्लेख किया गया है। इन दुर्भोगों का त्याग करने से सद्भोग अपने आप आजाता है। दुर्भोगों से बचे रहना सद्भोग नाम का उपसंयम है।

२ सदर्जन

सदर्जन का मतलब है ऐसी आजीविका जिससे अपनी उदरपूर्ति भी हो और दूसरों को भी लाभ हो अर्थात् हमने जो कुछ किया है उस के बदले में कुछ दिया हो, और नैतिकता को धक्का न लगा हो। इससे उल्टा दुर्जन है इसका त्याग करना चाहिये।

यहाँ सिर्फ उन दुर्जनों से मतलब है जो चोरी नहीं समझे जाते। यों तो चोरी भी दुर्जन है पर वह पाप है इसलिये उपपाप के प्रकरण में उसका उल्लेख नहीं किया जाता। कोई कोई काम ऐसे हैं जो दुर्जन से मालूम होते हैं पर वास्तव में वे हैं चोरी, जैसे लाँच लेना आदि।

लाँच लेनेवाले कई तरह के होते हैं किसी किसी को नजरचोर और किसी किसी को बलात् चोर कह सकते हैं।

एक लाँच तो ऐसी होती है जिस में लाँच देने वाला और लाँच लेने वाला दोनों ही चोर कहलाते हैं क्योंकि वे असली मालिक की चोरी करते हैं। रेल के सामान के किराये में सामान कम बताना और दो रुपये के बदले में डेढ़ रुपये देना और कम रुपये की रसीद लेना इस में दोनों ही कम्पनी के चोर हैं, यह दुर्जन उपपाप नहीं किन्तु नजरचोरी का पाप है।

कभी कभी रिशवत लेनेवाला ही चोर होता है देनेवाला नहीं, लेनेवाला देनेवाले की बलात् चोरी करता है। जैसे एक बार मैं सपत्नीक भोपाल स्टेशन पर उतरा, जब शहर में जाने लगा तब वहाँ एक सिपाही ने मेरी पेटी खुलवाकर देखी, उसमें चार-पाँच तोले के चांदी के बिछुए थे। वह बोला इस पर टेक्स दो। पर उस के एक अधिकारी को मालूम हुआ कि ये पुराने हैं और इन की पत्नी के हैं तो उसने कहा जाने दो, इसपर टेक्स नहीं लिया जाता। शिकार हाथ से जाता देखकर सिपाही बोला-नहीं साहिब, इस पर टेक्स लेना चाहिये। अफसर साधारण था, उसने कहा-जैसा तुम जानो करो। वह सिपाही मुझे वहां से काफ़ी दूर एक चौकी पर लेगया और बोला यहीं बैठो बड़े आफीसर आते हैं उन्हें टेक्स देना। वह चला गया और उस के स्थान पर दूसरा सिपाही रहा। मैंने उससे पूछा तुम्हारे आफ़ीसर कब आयेंगे? बोला सुबह आठ बजे। मैंने कहा तब तक मैं क्या यहाँ बैठा रहूंगा? टेक्स लेना हो तो स्टेशनपर लो नहीं तो मैं जाता हूँ। वह बोला-वह सिपाही तुम्हें मेरे पहरे में कर गया है मैं कैसे जाने दूं? फिर कुछ नरम होकर बोला—साहिब, क्यों इस झंझट में पड़ते हैं? चार पैसे देकर छुट्टी लीजिये। स्टेशन पर मैं पत्नी को तांगे में छोड़ आया था उसकी चिन्ता के कारण मुझे चार पैसे देने पड़े। इस में भोपाल सरकार का तो नुकसान न हुआ क्योंकि पहिरने के पुराने गहनों पर टेक्स नहीं था पर उस सिपाही ने मुझे परेशान करके चार पैसे लेलिये। यह बलात् चोरी है। इसे उपपाप नहीं कह सकते किन्तु घोर पाप कहना चाहिये। मनुष्य को अन्याय से विवश करके जब कोई रिशवत लेता हो तो यह बलात् चोरी है। रेलवे स्टेशनों पर न्यायालयों में ऐसी चोरियाँ बहुत हुआ करती हैं ये शासन और समाज का

कलंक हैं । रिश्वतखोरी पूरी चोरी है, पाप है, उपपाप नहीं। इसे सफेद डकैती कहना चाहिये।

इसी प्रकार कम तौलना, अधिक कीमत की चीज में कम कीमत की चीज मिलाकर बेंचना, एक मालका भाव करके उसके बदले दूसरा सस्ता माल देदेना आदि भी चोरी है पाप है। दुर्जन के प्रकरण में इन चोरियों से मतलब नहीं है क्योंकि ये सब पाप हैं उपपाप नहीं।

दुर्जन उपपाप वह है जिस में लेनेवाले और देनेवाले की अनुमति होने पर भी या तो बिनिमय के मूल सिद्धान्तों का भंग है, जैसे जुआ आदि, अथवा अपने या दूसरों के जीवन का पतन है जैसे वेश्यावृत्ति आदि। जूआ आदि के नियम दोनों पक्षों को मंजूर होते हैं पर इससे लेन देन का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता।

लेन देन का व्यवहार किसी न किसी सेवा के आधार पर खड़ा हुआ है। मनुष्य जब किसी को कोई सुविधा देता है, सुख देता है, तब उसे उसके बदले में कुछ लेने का हक है। एक विद्वान ज्ञान देता है एक सिपाही रक्षण देता है, एक व्यापारी दूर से चीज मँगाकर समय पर हाजिर करता है, एक अनाज आदि पैदा करता है एक शूद्र किसी तरह की परिचर्या करता है, इस प्रकार हर एक आदमी किसी न किसी तरह का परिश्रम करता है और दूसरे को लाभ पहुँचाता है उसके बदले में उसे रुपया पैसा आदि दिया जाता है। जो इस तरह का परिश्रम नहीं करता न लाभ पहुँचाता है फिर भी रुपया पैसा आदि लेता है तो उसकी आमदनी कानून से या समाज से अनुमोदित ही क्यों न हो वह दुर्जन है।

दुर्जन के अनेक भेद हो सकते हैं, समझने के लिये छः भेद यहां किये जाते हैं। १—पापजीविका २—छलजीविका ३—जूवा, ४—सट्टा ५—भिक्षा, ६—व्याज.

१—पापजीविका—ऐसी जीविका को पापजीविका कहते हैं जो पाप पर अवलम्बित है, जिसमें दूसरों का पतन होता है प्राणिघात होता है या और भी किसी न किसी प्रकार का दुःखवर्धन होता है। जूवा और सट्टा भी पापजीविका हैं पर इन दोनों को अलग बताने की जरूरत इसलिये है कि जूवा तो जीविकारूप में प्रसिद्ध नहीं है और सट्टा को बहुत से लोग शुद्ध व्यापार समझते हैं; इन दोनों की दुर्जनता पर जोर देने के लिये इन्हें अलग बतलाया है। छलजीविका को भी पाप-जीविका कह सकते हैं परन्तु स्पष्टता के लिये उसे भी अलग बताया, इस प्रकार पाप-जीविका का अर्थ जरा संकुचित सा हो गया है।

ऐसी कामोद्दीपक दवाइयों का व्यापार जिनसे लोगों के चरित्र और स्वास्थ्य का नाश होता हो वेश्या की जीविका (अगर वह शीलवती न हो), आदि पापजीविकाएँ हैं। बहुतसी जीविकाएँ साधारणतः बुरी नहीं होतीं पर बुरे उद्देश से पापजीविका बन जाती हैं। जैसे किसी देश को अफीमची बनाने के लिये उस देश में अफीमका व्यापार करना, दूसरे देशों पर आक्रमण करने के लिये विषैली गैस आदि बनाना इत्यादि।

प्रश्न—खेती में हिंसा होती है इसीलिये इसे पाप-जीविका कहा जाय या नहीं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि अगर खेती न की जाय तो मनुष्य मांस-भक्षण करेगा, खेती से एक बड़ा पाप रुकता है इसलिये यह पुण्यजीविका है।

अन्न खाना अगर पाप नहीं है तो खेती करना भी पाप नहीं है।

२ छलजीविका--ऐसा धंधा करना जिसमें भाषा आदि की ओट में दूसरों को ठगा जाता हो। जैसे किसी ने कहा-हमारे यहां से जो बारह शीशियाँ खरीदेगा उसे एक घड़ी इनाम दीजायगी जो एकसा टाइम देती है। खरीदने पर वह घड़ी इनाम देदी जिसके कांटे एक ही जगह बने रहते हैं, जो चलती नहीं है, एक एक पैसे में खरीदकर बच्चे जिससे खेला करते हैं। एकसा टाइम देने का अर्थ न चलना है, यह जनता नहीं समझती, इस प्रकार शब्दों के छल से धोखा देकर धंधा करना छलजीविका है। सूचना जब ऐसे शब्दों में या ऐसी भाषा में दी जाती है जिसे साधारण लोग नहीं समझते तब उनकी इस नासमझी से लाभ उठाने के उद्देश से जो छल किया जाता है वह छलजीविका है। सीधी भाषा में भी छल किया जाता है, जैसे किसी ने विज्ञापन निकाला-'खटमल मारने का अमोघ उपाय बताने की कीमत सिर्फ आठ आना'। किसी ने आठ आना देकर उपाय पूछा तो लिखा दिया खटमल देखकर एक चिमटी से पकड़िये और एक लकड़ी के तख्ते पर रखकर छोटी सी हथौड़ी से कुचल दीजिये। उपाय तो सचमुच अमोघ रहा, पर ग्राहक को न तो ऐसे अमोघ उपाय की जरूरत थी न वह ऐसा समझा था, विज्ञापनदाता भी इस मर्म को समझता था और ग्राहकों को धोखा देने के लिये उसने ऐसा विज्ञापन निकाला था। यह छलजीविका है। ज्योतिष आदि की ओट में जो ठगते हैं उनकी वह जीविका भी छलजीविका है।

प्रश्न--जादू वगैरह के खेल मनोरंजन के लिए जरूरी होते हैं उनमें छल न किया जाय तो खेल का मजा ही जाता रहे तो क्या जादू के खेल दिखाना छलजीविका है?

उत्तर--नहीं, छल को छल कह देने पर वह छल नहीं रहता, जादू के खिलाड़ी यह कह देते हैं या साधारणतः यह बात घोषित रहती है कि इन खेलों में हाथ की सफाई आदि है। तुम्हारी दृष्टि या बुद्धि को भुला सकने की योग्यता दिखा कर ही वे पैसे लेते हैं, वे लेन देन में कोई छल नहीं करते।

एक आदमी राजकर्मचारी बनकर तुम्हें धोखा दे जाता है तो वह चोर है छली है, पर एक बहुरूपिया राजकर्मचारी बनकर तुम्हें भुलावा दे जाता है और फिर इनाम मांगता है तो यह न चोरी है न छलजीविका है। एक आदमी साधुवेषी बनकर लोगों को ठगे तो हम उसे छलजीवी या पापी कहेंगे पर बहुरूपिया बनकर भुला सके तो उसे छलजीवी न कहेंगे। उसे भुलाते समय लाभ न उठाना चाहिये।

जैसे एक बहुरूपिया साधुवेष बनाकर रास्ते में बैठ गया। वहां से राजा निकला, राजाने उसे साधु समझ कर नमस्कार किया, और कुछ भेंट देना चाही लेकिन साधुने कहा--बच्चा, साधुओं को धन पैसे से क्या मतलब, मुझे दो हाथ जगह और मुट्ठी भर अनाज चाहिये सो ईश्वर की दया से सब जगह मिल जाता है मैं तेरा धन लेकर क्या करूंगा? राजा साधु की निस्पृहता से बहुत खुश हुआ और प्रणाम करके और साधु का भक्त बनकर चला गया।

जब राजा कुछ दूर पहुँचा तब वह साधु अपना साधु वेष उतार कर राजा के पास गया और इनाम मांगने लगा कहा कि मैं बहुरूपिया

हूं । राजाने कहा–जितना इनाम तुम्हें अभी मिल सकता है उससे अधिक तो मैं तुम्हारे सामने चढ़ा आया था फिर वह तुमने लिया क्यों नहीं ? बहुरूपिया ने कहा–मैं अपनी कला दिखाकर ईमानदारी की रोटी चाहता हूं - धोखा देकर छलजीवी नहीं बनना चाहता ।

जादू के खिलाड़ी के विषय में भी यही बात कही जा सकती है । जादू का खिलाड़ी रुपये का दो रुपया बना देता है पर इसके लिये वह किसी से रुपये नहीं ठगता वह तो अपना इनाम या टिकिट के पैसे ही लेता है इसलिये छलजीवी नहीं है । छल करने की कला दिखाकर एक कलाकार की हैसियत से जीविका करना छलजीविका नहीं है किन्तु जीविका में छल करना और छल से रुपये ठग लेना छलजीविका है । नकली साधु छलजीवी है व चोर भी है पर बहुरूपिया न तो चोर है न छलजीवी ।

३- जूवा— विनिमय का आधार न तो कोई सेवा हो, न कोई उपयोगी चीज, किन्तु किसी कृत्रिम या अकृत्रिम घटना के आधार पर देन-लेन की शर्त करना जूवा है । जहाँ देन-लेन न हो सिर्फ मनोविनोद के लिये जीत-हार हो वहाँ जूवा नहीं है । कौड़ी फेकना, पासा फेकना, तास के अनेक खेल, चूड़ी फेकना, घुड़दौड की शर्तबन्दी, लाटरी आदि जूवा के खेल हैं । जूवा में न तो कोई उपयोगी चीज पैदा होती है न व्यापार की तरह इधर से उधर जाकर लोगों को मिलने में सहूलियत होती है, व्यर्थ ही सम्पत्ति इधर उधर दौड़ती है, जूवा खेलने वाले व्यर्थ ही अपनी शक्ति बर्बाद करते हैं । जूवा की जीत एक तरह की मुफ्तखोरी है उसकी हार एक तरह की आत्महत्या है ।

जूवा खेलने वालों की दुर्दशा के उदाहरण बहुत से मिलते हैं । जूवा ने युधिष्ठिर की दुर्दशा की, नारीत्व का अपमान कराया, कौरवों में उन्माद भरा, अन्त में महाभारत में उनका भी नाश हुआ—यह सब प्रसिद्ध ही है । आज भी हर गांव और हर मुहल्ले में जुवाड़ियों की दुर्दशा के नमूने मिलते हैं । उनका व्यापार नष्ट हो जाता है, वे घर की चीजें और पत्नी के आभूषण आदि भी जूवा पर चढ़ा देते हैं, बेचारी पत्नी नहीं देना चाहती तो उसे मारते-पीटते हैं— इस प्रकार एक तरह का जंगलीपन और शैतानियत उनपर छा जाती है । उनका कौटुम्बिक जीवन नरक बन जाता है । झूठ बोलने की और धीरे धीरे चोरी करने की आदत पड़ जाती है, जीत में ऐसा उन्माद आ जाता है कि वह अपने शील-सदाचार को मुश्किल से सुरक्षित रख पाता है, नशेबाजी आदि का व्यसन भी लग जाता है ।

अगर जूवा खेलने वाला व्यक्ति अच्छा से अच्छा संयमी भी हो तो भी समय की बरबादी, पैसों की हानियाँ, मुफ्तखोरी और काफी समय तक चिन्ता और व्याकुलता होती ही है । पर जुवाड़ियों में ऐसे संयमी कम ही होते हैं, अधिकांश की ऐसी ही दुर्दशा होती है जैसी कि ऊपर बताई जा चुकी है । इसलिये जूवा खराब से खराब दुर्जन है । धर्म तो इसे रोकता ही है साथ ही समाज और राज्य को भी इसकी रोक करना चाहिए । जो राज्य घुड़-दौड़ की शर्त और लाटरी की अनुमति देते हैं व जूवा का प्रचार करके जनता का नाश करते हैं ।

प्रश्न–घुड़-दौड़ तो अच्छी बात है इससे स्वास्थ्य और सैनिकता का विकास होता है, देखनेवालों का मनोविनोद होता है । इसके

प्रबन्ध में जो खर्च होता है उसके लिये दर्शकों से टिकिट के पैसे लिये जाँय तो क्या बुराई है ?

उत्तर–यह सब बुराई नहीं है। दर्शकों के लिये टिकिट लगाओ जीतनेवाले को इनाम भी दो, पर दर्शकों में से जो लोग अमुक घोड़े की जीत पर दाव लगाते हैं वह जूवा है, वह जूवा न खेलना चाहिये।

प्रश्न–लाटरी में क्या बुराई है ? दूसरों का सिर्फ एक एक रुपया जाता है और एक आदमी धनवान बनकर सुखी हो जाता है।

उत्तर–इसमें जीतनेवाले और हारनेवाले सब में मुफ्तखोरी की वृत्ति पैदा होती है, सभी बिना परिश्रम के पैदा करना चाहते हैं, यह वृत्ति किसी भी मनुष्य के लिये कलंक की बात है। फिर इससे न तो समाज को कुछ सम्पत्ति मिलती है न व्यापार के समान एक जगह से दूसरी जगह चीज जाती है जिससे किसी चीज को पाने की लोगों को सुविधा मिले। कोई उपयोगी चीज पैदा की जाय या लोगों के पास पहुँचाई जाय इसी के बदले में किसी का पैसा लेने का अधिकार है, लाटरी में ये दोनों बातें नहीं हैं इसलिये वह दुर्जन है। जूवा के समान इसमें चिन्ता व्याकुलता भी होती है इसलिये इसका समावेश जूवा में ही करना चाहिये।

प्रश्न–लाटरी डालकर अगर किसी संस्था को मदद दी जाय तो क्या बुराई है ?

उत्तर–लाटरी में दो तरह के उपपापी हैं एक तो वे जो लाटरी खोलते हैं और उसका नफा ले लेते हैं, दूसरे वे जो लाटरी में रुपया भर कर इकदम धनवान हो जाना चाहते हैं। अगर किसी योग्य संस्था को मदद देने के लिये लाटरी भराई जाती है और पूरी ईमानदारी के साथ उसका पालन किया जाता है, तो लाटरी के प्रबन्धक उपपापी नहीं रहते, और लाटरी भरने वालों के मन में संस्थाको मदद देने की मुख्यता है तो उनका उपपाप भी आधे से अधिक दूर हो जाता है। पर अच्छा यही है कि संस्था को मदद देने के लिये भी इसका उपयोग न किया जाय, अन्यथा इसकी ओट में जूवा के बहुत से कार्य घर बना लेंगे।

बहुत से लोग रुपये पैसे बिछाकर उसमें चूड़ी फेंककर फँसाने का धंधा करते हैं यह पूरा जूवा तो है ही, साथ ही जनता को ठगना भी है। कोई कोई लोग पानी के अंक लिखी हुई कागज की चिन्दियाँ निकलवाते हैं यह भी जूवा और ठगाई है इनके अड्डेवाले और खिलाड़ी दोनों जुआड़ी हैं। जूवे के सैकड़ों रूप हैं उन सबका त्याग करना चाहिये। समाज को कुछ उचित सेवा देना और उसके बदले में जीवन निर्वाह के लिये कुछ लेना यही उचित आजीविका है। जूवा अनेक अनर्थों की जड़ तथा मुफ्तखोरी है।

४ सट्टा–सट्टा भी एक प्रकार का जूवा है पर इसे व्यापार का कुछ ऐसा रूप मिल गया है या उसमें व्यापार का ऐसा मिश्रण हो गया है कि उसे जूवा से अलग करके कहना पड़ता है। वास्तव में जूवा के साथ इसमें बहुत समानता है।

जिस प्रकार जूवा में चिन्तातुरता या अनिश्चितता है करीब करीब उसी प्रकार सट्टे में भी है। जूवा में जिस प्रकार न तो कोई चीज पैदा की जाती है न सुविधाजनक बनाई जाती है, इसी प्रकार सट्टे में भी है। सट्टे में चीज जहाँ की तहाँ पड़ी रहती है, इस प्रकार सट्टा और जूवा में दोनों समानताएँ हैं।

साथ ही एक तीसरी समानता यह है कि जैसे जूवा में एक पक्ष की हार पर दूसरे पक्ष

की जीत निर्भर है उसी प्रकार सट्टे में भी कुछ लोगों की हार पर कुछ लोगों की जीत निर्भर है। जब कोई एकाध व्यक्ति सट्टे में लाखों करोड़ों कमाता है तब दूसरे सैकड़ों सटोरिये कंगाल हो जाते हैं। बहुतों की कंगालियत पर किसी एक सटोरिये का श्रीमान होना निर्भर है। इस प्रकार की मुफ्तखोरी और आर्थिक हत्या जूवे में ही है व्यापार में नहीं।

व्यापार में दोनों पक्षों का फायदा होता है। एक आदमी बड़े शहर से कोई चीज खरीदकर छोटे शहर में कुछ नफा लेकर बेंचता है तो उसका फायदा तो है ही साथ ही ग्राहक का भी फायदा है क्योंकि बड़े शहर में जाने की उसकी परेशानी बच जाती है।

इसी प्रकार एक आदमी बरसात के पहिले अनाज खरीदकर सुरक्षित रखता है और बरसात में या बरसात के बाद कुछ नफा लेकर बेंचता है तो उसका लाभ है और ग्राहक का भी लाभ है क्योंकि उसे समय पर जरूरत के अनुसार चीज मिलजाती है अन्यथा वह बरसात में खेड़े में अनाज लेने कहां जाता ? इस प्रकार व्यापार दोनों की सुविधा के लिये होता है, दूकानदार और ग्राहक दोनों ही अपनी अपनी दृष्टि से उसमें लाभ उठाते हैं पर सट्टे में दोनों ही एक दूसरे को हराना चाहते हैं। मैंने तुमसे हजार गांठ खरीदली, माल कहां है या अभी इस दुनिया में है या नहीं मुझे नहीं मालूम, माल की मुझे जरूरत नहीं है, दाम मैंने उतने ही दिये हैं जितने से भाव अगर घटजाय तो उसका घाटा चुकाया जा सके। आगे यदि भाव घटा तो डिपाजिट का रुपया देकर सिर पीट लेता हूं भाव अगर बढ़ा तो मुफ्त में हजारों लाखों लेकर मोटरें दौड़ाने लगता हूं महल बनवा लेता हूं थोड़ा लांच घूस के रूप में धर्म संस्थाओं को, मन्दिर मसजिदों को देकर पूजा और यश भी खरीद लेता हूं, सिर पीटने के लिये दूसरा पक्ष रह जाता है। लाखों कमाने में मैंने दुनिया की क्या भलाई की और खोने में मैंने क्या पाप किया जिसका दंड यह मिला, इसका कोई उत्तर नहीं है। इसलिये सट्टा मुफ्तखोरी है जूआ है, सभ्य शब्दों में उसे आर्थिक युद्ध कहा जा सकता है व्यापार नहीं।

प्रश्न–जब सट्टा कानून से जायज हो और दूसरे लोग इसके द्वारा श्रीमान् बन गये हों तो अपने में योग्यता होते हुए भी उसका उपयोग क्यों न किया जाय ?

उत्तर–व्यभिचार से अगर कोई वेश्या धनवान हो गई हो तो भी अन्य सुन्दरियों के लिये वेश्या-जीवन अनुकरणीय न होगा, क्योंकि इससे बहुत-सी स्त्रियों को घृणित, जीवन बिताना पड़ता है और सैकड़ों घरों की तबाही होती है, यही हाल सट्टे का है। दूसरी बात यह है कि सट्टे में जीतने का दावा बहुत कम लोग कर सकते हैं, बड़े बड़े होश्यार सटोरिये भी अन्त में भिख-मंगे या दिवालिये होते देखे गये हैं। इसलिये सट्टे का द्वंद्वयुद्ध खेलना किसी को भी लाभदायक नहीं है। मानलो कि सैकड़ों आदमियों की हत्या करके उनकी हड्डियों से एक आदमी ने अपना महल बनवा लिया तो क्या यह दूसरों को अनु-करणीय होगा ? मनुष्य अगर ईंट चूना का उत्पादन न करके मनुष्य-हत्या करे और उनकी हड्डियों से मकान बनावे तो एक न एक दिन उस हड्डियों के महलवाले की भी हड्डियाँ किसी दूसरे के महल बनने में लग जाँयगी सामूहिक रूप में उस समाज का नाश होगा। ऐसी जंगली जातियाँ हैं जिनमें

मनुष्य हत्या करके उनकी खोपड़ियों का संग्रह करनेवाले बड़े आदमी समझे जाते हैं, उन बड़े आदमियों को देखकर दूसरे भी बड़े आदमी बनने की कोशिश करते हैं, इस कोशिश में बहुतसे मारे जाते हैं, कुछ बड़े आदमी बनते हैं पर सामूहिक रूप में उस समाज का नाश ही हो रहा है। सट्टे वाले समाज की भी यही दशा होती है।

प्रश्न– देखा तो यह जाता है कि जिन शहरों में सट्टा होता है उन शहरों में प्रान्तों में या लोगों में धन भी अधिक होता है जब कि जहाँ सट्टा नहीं होता वहाँ गरीबी बहुत रहती है।

उत्तर--कसाईखाने में बहुत से जानवर इकट्ठे होते हैं इसका यह मतलब नहीं है कि कसाई-खानों से जानवरों की संख्या बढ़ती है, सट्टा से धनवान बनने की बात भी ऐसी ही है। बात यह है कि जिन शहरों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्ध होता है या जो देश के द्वार बने होते हैं या जो उद्योग के केन्द्र होते हैं उन में सम्पत्ति अधिक होती है और चारों ओर से आती हुई उस सम्पत्ति के नशे में वहाँ सट्टे के भी केन्द्र बन जाते हैं धन सट्टे से पैदा नहीं होता है पर उद्योग आदि के कारण जो धन एकत्रित हुआ वह सट्टा रूपी यज्ञकुंड में स्वाहा होने लगता है।

सट्टा से जब किसी तरह का उत्पादन नहीं होता, विभाजन नहीं होता, तब सम्पत्ति बढ़ेगी कैसे? राष्ट्र का या जनता का लाभ होगा कैसे? हाँ, सौ मिटकर किसी एक का लाभ हो सकता है, पर निन्यानवे का यह घाटा देश का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है।

प्रश्न–मानलीजिये एक आदमी दान करना चाहता है पर मजदूरी से वह इतना नहीं कमा सकता कि वह किसी उचित संस्था को कुछ अच्छी सी रकम दे सके इसलिये वह सट्टा करता है, अगर हार जाता है तब कोई बात नहीं, अगर जीत जाता है तो संस्था को निहाल कर देता है क्या ऐसे सटोरिये को आप उपपापी कहेंगे?

उत्तर--कहूंगा, और यह भी कहूंगा कि दान का यह रास्ता भी ठीक नहीं है और इसमें सफलता की आशा भी बहुत कम है।

पहिली बात तो यह है कि सट्टा धनोपार्जन का निश्चित मार्ग नहीं है, सौ में पंचानवे लुटते हैं और पांच बनते हैं, हम पंचानवे में से नहीं हैं पांच में से हैं यह आशा ही अत्याशा है।

दूसरी बात यह कि अगर कभी जीत भी गये तो तुरंत ही यह आशा होती है कि आगे और जीतेंगे अभी इतने से क्या होता है! इस तृष्णा का अंत शायद ही हो पाता है और एक दिन जब सब डूब जाता है तब आँख खुलती है।

तीसरी बात यह कि तुम किसलिये सट्टा करते हो यह दुनिया नहीं देखती, दुनिया यह देखती है कि बड़े बड़े भले मानस भी सट्टा करते हैं इसलिये सट्टा बुरा नहीं है इस प्रकार सट्टे पर प्रतिष्ठा की छाप लगती है।

चौथी बात यह कि जो संस्थाएं सट्टा आदि की कमाई का दान लेती हैं वे सट्टा आदि का विरोध करने में असमर्थ सी हो जाती हैं वे किस मुंह से विरोध करें? वे चाहती तो हैं सदाचार और सुख की वृद्धि, पर उनके द्वारा मिलता है पाप मुफ्तखोरी आदि को उत्तेजन।

पांचवी बात यह है कि दान देना भी एक प्रकार का लेनदेन है। दान देकर मनुष्य पूजा प्रतिष्ठा यश गौरव आदि पाता है, जिनके पास

धन है उनके लिये पूजा प्रतिष्ठा आदि की कीमत धन से अधिक है इसलिये दान देकर वे जो कुछ पाते हैं वह उनकी अपेक्षा घांटे का व्यापार नहीं है। ऐसी हालत में दान देने से सट्टे का पाप धुल नहीं सकता। किसी ने धन पाकर जमीन जायदाद खरीदी किसी ने प्रतिष्ठा खरीदी। यदि जमीन जायदाद खरीदने से सट्टे का पाप धुल नहीं सकता तो प्रतिष्ठा खरीदने से भी धुल नहीं सकता।

प्रश्न—अगर उसके मन में प्रतिष्ठा खरीदने का भाव न हो तो क्या बुराई है? कदाचित् वह गुप्त-दान करे, तब तो प्रतिष्ठा का दोष नहीं लगाया जा सकता?

उत्तर—तब उक्त पांच में से चार दोष रहेंगे, इससे निर्दोषता नहीं आ जाती, बल्कि अधिक सम्भावना तो यही है कि वह इन पांच दोषों के साथ एक छट्ठा दोष और लगाले, उसके मनमें घमंड आ जाय कि मैं प्रतिष्ठा नहीं चाहता। ऐसे गुप्त दानियों की कमी नहीं है जो कहते हैं कि हमने इतना गुप्त दान किया पर किसी को नहीं मालूम, वे किसी को न मालूम होने की बात अधिक से अधिक जगह मालूम कराते हैं। खैर, कुछ भी हो पर प्रतिष्ठा न खरीदने का भाव हो तो भी सट्टे को उत्तेजन न देना चाहिये।

प्रश्न—सट्टे को उत्तेजन न देना चाहिये पर किसी ने सट्टे में रुपया पैदा कर लिया और अब वह किसी धर्मकार्य में लगाना चाहता है तो अच्छा करता है या बुरा?

उत्तर—सट्टे या और किसी पापजीविका से पैसा पैदा करके एक आदमी किसी बुरे कार्य में-दुर्व्यसन में-पैसा खर्च करता है दूसरा अच्छे कार्य में लगाता है-विवेकपूर्वक दान करता है-तो पहिले की अपेक्षा दूसरा अच्छा ही है। परन्तु इसके दान करने से भी पापजीविका का पाप नष्ट नहीं होगा क्योंकि दुरर्जन से समाज को जो हानि उठाना पड़ती है उसका असर सारी सम्पत्ति दान करके भी नहीं जा सकता।

एक आदमी ने एक करोड़ रुपया सट्टे से कमाया और मानलो एक करोड़ ही उसने दान कर दिया तो भी समाज को इसमें लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है। लाभ इतना कि शायद एक विद्यापीठ तथा कुछ और संस्थाएँ खड़ी हुई कुछ लोगों को जीविका मिली समाज में कुछ पंडिताई बढ़ी, परन्तु एक करोड़ के लाभ से जो दूसरे हजारों गृहस्थ उजड़ गये और उनके आश्रितों को जो धक्का लगा वह हानि कम नहीं है, साथ ही दूसरे लाखों व्यक्तियों में जो मुफ्तखोरी की वासना जगी मुफ्तखोरी के धंधे की तरफ जो लाखों व्यक्ति झुक गये—इस स्थायी हानि का तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। शिक्षा संस्थाएँ ज्ञान बढ़ायेंगी परन्तु उसके मूल में जिस किसी तरह से पैसा पैदा करके जीवन को सफल और यशस्वी बनाने का जो बीज पड़ गया है वह विद्या का सदुपयोग न होने देगा। उनके आगे ईमान और श्रमशीलता का आदर्श न आ सकेगा किन्तु लूट करके भी धनवान बनने की महत्ता ही आयेगी। इस प्रकार लाभ कम और हानि अधिक रहेगी। हां, पाप जीविका के बाद पापोपयोग करने की अपेक्षा धर्मोपयोग करना अच्छा ही है।

प्रश्न—एक आदमी पापजीविका नहीं छोड़ सकता (जैसे एक आदमी सट्टा नहीं छोड़ सकता एक वेश्या अपना धंधा नहीं छोड़ सकती) पर उनकी यह इच्छा अवश्य है कि आमदनी का अधिक से अधिक भाग किसी अच्छे कार्य में खर्च

हो, तो उनका दान लेना चाहिये या नहीं ? यदि न लिया जाय तो उस पैसे का कहीं न कहीं दुरुपयोग होगा और लिया जाय तो धन की प्रतिष्ठा होगी इससे नीति गौण बनेगी कदाचित वे अपने पापजीविका के मार्ग में सन्तोष के साथ आगे बढ़ेंगे। तब क्या किया जाय ?

उत्तर—साधारणतः दान ले लेना चाहिये, साथ ही इस तरह जो सम्पर्क बढ़े उसका उपयोग दानी को पापजीविका से लौटाने में करना चाहिये। धनकी प्रतिष्ठा न होने पाये इसके लिये इन बातों का खयाल रखना चाहिये।

१—मौका आने पर यह बताना कि ईमानदारी की कमाई का एक पैसा पापजीविका के रुपये से भी अधिक कीमती है।

२—अवसर आने पर यह बताने की कोशिश करना कि पापजीविका से हम जितनी हानि कर चुके हैं उसकी पूर्ति चौगुना दान करने पर भी नहीं होगी। और अगर दान न किया जाय तब तो उस हानि का ठिकाना ही क्या है ?

३—यह बताना कि दान देकर जितनी यश-प्रतिष्ठा ली उतने दान का बदला तो मिल गया जितनी प्रतिष्ठा कम लोगे उतने अंश में सच्चा दान कहलायगा इसलिये पापजीविका का अधिक से अधिक प्रायश्चित्त करो प्रतिष्ठा खरीदकर प्रायश्चित्त का परिमाण कम न करो।

४—दानी को थोड़ा बहुत आदर देना जरूरी हो तो देना चाहिये पर ऐसा यश न देना चाहिये जिससे वह या जगत् अनुभव करे कि पापजीविका के त्यागी की अपेक्षा पापजीविका करके दान करनेवाला अच्छा, ऐसे दान की अपेक्षा संयम शुद्ध सेवा आदि की इज्जत कम न होना चाहिये।

जनहित या धर्म के लिये दान देनेवाला तो इन बातों का यथाशक्य या परिस्थिति के अनुसार ही पालन कर पाता है पर साधारण जनता इस विषय में पूरा न्याय कर सकती है। जनता को किसी दानी की इज्जत उतनी करना चाहिये या उसे उतना ही यश देना चाहिये जितना उसके अर्थोपार्जन की पवित्रता और दान के मूल्य के अनुसार ठीक मालूम हो। विश्वासघात चोरी या अन्य किसी पाप या पापजीविका के द्वारा लाखों पैदा करनेवाला और अपने पाप को छिपाने के लिये दान के नाम से इधर उधर कुछ टुकड़े फेंकनेवाला बिलकुल प्रशंसनीय नहीं है।

पाप छिपाने के लिये नहीं किन्तु किसी कार्य की अच्छाई समझकर दान देनेवाला पापजीवी कुछ आदरणीय और दयनीय है। पापजीविका छोड़ कर पाप के प्रायश्चित्त के रूपमें दान देनेवाला प्रशंसनीय और आदरणीय है।

पापजीविका में न पड़कर दान करनेवाला पूर्ण प्रशंसनीय और अनुकरणीय है।

हमें यह बात सदा ध्यान में रखना चाहिये कि जीवन में सफलता की कसौटी धन नहीं, विश्वकल्याण है। पापजीविका के द्वारा हम ने लाखों कमाये और हजारों या लाखों दान दिये तो पापजीविका से लाखों कमाने में जगत् का जो अकल्याण हुआ है वह करोड़ों के दान से पूरा नहीं हो सकता। अपथ्य करके मनुष्य जितना बीमार हो सकता है उस से कई गुणा पथ्य भी उतना स्वस्थ नहीं कर पाता। एक रुपये की कमाई का दोष दस रुपये के दान से भी नहीं धुल सकता। इसलिये यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ईमानदारी से कुछ पैसे कमाकर दान न देनेवाला या कम दान देनेवाला

व्यक्ति उस व्यक्ति से श्रेष्ठ है जो पापजीविका से रुपया कमा कर दानवीर बना हुआ है। ऐसे दानवीर को हम शक्तिशाली या प्रभावशाली कह सकते हैं पर पुण्यात्मा अनुकरणीय आदरणीय नहीं कह सकते।

मरहम लगाने के लिये जैसे छुरी मारना ठीक नहीं, उसी प्रकार दान देने के लिये पापजीविका ठीक नहीं, हां, छुरी लग जाने पर उस की पट्टी करना चाहिये उसी प्रकार पापजीविका करने पर सम्पत्ति दान में लगा देना चाहिये, फिर भी छुरी न मारने मे जो आराम रहता है वह छुरी मारकर मरहम लगाने पर भी नहीं होता। इसी प्रकार पापजीविका न करने से जो स्वपरकल्यण है वह पापजीविका करके दान देने पर भी नहीं है इसलिये पापजीविकाओं-जुवा सट्टा आदि-का त्याग ही श्रेष्ठ है।

५—**भिक्षा**--भिक्षा भी एक दुर्जन है क्योंकि इस से मनुष्य दूसरों के जीवन का बोझ बन जाते हैं उनके भीतर मुफ्तखोरी आ जाती है दीनता आ जाती है, इस प्रकार वे अपना कल्याण का नाश करते हैं और दूसरों के कल्याण का भी नाश करते हैं।

हर एक आदमी को चाहिये कि वह समाज को कुछ दे और उस के बदले में रोटी कपड़ा आदि ले, मुफ्त में किसी से कुछ लेना मनुष्यता नहीं है।

हां, कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनका भिक्षा माँगना दुर्जन नहीं, त्याग है। एक वैभवशाली वैभव त्याग कर जनसेवी भिक्षुक बन जाता है उसकी भिक्षा दुर्जन नहीं है। पर एक आलसी अकर्मण्य आदमी गरीबीसे घबराकर साधुका वेष लेकर भिक्षा माँगने लगता है तो उसका भिक्षा माँगना दुर्जन है। साधुता के नाम पर अगर कोई भिक्षा माँग रहा हो तो यह देखना चाहिये कि वह कौनसी जनसेवा कर रहा है। जनसेवा का कोई कार्य न कर रहा हो तो वह भिक्षा माँगने का अधिकारी नहीं है।

कभी कभी किसीकी जनसेवा दिखाई नहीं देती तो यह देखना चाहिये कि इसने साधुता के लिये त्याग क्या किया है। म. महावीर ने साधुजीवन के प्रारम्भ के बारह वर्ष तक कोई जनसेवा नहीं की, जनसेवा की साधना की पर वह लोगों को दिखाई नहीं दे सकती थी तब वे अपने त्याग के बल पर भिक्षा माँगने के अधिकारी थे।

अगर किसी का त्याग न दिखता हो तो उसमें जनसेवा की साधना दिखना चाहिये। दिखना ज़रूरी नहीं है ज़रूरी है होना, पर होने की ओट में सभी मुफ्तखोर अपनी मुफ्तखोरी छिपा सकते हैं इसलिये दिखने पर कुछ जोर दिया गया है। हां, दिखने का यह मतलब नहीं है कि घर घर उसके विज्ञापन टँगे हों और उसकी सेवा के गीत गाने को सैकड़ों व्यक्ति अपनी शक्ति लगा रहे हों, दिखने का मतलब यह है कि उसकी साधना का या सेवा का कुछ क्रियात्मक रूप हो।

इस प्रकार साधुजीवन की कुछ श्रेणियाँ बन जाती हैं—

१—जनसेवा त्याग और साधना दिख रही है।
२—जनसेवा और साधना दिख रही है।
३—त्याग और साधना दिख रही है।
४—साधना दिख रही है।

इसी प्रकार जनसेवा आदि के होने के विषय में भी समझ लेना चाहिये। इन सब को भिक्षा लेने का अधिकार है।

पर जिनमें जनसेवा आदि दिख तो रही हैं पर वास्तव में वे हैं नहीं, उन्हें भिक्षा माँगने का अधिकार नहीं है। जैसे एक आदमी अनावश्यक उपवास करता है और भी अनेक तरह के कष्टों का प्रदर्शन करता है पर उसकी यह साधना जनसेवा के लिये नहीं है अपनी पूजा प्रतिष्ठा के लिये है तो वह साधु नहीं है उसे भिक्षा माँगने का अधिकार नहीं है। उसका भिक्षा माँगना दुर्जन है।

जिनने जीवन भर काफ़ी सेवा की है पर अब वृद्धावस्था में शरीर और मन सेवा करने के लायक नहीं रहा है, सरकारी प्रबन्ध ऐसा नहीं है कि उन्हें खाने मिले, सन्तान अथवा बन्धुबान्धव भी ऐसे नहीं हैं कि पालन पोषण करें तो उन्हें भिक्षा मांगने का अधिकार है। कोशिश तो यही होना चाहिये कि वे जहां तक बन सके भिक्षा न मांगे पर मांगना पड़े तो वे क्षन्तव्य हैं।

जो बात वृद्धों के विषय में कही गई है वही अनाथ बच्चों के विषय में भी कही जा सकती है पर उनके विषय में यह ख्याल रखना चाहिये कि वे कहीं दूसरों के प्रतिनिधि तो नहीं हैं। देखा गया है कि बहुत से लोग बच्चों से भिक्षा मँगवाते हैं और मुफ्त में खाते हैं। बहुत से बच्चे काम कर सकते हैं पर भिक्षा मांगते मांगते उनमें ऐसी मुफ्तखोरी आ जाती है कि काम करने के नाम से डरते हैं। ऐसे बच्चों को भिक्षा मांगने का अधिकार नहीं है। जो काम कर सकते हैं उन्हें काम करके ही जीविका करना चाहिये।

प्रश्न--देश में बेकारी इतनी अधिक हो कि किसी आदमी को कोशिश करने पर भी काम न मिलता हो तो वह क्या करे? भिक्षा मांगे या भूखों मर जाय?

उत्तर--कभी कभी भिक्षा मांगने की अपेक्षा भूखों मर जाना भी अच्छा हो सकता है पर यह सब समय अच्छा नहीं है न हर एक आदमी ऐसा कार्य कर सकता है इसलिये वह भिक्षा मांग सकता है, पर उसके मांगने का तरीका ऐसा होना चाहिये कि जिससे वह भिक्षाजीवी न बन जाय न समझा जाय।

वह भिक्षा मांगने के पहिले कुछ काम मांगने के लिये जाय अगर कोई काम न दे तो भिक्षा मांगले, पर भिक्षा मिलने पर कुछ काम कर दे। कुछ काम न हो तो दरवाजे पर झाड़ू तो लगा ही सकता है। अगर मानलो उसके घर कुछ काम न हो, तो आम लोगों की सेवा कर सकता है। गांवों और नगरों में साफ़ सफ़ाई का काम ही इतना और ऐसा होता है कि कोई भी आदमी कर सकता है। हर एक घर में कुछ ऐसे काम होते हैं जो ईमानदार आदमी से सरलता से कराये जा सकते हैं। मतलब यह कि दुर्भाग्यवश मनुष्य बेकार हो गया हो और भिक्षा मांगने के सिवाय और कोई ठीक उपाय उसके पास न हो तो कुछ समय तक भिक्षा मांग सकता है पर उसे अकर्मण्य न बनना चाहिये किसी न किसी तरह भिक्षादाता की या समाज की सेवा उसे कर देना चाहिये और यहाँ तक करने की चेष्टा करना चाहिये कि उसकी सेवा की बाजारू कीमत भिक्षा की चीज़ के बराबर हो जाय। फिर भी ऐसी भिक्षा को धंधा न बनाना चाहिये, काम ढूंढ़ने की कोशिश करते ही रहना चाहिये, ऐसी हालत में बेकार आदमी का भिक्षा मांगना दुर्जन न होगा।

कुछ लोग किसी अंधे लूले लँगड़े को पकड़ कर उसके लिये भिक्षा माँगने का धंधा करने

लगते हैं उनका भिक्षा माँगना भी मुफ्तखोरी है दुरर्जन हैं ।

प्रश्न--वर्ण व्यवस्था के युग में ब्राह्मण प्रायः भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करता था यह व्यवस्था समाज ने ही नियत कर दी थी, जब यह दुरर्जन है तब समाज ने ऐसी व्यवस्था क्यों की ?

उत्तर—वर्णव्यवस्था के युग में ब्राह्मण और शूद्र के लिये जो भिक्षा माँगने की व्यवस्था की गई थी वह दुरर्जन रूप नहीं थी। वह तो विनिमय अर्थात् लेन देन का एक तरीका था। ब्राह्मण समाज की बौद्धिक-सेवा विना वेतन के करता था समाज उसके बदले में भिक्षा देता था। यह विनिमय का एक ढंग हुआ दुरर्जन नहीं। इसी तरह बहुत से शूद्रों की सेवाओं के बदले में भी भिक्षा के तरीके से विनिमय किया जाता था।

हां, वर्णव्यवस्था के नष्ट हो जाने पर और नौकरी आदि आजीविका के कार्य में लग जाने पर जो भिक्षा आदि लेते हैं वे अवश्य दुरर्जन करते हैं। जो ब्राह्मण अध्यापक हैं वेतन लेते हैं या और कोई ऐसा धंधा करते हैं जिसमें उनको जीविका मिलती है फिर भी ब्राह्मणत्व के नाते भिक्षावृत्ति भी करते हैं वे दुरर्जन करते हैं। जब वर्णव्यवस्था नहीं रही तब उसके आश्रित भिक्षावृत्ति भी न रहना चाहिये।

प्रश्न--आज ब्राह्मण को नौकरी लगी है इसलिये भिक्षावृत्ति वह छोड़ रहा है कल नौकरी छूट जाय तो क्या करे। भिक्षा माँगने का पुस्तैनी धंधा छोड़ने में कभी न कभी संकट आ सकता है इसलिये क्यों न वह हर हालत में भिक्षा मांगे ? एक बार एक रियासत के दीवान हाथी पर चढ़े चले जाते थे रास्ते में एक सेठ के यहां भाटों को कपड़ा दिया जा रहा था, दीवान की जाति भी भाट थी, इसलिये दीवान जी हाथी से उतरे और भिक्षुकों में खड़े हो गये, सेठ हाथ जोड़ कर बोला-अन्नदाता, आप यह क्या करते हैं ? दीवान ने कहा-मेरी जाति भाट है इसलिये मैं अपना हक मांगता हूं। दीवान के इस जाति प्रेम से सभी को प्रसन्नता हुई। क्या आप इसे दुरर्जन कहेंगे ?

उत्तर--दीवान में जातिप्रेम था और इतना अधिक था कि उसने नम्रता का उत्कट रूप धारण कर लिया और प्रशंसा पाई, यह सब ठीक था पर इसको ठीक होने का कारण दीवान का जाति-प्रेम और विनय है दुरर्जन नहीं। वास्तव में अर्जन के लिये दीवान ने भिक्षा मांगी भी नहीं थी इसलिये वह अर्जनरूप ही नहीं थी फिर दुरर्जन तो क्या होती ? पर अगर उसने अर्जन की दृष्टि से ऐसा किया हो तो दुरर्जन ही कहा जायगा क्योंकि भिक्षा का उसे कोई अधिकार नहीं था। अगर वहां के लोगों ने इस तत्त्व को समझा होता तो यह घटना कुछ और लम्बी होती। दूसरे दिन लोग उसके यहां गये होते और उनने कहा होता-सरकार, आप ने कल जातिप्रेम और नम्रता का जो परिचय दिया है वह आप सरीखे महापुरुषों के योग्य है पर इस कार्य में जो धर्म का भंग हुआ, आशा है उसकी आप रक्षा करेंगे।

दीवान कहता-धर्मभंग हुआ हो तो मैं अवश्य प्रायश्चित्त करूंगा कृपाकर आप बतलावें।

लोग कहते--मनुष्य को किसी एक ही वर्ण की आजीविका करना चाहिये अगर कोई आदमी वेतन लेकर कोई जीविका करता है और जीविका सम्बन्धी अपने जातीय अधिकार के अनुसार भिक्षा आदि माँगता है तब दो में से उसे किसी एक जीविका का त्याग करना पड़ता है। इसलिये कल आपने भिक्षा मांगी उसके लिये आपको दीवानगिरी

की आमदनी छोड़ना पड़ेगी। दीवानगिरी छोड़ना तो राज्य के लिये घातक है।

दीवान कहता—आपका कहना बिलकुल ठीक है मैंने कल भिक्षा मांगी थी इसलिये कल की आमदनी छोड़ देता हूं।

लोग कहते--ब्राह्मणों और शूद्रों को जो भिक्षा आदि दी जाती है वह किसी एक दिन की सेवा का बदला नहीं होता वह प्रायः साल भर की सेवा का बदला होता है, अब आप जैसा उचित समझें करें।

दीवान कहता-ठीक है, मैं अपनी साल भर की आमदनी भेंट करता हूं, अन्यथा मुझे दुर्जन का दोष लगेगा।

घटना अगर इस तरह हो तो दुर्जन के दोष का अपहरण हो सकता है, साथ ही जाति-प्रेम और नम्रता आदि का परिचय मिल सकता है।

रह गई दूसरी आजीविका छूटने पर पहिली आजीविका करने की बात, सो इसमें पहिली बात तो यह है कि यदि मनुष्य पहिली आजीविका छोड़कर सुविधानुसार दूसरी आजीविका कर रहा है तो इसका मतलब यह है कि वर्ण व्यवस्था का बन्धन टूट गया है, ऐसी हालत में फिर भिक्षाश्रित जीविका करने की जरूरत नहीं है, अगर हमें और समाज को, दोनों को उस कार्य की आवश्यकता मालूम होती है तो जिसदिन से हम वह कार्य करेंगे उसीदिन से हम भिक्षा के अधिकारी हो जायँगे। फिर न हमें भिक्षा लेने में संकोच होगा न समाज को भिक्षा देने में।

असल में भिक्षा न मिल सकने की अड़चन वहीं उपस्थित होती हैं जहां समाज की कोई सेवा तो की नहीं जाती किन्तु जाति की दुहाई देकर मुफ्त में भिक्षा मांगी जाती है। ऐसी जगह प्रथा के अनुसार भिक्षा मिलती रहती है और एक दो बार भिक्षा न लेने से जहाँ प्रथा बन्द हुई कि फिर उसे भिक्षा नहीं मिलती। इस प्रकार मुफ्त की भिक्षा बन्द हो जाय तो इस में बुरा मानने की जरूरत नहीं है यह अच्छा ही मानना चाहिये। सेवा करने पर तो कभी भी भिक्षा का प्रारम्भ हो सकता है। भिक्षा मांगने से ही पुश्तैनी धंधा नहीं हो जाता, वह होता है तब जब वह सेवा भी दी जाय जिसके बदले में भिक्षा माँगी गई है। वह सेवा न करना पुश्तैनी धंधा छोड़ देना है न की भिक्षा छोड़ देना। सेवा करने लगे पुश्तैनी धंधा शुरू होगया और भिक्षा का भी अधिकार हो गया।

खैर, मुख्य बात यह है कि मनुष्य को मुफ्तखोर कभी न बनना चाहिये, भिक्षा माँगना हो तो विनिमय के आधार पर माँगना चाहिये अन्यथा दुर्जन होगा।

६—छट्ठा दुर्जन अधिक ब्याज है, ब्याजकी दुर्जनता का कारण पर्याप्त है, इसे पूरी तरह रोकना कठिन है साथ ही अमुक अंश में इसे आवश्यक या क्षन्तव्य मानना पड़ता है। निरतिवाद की नीति से काम लिया जाय तभी ब्याज के ऊपर अंकुश रक्खा जा सकता है। खैर, अंकुश रक्खा जाय या न रक्खा जाय पर इसमें जो मूल सिद्धान्त का भंग हुआ है उसपर विचार कर लेना चाहिये जिससे ब्याज की दुर्जनता मालूम हो।

समाज रचना के मूल में यह बात पड़ी हुई है कि एक दूसरे की सेवा करके परस्पर में अधिक से अधिक सुविधा दी जाय। एक आदमी हर बात में न तो होश्यार हो सकता है न वह सारे

काम कर ही सकता है कि दूसरे से काम न लिया जाय इसलिये लोगों ने अपनी अपनी योग्यता के अनुसार एक एक काम करके भी अपनी सब ज़रूरतों को पूरा करने का तरीका निकाला ।

पर न तो सबकी सेवाओं का मूल्य एक सरीखा था और न सब एक सरीखे परिश्रमी थे इसलिये उनकी सेवाओं में कमीबेशी होना स्वाभाविक था, इसलिये उसका बदलाभी कम ज्यादा मिलना उचित था । जिसकी जितनी सेवा उसको उतना बदला । पर एक ही समय में सारा बदला लिया नहीं जाता वह तो ज़रूरत के अनुसार ही लिया जाता है । पर जब ज़रूरत हो तब कौन याद रक्खे, कोई क्या बताकर सिद्ध करे कि हमने इतनी सेवा की है इसलिये इतना बदला मिलना चाहिये, इस के लिये धन की कल्पना हुई, सेवा के बदले में धान्य या सोना चांदी दिया जाने लगा और सोने चांदीके बदले में सेवा या कामकी चीज़ें मिलने लगीं । धनसम्पत्ति और कुछ नहीं वह एक प्रकार की हुंडी है जो अपने पारिश्रमिक के बदले में समाज से सेवा लेने के लिये दी गई है । उस हुंडी का उसी रूप में उपयोग होना चाहिये ।

सेवा के बदले में सेवा लेना यह विनिमय का मूल सिद्धान्त है । ब्याज में इस मूल सिद्धान्त का पालन नहीं होता । हमारे पास अगर सौ रुपये हैं तो इसका मतलब यह है कि तुम्हारी उतनी सेवा समाज पर ऋण है, वह सौ रुपया देकर तुम वह सेवा लेलो पर तुम सौ रुपया रखने के बदले में जो ब्याज लेते हो वह तो मुफ्त में लेते हो । समाज ने तुम्हें रुपया रखने की जो अनुमति दी उसका कारण यह है कि तुम मौके पर अपनी पुरानी सेवा का बदला लेसको, न कि इसलिये कि तुम सेवा लेने का अधिकार तो ज्यों का त्यों सुरक्षित रक्खो और बीच में मुफ्त में सेवा लेते रहो । यही कारण है कि ब्याज एक तरह का दुर्जन है ।

फिर भी साधारण ब्याज को हम दुर्जन नहीं कह सकते । जब तक पूंजी में पैदा करने की शक्ति है तब तक ब्याज की प्रथा को नहीं रोका जा सकता, अधिक ब्याज ही रोका जा सकता है ।

एक गरीब दूकानदार जितनी योग्यता और मेहनत से जितना रुपया पैदा करता है उससे कई गुणा रुपया, एक पूंजीपति दूकानदार, परिचय और योग्यता कुछ कम होने पर भी पैदा कर सकता है । इस प्रकार जब तक समाज में पूंजीपतित्व है और पूंजी में धनको पैदा करने की सामर्थ्य है तब तक ब्याज भी रहेगा, उसे मिटाने के लिये निरतिवादी अर्थ-नीति का प्रयोग होना चाहिये जिसमें पूंजीवाद की गुंजायश न रहे और सरकार की तरफ से हर एक को पूंजी मिल सके । पर जब तक ऐसा निरतिवादी समाज नहीं है तब तक अधिक ब्याज को अवश्य रोकना चाहिये । अधिक ब्याज को रोकने के लिये कुछ तो सरकार को, कुछ व्यक्ति को सुधार और संयम से काम लेना ज़रूरी है । इसके लिये कम से कम इन दो बातों की विशेष आवश्यकता है ।

१--अधिक ब्याज गैर कानूनी समझा जाय जैसे सरकारी बैंक लोगों को जितने ब्याज पर रुपया देते हैं उससे अधिक ब्याज कोई न ले सके ।

२--ऋण चुकाना अनिवार्य समझा जाय । ऋणी ऋण चुकाने के लिये जीवन भर उत्तरदायी

रहे, और उसके बाद उसके धनका जो उत्तराधिकारी बने उसे सिर्फ सूचना कर दी जाय।

साहुकारी जितने जोखम में होगी ब्याज उतना ही अधिक होगा । इसलिये कोशिश यह होना चाहिये कि न तो कानूनी आड़ में साहुकारी डूब जाय, न अपनी इच्छा की दुहाई देकर कोई मनमाना ब्याज ले सके । हां, साहुकारी का अधिकांश कार्य सरकारी बैंकों के हाथ में हो, यह अच्छा है।

खैर, सामाजिक व्यवस्था कैसी भी हो अधिक ब्याज न लेना चाहिये । अधिक ब्याज लेना दुरर्जन है ।

दुरर्जन का त्याग करके मनुष्य को सदर्जन ही करना चाहिये । किसी तरह धन कमालेनेसे जीवन की सफलता नहीं होती, धन इस तरह कमाना चाहिये जिससे हमारा भी लाभ हो और दुनियाका भी लाभ हो । मुट्ठीभर आटेमें तो मनुष्य जिन्दा रह सकता है और इसके लिए दुरर्जन की जरूरत नहीं है, तब क्यों मनुष्य दुरर्जन करे। दुरर्जन से हम दूसरों को पीसते हैं और दूसरे हमें पीसते हैं। दूसरे पचास आदमियों को पीसने से हमें उतना सुख नहीं मिलसकता जितना दुःख अपने को थोड़े रूपमें पिसवा डालनेसे। इसलिए हम दूसरों की रक्षा करें, दूसरे हमारी रक्षा करें, सब चैन से रहें ऐसी ही नीति होना चाहिये । दुरर्जन से आर्थिक जगत में जो हाय हाय मचती है उससे दुनियामें वैभव के बढ़नेपर भी कंगालियत और अशान्ति दिखाई देती है। अगर दुरर्जन न हो तो इतने वैभव में जगत इतना अच्छा हो कि कंगाली दिखाई भी न दे ।

३ निरतिग्रह

धन सम्पत्ति का अधिक संग्रह न करना निरतिग्रह है। अतिग्रह भी एक उपपाप है क्योंकि इससे दुनियामें गरीबी फैलती है और धन के पीछे बहुत से पाप और अनर्थ हुआ करते हैं ।

प्रश्न - किसी आदमी ने कानून और समाजके नियमों के भीतर रहकर धन कमाया हो और वह किसी को न देना चाहे न खर्च करना चाहे वह उसे अपने पास ही रखना चाहे तो इसमें क्या दोष है जिससे आप अतिग्रह को उपपाप कहते हैं ।

उत्तर - मनुष्य जन्मसे नंगा आता है और खाली जाता है । जीवन-निर्वाह के लिये दुनिया की दौलत का हिस्सा उसे मिलता है । किसी को अधिक हिस्सा लेने का हक नहीं है, जो लेता है वह एक तरह से चोरी करता है । अगर किसी के पास अधिक हिस्सा दिखाई देता है और उसका वह मालिक कहलाता है तो उसके दो कारण होना चाहिये । एक तो यह कि समाज सेवा के लिये वह चीज आवश्यक हो, जैसे एक विद्वान के पास हजार रूपये की पुस्तकें हैं इतनी पुस्तकें या इतने मूल्य की अन्य चीजें बहुतों के पास न होंगी फिर भी यह संग्रह अतिसंग्रह नहीं है क्योंकि वह धनी कहलाने के लिये है । दूसरा कारण यह हो सकता है कि मेरी सेवा अधिक कीमती हो और उसका बदला आया हो इसलिये धन रुक रहा हो । कुछ समय तक यह रुकावट क्षम्य हो सकती है । इन दो कारणों के सिवाय अगर मनुष्य धन संग्रह करता है तो अन्याय करता है । तुमने अगर सेवा अधिक की है तो इसके बदले में अधिक सेवा लेलो पर दूसरों की खुराक दबाकर बैठ जाने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है । एक कुटुम्ब में बहुत से भाई

रहते हैं अपनी अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करते हैं योग्यता और सेवा के अनुसार उनका सन्मान भी होता है और उसी के अनुसार उनकी प्रतिसेवा भी होती है, इतना होने पर भी कुटुम्ब के प्रत्येक आदमी को कुटुम्ब की आर्थिक परिस्थिति के अनुरूप भरपेट भोजन और वस्त्रादि मिलते हैं। जैसा यह कुटुम्ब के लिये है उसी प्रकार समाज के लिये भी है। जो लोग अतिसंग्रह करते हैं वे समाज के इस मूल तत्त्व का नाश करते हैं, वे समाज के अन्य सदस्यों को कंगाल बनाते हैं।

प्रश्न--खाद्य सामग्री या उपयोग की सामग्री का संग्रह करना बुरा है पर सोना चांदी नोट आदि के संग्रह करने में क्या बुराई है?

उत्तर-सामग्री के जो साधन हैं उनका संग्रह करना या सामग्री का संग्रह करना एक ही बात है। क्योंकि रुपया नोट आदि का संग्रह करने से वे दूसरों को नहीं मिल पाते इसलिये बेकारी और ग़रीबी बढ़ती है। इससे समाज का विकास भी रुकता है। हमारे पास जो रुपया है वह अगर हम किसी काम में लगा दें जिससे मज़दूरों को मज़दूरी मिले तो उन मज़दूरों की मिहनत से समाज में कोई न कोई चीज़ तैयार होगी ही। शिक्षकों की मिहनत से ज्ञान का प्रसार होगा, कलाविदों की मिहनत से कला का विकास होगा या कला से लोग लाभ उठावेंगे इत्यादि कोई न कोई काम होगा ही। संग्रह करने से वह धन तिजोड़ी में पड़ा पड़ा सड़ेगा, बेकारी के कारण दूसरे भूखों मरेंगे, विनिमय कम होने से एक दूसरे का उपकार कम होगा साधन सामग्री भी कम तैयार होगी इसलिये अतिग्रह न करना चाहिये।

प्रश्न--अतिग्रह की मर्यादा क्या? यों तो सौपचास रुपया अतिग्रह कहे जा सकते हैं यों लाखों रुपये भी अतिग्रह नहीं कहे जा सकते। तब अतिग्रह किसे कहा जाय? क्या सबके लिये अतिग्रह एक सरीखा होगा?

उत्तर - नीचे लिखी संपत्तिको रखना अतिग्रह न कहलायगा।

[१] जीवन के लिये जो चीज़ें कम से कम ज़रूरी हैं उन्हें अतिग्रह नहीं कहते जैसे भरपेट रोटी पानी, रहने के लिये साधारण घर, पहिरने के लिये साधारण कपड़े, आदि।

[२] जीवन निर्वाह की सामग्री पाने के लिये जो ज़रूरी सामान हो उसका रखना भी अतिग्रह नहीं है। जैसे- खेती के औज़ार तथा मज़दूरी के औज़ार आदि।

[३] देश की साम्पत्तिक हालत जैसी हो और आमदनी का जो औसत हो उतने हिस्से तक सम्पत्ति रखना अतिग्रह नहीं है।

[४] अगर कोई विशेष सेवा करता हो और उस सेवा के लिये विशेष साधनों की ज़रूरत हो तो उनका रखना भी अतिग्रह न कहलायगा। जैसे एक डाक्टर को या एक वैज्ञानिक को हज़ारों रुपयेके औज़ार रखने पड़ें एक साहित्यिक को या इतिहास शोधक को एक पुस्तकालय रखना पड़े आदि। साधकता की दृष्टिसे ही इसे अतिग्रह न कहेंगे। अगर वह संग्रह की या अपना बड़प्पन साबित करने की दृष्टिसे रक्खेगा तो अतिग्रह हो जायगा।

[५] एक आदमी इसलिये धनसंग्रह कर रहा है कि भविष्य में वह समाज की ऐसी सेवा करना चाहता है जिसके बदले में समाज उसे जीवन निर्वाह के लिये कुछ न देना चाहेगा और

शायद कुछ समय तक सेवा भी पसन्द न करेगा, अपने अज्ञान के कारण उसका विरोध भी करेगा जैसा म. सुकरात आदि का किया गया था तो वह उस समय के लिये कुछ संग्रह करना चाहे तो वह अतिग्रह न कहलायगा।

(३) अपनी परिस्थितिके अनुरूप सन्तान के पालन पोषण के लिये धन रखना भी अतिग्रह नहीं है। हां, सन्तान ज़िन्दगी भर चैन से खाती रहे और उसे कुछ न करना पड़े इस आशय से संग्रह करना या उतनी सम्पत्ति संग्रह करना अतिग्रह है।

अतिग्रह की इन मर्यादाओं को समझ कर अतिग्रह का त्याग करके मनुष्य को निरतिग्रह का पालन करना चाहिये।

प्रश्न—अगर अतिग्रह न हों तो संसार का विकास रुक जाय, दुनिया में न तो कोई ग़रीब रहे न अमीर। ग़रीबों का न रहना तो ठीक है पर अमीरों के न रहने से बड़ी हानि होगी। अभी तो ज़रूरत पर अमीरों से दान में हज़ारों लाखों मिल जाते हैं पर जब अमीर न रहेंगे तब कौन देगा? फिर कहां से ये शिक्षण-संस्थाएं चलेंगी? कहां से धर्मशालाएँ बनेंगी? कहां से मुफ्ती औषधालय खुलेंगे? कुछ भी तो न हो सकेगा। वर्षा के पानी का अगर जलाशयों में अतिसंग्रह न हो पाय, सब जगह फैल जाय तो बरसात के बाद लोगों को पानी मिलना असम्भव हो जाय, इसलिये जल के समान धन का अतिसंग्रह भी ज़रूरी मालूम होता है।

उत्तर—पृथ्वी पर जो जलाशय दिखाई देते हैं, वे इसीलिये बन सके हैं कि वर्षा का पानी छोटे छोटे हज़ारों लाखों स्रोत के रूपमें धरातल के नीचे बह रहा है इन्हीं छोटे छोटे स्रोतों के पुण्य से हमारे कुएं और तालाब आबाद हैं। अगर ये स्रोत न होते, उनका पानी भी किसी एक जगह संग्रहीत हो गया होता तो आज जलचरों के सिवाय दूसरे प्राणी दिखाई भी न देते। कुएं तालाब वगैरह अतिसंग्रह के परिणाम नहीं किन्तु अतिसंग्रह के अभाव के परिणाम हैं। कुएं तालाब सरीखे सार्वजनिक संग्रह अतिग्रह के अभाव में समाज में बनाये जा सकेंगे, बनाये जाते हैं।

लाखों और करोड़ों का खर्च करनेवाली सरकार कैसे बन जाती है? एक एक किसान की मुट्ठी के दाने लेकर ही तो इतनी बड़ी सरकार बनती है। सरकार को जाने दीजिये, ऐसे ऐसे मन्दिर आदि धर्मस्थान हैं जहां यात्री लोग पैसा पैसा चढ़ाते हैं और इसी के बल पर उनके पास लाखों की सम्पत्ति है, आज अमीर लाखों देते हैं पर इस इकतरफ़ी अमीरी की बदौलत करोड़ों ग़रीब ऐसे भी बन जाते हैं जो एक एक पैसा नहीं दे पाते, वे अगर दे पाते तो लाखों से ज्यादा दे डालते। और लाखों के लाख पैसों का जो मूल्य है वह एक के लाख रुपयों का नहीं है, क्योंकि एक अमीर के पास रुपये लाख हो सकते हैं पर दिल तो एक ही हो सकता है, इसलिये लाख रुपयों के साथ एक ही दिल आयेगा से भी सम्भवतः अहंकार और महत्त्वाकांक्षा यशोलिप्सा आदि से सना हुआ, जब कि लाख पैसों के साथ लाख दिल आयेंगे, और आयेंगे भक्ति श्रद्धा से सने हुए। लाख दिलों की क़ीमत लाख रुपयों से कई गुणी है। इसलिये यह सोचना कि अतिग्रह के अभाव में सार्वजनिक सेवा के लिए धन न मिलेगा, भूल है।

दूसरी बात यह है कि सार्वजनिक सेवा सरकार का काम है। अतिग्रह के अभाव में न

तो किसी देश में विदेशी सरकार रह सकती है न पूंजीवादियोंकी सरकार रह सकती है जिससे सरकार के स्वार्थ और जनता के स्वार्थ जुदे जुदे हों। जब सरकारें सच्ची सरकारें हो जायँगी तब सार्वजनिक सेवा के लिए धन की कमी न रहेगी, शिक्षण-संस्थाएँ बनवाना, यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध करना, बीमारों का इलाज करना सरकार का काम हो जायगा।

तीसरी बात यह है कि जन-सेवा के बहुत से कार्य तो इसलिए खड़े हो गये हैं कि अतिग्रह के कारण धन का बटवारा ठीक ठीक ठीक नहीं हो पाता। नहीं तो सभी लोग अपनी चिकित्सा शिक्षण आदि का प्रबन्ध कर सकेंगे। भिखारी न रहेंगे कि किसी अमीर को मुट्ठी मुट्ठी अन्न बाटने की तकलीफ उठाना पड़े। **दानियों का मिलना समाज की शोभा नहीं है, भीख लेने-वालों का न मिलना समाज की शोभा है। दान तो एक आपद्धर्म है जो अतिग्रह के पाप के प्रायश्चित के रूपमें करना जरूरी बन गया है।** दान की रकमों की अधिकांश सामग्री तो बीच के दलालों के हाथ ही पड़ती है। जो भिखारियों को मिलती है उससे ज्यादा दाता का अहंकार बढ़ता है और भिखारियों में दीनता बढ़ती है। निरतिग्रह के पुण्य के आगे दान का पुण्य पहाड़ के आगे राई बराबर ही है। निरतिग्रह से एक तो दान रुकेगा नहीं, अगर रुक भी जाय तो उस से समाज का विकास न रुकेगा।

अतिग्रह व्यक्तिगत भी होता है और सामाजिक भी होता है। सामाजिक के भी नाना रूप हैं, जातीय, अजातीय, वंशीय, प्रान्तीय राष्ट्रीय आदि। इस अतिग्रह से मानव समाज नरक बन जाता है। राष्ट्रीय अतिग्रह साम्राज्यवाद को जन्म देता है एक देश को दूसरे देशका गुलाम बनाता है, एक तरफ शैतानियत और दूसरी तरफ हैवानियत पैदा करता है, जिन मनुष्यों से व्यक्तिगत कोई वैर नहीं होता, जिन में कोई बुराई नहीं होती उनसे भी वैर कराता है, बड़े बड़े युद्धों को जन्म देता है। गुलाम देश तो पिसते ही हैं पर उनको गुलाम बनाने वाले अतिग्रही देश भी परस्पर लड़कर अपना नाश करते हैं। इस तरह कई तरफ से मनुष्य जातिका और मनुष्यता का संहार होता है। अतिग्रह के त्याग से जो संसार स्वर्ग बन सकता है अतिग्रह से वह नरक बन जाता है। हर एक आदमी, हर एक कौम और हर एक मुल्क अगर अतिग्रह का त्याग करके कुछ सन्तोषी बने, खुद खाये और दूसरों को भी खाने दे तो सभी मनुष्य मजे में रह सकते हैं और निराकुलता तथा प्रेम के कारण कई गुणा आनन्द उठासकते हैं, इस हालत में अगर थोड़ा भी हिस्सा मिले तो भी मनुष्य बहुत सुखी हो सकेगा। और सच पूछा जाय तो अति-ग्रह से कुछ अधिक हिस्सा मिलता है पर उसके पीछे जो संघर्ष आदि हो जाता है उस संघर्ष में वह अधिक हिस्सा ब्याज दरब्याज सहित नष्ट होजाता है।

हर एक बुराई के मूल में मोह और अभिमान होता है। अतिसंग्रह के मूल में भी येही हैं। पर कैसे निरर्थक हैं ये! इसका मनुष्य विचार नहीं करता है। अपने कुटुम्बियों आदि का पालन पोषण करना एक बात है पर उन्हें अयोग्य और आलसी बनाने के लिये उनका नैतिक पतन करने के लिये अतिसंग्रह करना अनुचित है।

दूसरा कारण है अभिमान। पर अभिमान से क्या हम बड़प्पन पाते हैं? घृणा और वैर के सिवाय हमें

क्या मिलता है ? इस प्रकार मोह और अभिमान निःसार हैं।

रह गया यह कि हम अतिसंग्रह करके आराम करें सो पहिली बात तो यह है कि आराम करने के लिये हमें खर्च ही करना पड़ेगा, संग्रह करने से काम न चलेगा पर दूसरी बात यह है कि मिहनत करने पर भी जरूरी आराम तो मिल ही सकता है दिनभर मजदूरी करनेवाला मजदूर रात भर जो आराम कर सकता है वैसा आराम आरामतलबों को कहाँ मिलता है, उनकी तो बीमारी सारा आराम खा जाती है। प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि इस शरीर को व्यवस्थित और नीरोग रखने के लिये कुछ न कुछ श्रम लेना ज़रूरी है। इसीलिये अतिसंग्रहियों को नाना तरह के व्यायाम करना पड़ते हैं इसके लिये भी पैसा खर्च करना पड़ता है। इसकी अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि ऐसी मजदूरी की जाय जिससे कुछ कमाई हो। और जब कमाई कराने वाली मजदूरी हमें और हमारी सन्तान को जरूरी है तब अतिसंग्रह किसलिये ? इस प्रकार विचार करने से पता लगेगा कि झूठे अभिमान के सिवाय अतिसंग्रह का और कोई कारण नहीं है। पर यह अभिमान भी निःसार है।

अतिसंग्रह यद्यपि उपपाप है पर यह अनेक पापों का बीज है इसलिये अतिसंग्रह का त्याग करना चाहिये और अतिसंग्रह को गौरव की दृष्टि से न देखना चाहिये।

निरतिभोग

अतिभोग का त्याग करना निरतिभोग है। दुर्भोग में तो हम जिस चीज़ का उपयोग करते हैं वह चीज ही अनुचित होती है पर अतिभोग में वह चीज़ अनुचित नहीं होती सिर्फ उसकी मात्रा का विचार न रहने से वह अनुचित हो जाती है। उदाहरण के लिये, दाम्पत्य जीवन में खराबी नहीं है पर अगर इसमें रतिकर्म का इतना उपयोग किया जाय कि स्वास्थ्य खराब हो जाय, तो यह अतिभोग है। इसी तरह खान पान की बात है। ऐसी विलासिता, जिससे मनुष्य अपने आवश्यक कर्तव्य पूरे न कर सके, स्वाद-लोलुपता से ऋणग्रस्त हो जाय आदि अतिभोग हैं। नाच-गान में ज्यादा समय लगाना, नाटक, सिनेमा अधिक देखना भी अतिभोग है।

किसको अतिभोग कहा जाय किसको न कहा जाय इसका विचार बिना अपेक्षा के नहीं हो सकता। एक के लिये जो अतिभोग है दूसरे के लिये वही निरतिभोग भी हो सकता है। इसलिये इस विषय में कुछ सूचनाएँ ही दी जा सकती हैं जिनके अनुसार अपनी अपनी योग्यता और परिस्थिति के अनुसार अतिभोग और निरतिभोग का विचार किया जा सके।

१—जो भोग शरीर-स्थिति के लिये अनिवार्य न हो फिर भी विषय-लोलुपता के कारण ऋण लेकर भी उसका उपयोग किया जाय तो यह अतिभोग है।

ऋण लेकर विवाह आदिमें अधिक खर्च करना आदि भी इस सूचना के अनुसार अतिभोग हैं।

२—इतनी अधिक चीजों का उपभोग करना कि उसी में बहुतसा समय शक्ति और धन लग जाय, किसी के यहां अतिथि बन कर जायँ तो अतिथि-सत्कार के साधन जुटाते जुटाते वह परेशान हो जाय, इत्यादि अतिभोग हैं।

प्रश्न—क्या अतिभोग के त्याग के लिये हर एक मनुष्य यह प्रतिज्ञा लेले कि मैं सिर्फ अमुक

अमुक चीजें ही खाऊंगा या सिर्फ़ अमुक चीजों का ही उपयोग करूंगा, अथवा यह प्रतिज्ञा लेले कि अमुक अमुक चीजें न खाऊंगा ! इस प्रकार की प्रतिज्ञाएँ लेने से इतना लाभ अवश्य होगा कि उसका ध्यान बहुत चीजों में न जायगा किसी को उसके लिये विशेष आयोजन भी न करना पड़ेगा।

उत्तर—इस प्रकार की प्रतिज्ञाएँ व्यर्थ हैं। त्याग सिर्फ़ उन्हीं चीज़ों का करना चाहिये जो दुर्भोग हैं, या अस्वास्थ्यकर हैं या अत्यन्त अरुचिकर हैं। बाक़ी दूसरी चीज़ों के खाने न खाने की प्रतिज्ञा करने से बहुत आरम्भ बढ़ता है, लोगों की परेशानी बढ़ती है। जो चीज़ तुम नहीं खाते वही घर में है इसलिये दूसरी चीज को ढूँढने, लाने, बनाने में बहुत कष्ट होता है और हानि होती है। इसलिये सब से अच्छी बात यह है कि मौके पर जो मिल जाय वही ले लीजाय दुर्भोग, अस्वास्थ्यकर, अरुचिकर की बात दूसरी है।

३--इतना भोग किया जाय कि जीवन निर्वाह के बदले में उचित सेवा भी न दी जा सके। जैसे बहुत से लोग रागरंग में समय बिताते रहते हैं बैठे बैठे पुरुखों की कमाई खाते हैं या दूसरों के भरोसे गुज़र करते हैं।

४–ऐसा भोग करना कि अस्वाभाविक रूपमें स्वास्थ्य ख़राब हो जाय। साधारणतः मनुष्य कभी कभी अस्वस्थ होजाया करता है वह बात दूसरी है पर अमुक चीज़ अतिपरिणाम में खाने से मनुष्य निश्चित बीमार पड़ते हैं पर व्यसन होने से नहीं छोड़ सकते। ऐसी चीज़ों का त्याग करना चाहिये।

इन सूचनाओं से अतिभोग समझा जासकेगा और उसके त्याग से निरतिभोगका पालन हो जायगा।

निरतिभोग अपनी ऐहिक भलाई के लिये भी आवश्यक है साथ ही इसमें दूसरों की भी रक्षा होती है। निरतिभोग से जो चीज़ बचेगी वह दूसरों के काम में आयगी। समाज में ऐसे बहुत से प्राणी हैं जो अपना हिस्सा नहीं पा पाते निरतिभोग से हम उनके लिये कुछ हिस्सा छोड़ते हैं इसलिये निरतिभोग को उपसंयम कहा है।

संयम का तो मनुष्य को पालन करना ही चाहिये पर इन उपसंयमों पर भी उपेक्षा न करना चाहिये। इनके बिना स्वपरकल्याण काफ़ी अधूरा रहेगा। कभी कभी सामाजिक दृष्टि से कोई कोई उपसंयम संयम के समान जरूरी हो जाता है संयम के समान उसका महत्व बढ़ जाता है, संयम के भंग से उसका भंग अधिक दुष्फल पैदा करता है। उँगलियों के कट जाने पर जैसे हाथ पैर का उपयोग बहुत कम रह जाता है उसी प्रकार उपसंयम के नष्ट होने पर संयम का उपयोग भी कम हो जाता है, इसलिये उपसंयम प्राप्त करने के लिए भी अधिक से अधिक कोशिश करना चाहिये।

आचार कांड (पांचवाँ अध्याय)

[विशेष साधना--तप]

भगवती अहिंसा का स्वरूप, उसकी साधना उसके अंग और उपांगों का वर्णन कर देने पर आचार के विषय में काफ़ी ज्ञान हो जाता है। फिर भी एक बात ऐसी है जिसकी ज़रूरत हर तरह की उन्नति में पड़ती है, वह है तप। **स्वपरकल्याण के लिये जो विशेष साधना की जाती है वह तप है।** तप के द्वारा पाप का असर दूर किया जाता है और पुण्य पैदा किया जाता है। तप भगवती की विशेष साधना है।

यों तो दूसरों का अकल्याण करने के लिये या दूसरों के अकल्याण की पर्वाह न करके अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये भी तप किया जाता है और वह अमुक अंश में सफल भी होता है परन्तु यह कुतप है क्योंकि इसमें भगवती अहिंसा का आशीर्वाद नहीं है।

एक चोर को चोरी करने में कितना तप करना पड़ता है। वह जगता है सँम्भल सँम्भल कर पैर उठाता है सतर्कता और श्रम दोनों से काम लेता है। तपस्वी की बहुत सी बातें चोर में पाई जातीं हैं फिर भी वह तपस्वी नहीं है क्योंकि उसके कार्य में भगवती अहिंसा का आशीर्वाद नहीं है, वह विश्वकल्याण के अनुरूप नहीं है। जो विशेष साधना विश्वकल्याण के अनुकूल न हो वह बाहर से तप सरीखी भले ही मालूम हो पर वह कुतप है।

तप पांच तरह के हैं १--ज्ञानचर्या २--प्रायश्चित्त ३-विनय ४--परिचर्या ५--परिषह।

धर्म के दो अंग हैं, दृष्टि और आचार। सरल शब्दों में कहा जाय तो, समझना और पालन करना। इन दोनों अंगों में तप की आवश्यकता है। इन पांच प्रकार के तपों की दोनों अंगों में उपयोगिता है।

तप के विषय में उपयोगिता या सार्थकता का अवश्य ख़याल रखना चाहिये। परिषह के नाम पर व्यर्थ ही अपने गालों पर तमाचा मारने लगना और सोचना कि हम बड़े तपस्वी हैं मूर्खता है।

यह हो सकता है कि किसी कारण वश किसी का तप सफल न हो पावे या उसकी सफलता वह न देख सके पर सफलता के मार्ग में तप अवश्य होना चाहिये। कुछ अन्य कारणों से सफलता न हो तो बात दूसरी है। जैसे म. ईसा के तप का फल उनके जीवन में दिखाई

नहीं दिया फिर भी वह तप था क्योंकि वह सफलता के मार्ग में था।

१—ज्ञानचर्या

सत्य प्राप्ति के लिये यह परम उपयोगी है। ज्ञानचर्या में मन को वश में रखने की, उसे एक तरफ़ लगाने की बहुत जरूरत होती है। मन को परिश्रम भी काफ़ी करना पड़ता है। ज्ञान-प्राप्ति से दूसरों को भी ज्ञान पहुँचाया जाता है और अपना विकास होता है, इस तरह ज्ञान-चर्या स्वपर-कल्याण के लिये उपयोगी है।

ज्ञानचर्या जहां स्वपर कल्याणकारी है वहीं वह तप कही जासकती है। अगर विश्वहितकी उपेक्षा करके स्वार्थ के लिये है तो तप नहीं है अगर दूसरों के अकल्याण के लिये है तब तो कुतप है, पाप है।

ज्ञान से सुख भी है और दुख भी है। 'जब से मनुष्य ने ज्ञानवृक्ष का फल खाया तब से वह दुखी हो गया, ईश्वरीय राज्य से वह अलग हो गया, इसप्रकार का वर्णन जो यहूदी ईसाई आदि के ग्रन्थों में मिलता है उसका मतलब यही है कि **जिस ज्ञान को मनुष्य पचा नहीं सकता उससे उसके दुःख ही बढ़ते हैं।** इसलिये ज्ञान को पचाना चाहिये, उसे असंयम का कारण न बनाना चाहिये।

ज्ञान चर्या के आठ भेद हैं। १ सुनना [श्रवण] २ पूछना, (पृच्छा) ३ पढ़ना (पठन) ४ विस्तारणा ५ विचारणा (चिन्तन) ६ आत्मनिरीक्षण, ७ निर्माण, ८ उपदेश।

१ सुनना—साधारणतः ज्ञानप्राप्ति का पहिला द्वार यही है। मनुष्य समाज से बहुत कुछ सीखता है। दूसरा से सीखने का मुख्य द्वार है भाषा, और भाषा का उपयोग प्रायः सुनने बोलने से होता है। इसलिये सुनना पहिली ज्ञान-चर्या है। व्याख्यान सुनना, शास्त्र सुनना आदि भी तप हैं, इस से मनुष्य काफ़ी ज्ञान बढ़ा सकता है।

प्रायः हर एक आदमी को यह तप करना चाहिये। जो पढ़ लिख नहीं सकते उनके लिये तो यह उपयोगी है ही, साथ ही और सब के लिये भी उपयोगी है।

हां, समय बिताने के लिये किसी भी तरह की गपशप सुनना तप नहीं है। यह तो एक तरह का काम है जो उचित हो तो अच्छा है अनुचित हो तो पाप है द्वेष अहंकार वश दूसरों की निन्दा सुनना आदि पाप ही है।

२—पूछना—जानने की इच्छा से किसी से पूछना भी ज्ञानचर्या नाम का तप है इससे भी ज्ञान बढ़ता है। इस तप के लिये निःपक्षता और जिज्ञासा जरूरी है। परीक्षा लेने के लिये पूछना पृच्छा (पूछना) नामका तप नहीं है। वादविवाद करने के लिये पूछना भी पृच्छा नाम का तप नहीं है।

प्रश्न—अध्यापक विद्यार्थी को प्रश्नपत्र देता है जाँचता है इससे विद्यार्थी को लाभ होता है। अध्यापक को इसमें काफ़ी श्रम करना पड़ता है क्या अध्यापक की इस मिहनत को तप न कहा जाय?

उत्तर—अवश्य कहा जाय, पर यह पृच्छा नाम का तप नहीं है किन्तु पूछना भी पढ़ाने का एक अंग है इसलिये इसे विस्तारणा नाम का तप कहा जायगा।

सुनना बहुत साधारण है, पर पूछने का बहुत महत्व है। जिसे पूछना नहीं आया समझ लो अभी उसे ज्ञान मिला नहीं है। पूछने से पता लगता है कि इसने किसी चीज को समझा है या समझने की अच्छी कोशिश कर रहा है।

३--पढ़ना--ज्ञान प्राप्ति के लिये पढ़ना अर्थात् अक्षर या वर्ण मूर्ति के द्वारा दूसरे के विचार जानना और उनसे लाभ उठाना पठन तप है। श्रवण तप के समान यह भी तप है पर सिर्फ दिल बहलाने के लिये कथा साहित्य लेकर बैठ जाना तप नहीं है। यह काम है जोकि सुनने के समान पुण्य भी हो सकता है और पाप भी।

यों कथा साहित्य का पढ़ना कुछ बुरा नहीं है उससे भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है, जीवन के अन्य कर्तव्यों को पूरा करने के बाद कथा-साहित्य पढ़ना भी समय का सदुपयोग है और उससे कुछ सीखा जाय सीखने के उद्देश्य से पढ़ा जाय तो यह तप भी है।

४--विस्तारण--ज्ञान का विस्तार करना विस्तारण तप है, कोई बात पढ़कर सुनाना, लिख कर फैलना आदि विस्तारण तप है। महात्माओं के उपदेशों का संग्रह करना आदि भी विस्तारण तप है। सिर्फ आजीविका के लिये काम किये जायँ तो तप नहीं हैं पर लोकहित की मुख्यता से किये जायँ तो तप हैं।

हां, विस्तारण निरर्थक हो, नाम के लिये पिष्ट-पेषण आदि करके कागज काला किया गया हो तो यह विस्तारण तप नहीं है।

५--विचारणा--चिन्तन करना, पाये हुए ज्ञान का अनुभव और तर्क के द्वारा परीक्षण करना आदि भी तप है। इसके द्वारा ज्ञान अन्तर्मुख होता है। चिन्तन के द्वारा ज्ञान अपनी चीज़ बन जाता है। चिन्तन के बिना मनुष्य एक तरह की पुस्तक बन कर रह जाता है।

६--आत्मनिरीक्षण--पाये हुए ज्ञान के आधार पर अपने को देखना, निष्पक्षता से अपने गुण दोषों का विचार करना आत्मनिरीक्षण है। भगवती अहिंसा की साधना के लिये आत्मनिरीक्षण न किया जाय तब तक आत्मकल्याण की दृष्टि से ज्ञान निरर्थक ही है।

७--निर्माण--आत्मनिरीक्षण के बाद जो जगहित के लिये ग्रंथरचना आदि की जाती है वह निर्माण तप है। यद्यपि ग्रंथनिर्माण आत्म-निरीक्षण के पहिले भी होता है पर वास्तव में वह निर्माण नहीं है। वह तो इधर उधर का संग्रह है, वह उसकी चीज़ नहीं है जिससे वह निर्माण कहा जा सके। हां, वह निरर्थक नहीं है समाज के लिये उसका भी उपयोग हो सकता है पर उसे निर्माण न कहेंगे, विस्तारण कहेंगे। ऐसे भी लेखक होते हैं तो बड़े बड़े पोथे लिख जाते हैं, दूसरे के विचार या दूसरी पुस्तकों का सार संग्रह करते हैं वे अगर यह कार्य जनहित की मुख्यता से करें तो उनका यह काम विस्तारण तप होगा। जनहित की मुख्यता न हो तो सिर्फ विस्तारण होगा तप न होगा। वास्तविक निर्माण आत्मनिरीक्षण के बाद ही होता है।

८--उपदेश--अपने अनुभव और आत्मशुद्धि के आधार पर जगत को सन्मार्ग पर चलाने के लिये प्रेरणा करना उपदेश है। यह लिख कर या बोलकर दिया जाता है। मुख्यता बोलने की है।

उपदेश और व्याख्यान में अन्तर है। व्याख्यान में तो इधर उधर की बातों को लेकर व्याख्या

टीका आदि की जाती है। व्याख्यान एक तरह का विस्तारण ही है। पर उपदेश का मूल्य अधिक है। उपदेश आत्मनिरीक्षण के बाद की चीज़ है। उपदेश में वास्तविक दिशा दिखा कर जीवन की दिशा बदलने की कोशिश की जाती है। यह कार्य उसी के लायक है जो उस दिशा में खुद चला हो। व्यवहार में व्याख्यान और उपदेश में भेद नहीं माना जाता, पर ये दोनों बातें जुदी जुदी हैं और इनके मूल्य में भी अन्तर है। लोकहित के लिये उपदेश देना महान तप है। नाम के लिये धंदे के लिये व्याख्यान देना तप नहीं है। हां, वह एक धंधा हो सकता है और यह धंधा तब तक निन्दनीय नहीं है जब तक कोई मनुष्य सत्य की अवहेलना न करे।

इस आठ प्रकार की ज्ञानचर्या से भगवान सत्य और भगवती अहिंसा की उपासना और साधना होती है। ज्ञानचर्या से कालमोह स्थलमोह आदि मोह मर जाते हैं, आत्मनिरीक्षण से अपने असंयम का पता लगता है इसलिये असंयम को दूर करने की चेष्टा होती है, विस्तारण निर्माण उपदेश आदि से दूसरों की उन्नति भी की जाती है। इसलिये ज्ञानचर्या स्वपरकल्याणकारी है। सब तपों का मूल होने से यह पहिला तप है।

प्रायश्चित्त को दूसरे शब्द में हम भूल सुधार कह सकते हैं। अपनी भूल सुधार लेना और उस भूल से जो बुराई पैदा हुई हो उसको यथाशक्य दूर करना प्रायश्चित्त है। इस तपस्या से मनुष्य निर्वैर होता है शुद्ध होता है। इसके चार भेद हैं--आलोचन, क्षमायाचन, प्रतिदान और परिज्ञापन।

आलोचन--स्पष्ट शब्दों में अपनी भूल स्वीकार कर लेना। इस से अपनी लघुता तो प्रगट होती है पर अपने और दूसरों के मन का मैल निकल जाता है। इससे दोनों को शान्ति मिलती है। वह भूल दूसरी बार नहीं होती। लघुता प्रगट होने से डरना न चाहिये लघु होने से डरना चाहिये। लघु हो गये तब लघुता प्रगट होने में संकोच क्या? फिर हम आलोचना करें या न करें दूसरे हमारी भूलको जान ही लेते हैं। और अवसर पड़ने पर कह ही देते हैं। अगर वे कह न सकें फिर भी उस भूलके कारण मन ही मन घृणा करते हैं, हँसते हैं, निन्दा करते हैं। आलोचना करने से घृणा निन्दा और हँसी को बहुत कम जगह रह जाती है। बहुत से लोग अपराध करते हैं और उसे समझ जाते हैं और मन ही मन पछताते हैं पर आलोचना नहीं करते, तो इस से बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं। जिसका अपराध हुआ है वह तो मन ही मन पछताने की बात को जानता नहीं है आलोचना के अभाव में वह तो उन्हें अपराधी समझता ही रहता है और समझता है उन्हें घमंडी, लापर्वाह और हिंसक। इस प्रकार वैर बढ़ता ही जाता है। आलोचना में जितनी देर होती है वैर की अग्नि हृदय में उतनी अधिक बढ़ती जाती है तथा स्थायी होती जाती है। इसलिये आलोचना शीघ्र स्पष्ट और निश्छल हृदय से करना चाहिये।

क्षमायाचन--यह आलोचन से भी अधिक शक्तिशाली प्रायश्चित्त है। साधारण सी भूलोंके सुधार में आलोचन काम कर जाता है, पर जब भूल कुछ विशेष मात्रामें होती है तब तक इसके लिये क्षमायाचन करना -[माफी मांगना]-आव-

श्यक है ।

बहुत से लोग वर्ष में एक दिन साल भर के अपराधों की माफ़ी मांग लेते है, कीटपतंगों के नाम ले लेकर उनसे भी माफ़ी मांग लेते हैं और इसी में समझ लेते हैं कि जिसका अपराध किया है उनसे भी माफ़ी मांग ली गई । परन्तु यह आत्मवंचना है । ज़मीन के जिस भाग में तेल और कीट जमी हुई है उस जगह एकबार फूल-झाड़ू फेर देने से सफ़ाई नहीं होती, उसी प्रकार जिस जगह द्वेष और अपराध जमा हुआ है उस जगह सामूहिक प्रार्थना के साधारण शब्दोंसे सफ़ाई नहीं हो सकती । उसके लिये विशेष रूप से क्षमायाचना करने की आवश्यकता है । हमारे हृदय में वैर की वासना लंबे समय तक न रहे इसलिये वर्ष में एक दिन मिलकर क्षमायाचना करना अच्छा है परन्तु अगर मनका मैल न गया हो, हमने अपने अपराधों पर निःपक्ष विचार न किया हो, हम उस अपराध की आलोचना करने को तैयार न हों तो क्षमायाचना महत्व-हीन हो जायगी, सम्भवतः निष्फल जायगी ।

सांवत्सरिक क्षमापना का सम्मेलन उन लोगों के लिये विशेष उपयोगी है जो यह सोचते हैं कि हम अमुक व्यक्ति से कैसे मिलें, किस बहाने से उसके घर जावें और वहां जाकर किस बहाने से उनसे बात करें । वे क्षमापणा—सम्मेलन के निमित्त से यह कार्य कर सकते हैं । परन्तु आखिर सम्मेलन निमित्त मात्र है, असली चीज़ तो अपनी निर्वैर वृत्ति और आत्मशुद्धि की सद्-भावना है । वह हो तो निमित्त सफल हो सकता है ।

अगर हममें झूठा अहंकार न हो तो क्षमापणा में चाल चलने की कोई आवश्यकता नहीं रहती । हम प्रसन्नचित से उसके घर चले जायँ, अपनी भूल स्वीकार करलें माफ़ी मांग लें । हम देखेंगे कि इससे हमारा गौरव बढ़ गया है, उसके हृदय का वैर निकल गया है, प्रेम बढ़ गया है और आगे होनेवाले अनेक अनर्थ रुक गये हैं ।

किसी भी गृहस्थ को एक वर्ष से अधिक वैर रखना ही न चाहिये और जो साधु है उसके मन में तो इनेगिने दिन से अधिक वैर की वासना न रहना चाहिये । किसकी वैर वासना कितनी लंबी है इसीसे उसके संयम की परीक्षा करने का भी बहुत अच्छा तरीका है ।

जीवन मे जो बड़े बड़े अनर्थ होते हैं उनमें से आधे अनर्थों का कारण अहंकार है । लोगों को भ्रम हो जाता है कि अहंकार से गौरव मिलता है पर वास्तव में अहंकार से निन्दा और घृणा ही मिलती है । अहंकार अगर छूट जाय तो हम व्यर्थ का वैर लेकर जीवन को दुःखी न करें, न दूसरों के दुःख के कारण बनें । क्षमा-याचना उस समय बहुत सरल हो जाय ।

कभी कभी सामूहिक अपराध होते हैं और उनकी आलोचना और क्षमायाचना भी सामूहिक दृष्टि से होना चाहिये । एक ही देश में दो जातियां बसती हैं, उनमें एक जाति के कुछ मनुष्य दूसरी जाति के मनुष्यों का अपमान करते हैं या सताते हैं, ऐसे समय में जातीयता का मोह छोड़ कर अगर कुछ ज़िम्मेदार व्यक्ति आलोचना और क्षमायाचना करें तो दो जातियों के वैर की इति-श्री हो जाय । पर यहां भी जातीयता के नाम पर अहंकार आड़े आ जाता है और बड़े से बड़े अनर्थ को पैदा करता है या जीवित रखता है । अगर जगह २ ऐसे दल या संघ बन जावें जो और कुछ न करें प निःपक्षता से अपनी जाति

के लोगों के द्वारा किये गये अपराधों की आलोचना और क्षमायाचना करते जायँ तो सामूहिक वैर नामशेष हो जाय । यह कार्य भी एक बड़ी भारी तपस्या है । और उसका फल भी मानव समाज में सामूहिक मैत्री है । मैत्री से बढ़कर और वरदान क्या हो सकता है ।

प्रतिदान—प्रायश्चित्त का मुख्य उद्देश्य स्वेच्छा से समीकरण है । हम जो दूसरे को नुकसान पहुँचा देते हैं उससे जो विषमता पैदा होती है उसको सम बनाने का प्रयत्न प्रायश्चित द्वारा किया जाता है । साधारण अवसरों पर आलोचना से ही वह समता पैदा हो जाती है अर्थात् क्षतिपूर्ति हो जाती है, कुछ विशेष हुआ तो क्षमायाचना करली पर इससे भी विशेष हो तो प्रतिदान करना चाहिये । किसी आदमी का अगर हमने अन्याय से धन-हरण कर लिया है तो केवल माफ़ी मांगने से काम न चलेगा । माफ़ी माँगने के साथ उसका धन वापिस करना चाहिये, प्रतिदान करना चाहिये । अगर हमने किसी की व्यर्थ निन्दा की है तो क्षमा माँगने के साथ उस निंदा का मिथ्यापन अधिक से अधिक स्थानों में घोषित करना चाहिये । अगर हमने मन्दिर या मसजिद का अपमान किया है, कुछ तोड़ फोड़ किया है तो क्षमायाचना के साथ हमें तोड़ फोड़ का जोड़-पुनर्निर्माण-करना चाहिये, भक्ति प्रगट करना चाहिये। प्रतिदान धनसे प्रशंसा से, सेवा से, और मैत्री से हो सकता है । जो उचित हो उसी से प्रतिदान करना चाहिये ।

परिज्ञापन—अपराध जब बहुत मार्मिक होता है या सामूहिक होता है तब उसके प्रतीकार को प्रभावक तथा संस्मरणीय बनाने की आवश्यकता होती है, उसके लिये उपवास आदि किये जाते हैं। इससे प्रायश्चित की सूचना बहुत फैलती है लोगों का ध्यान जाता है और उनका आत्म-निरीक्षण बढ़ता है ।

परन्तु यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि इस प्रकार के उपवास वगैरह द्वेष से न किये जायँ । 'तुम अमुक काम करो नहीं तो मैं उपवास करके मर जाऊंगा' इस प्रकार की ज़ोर ज़बर्दस्ती भी उसमें न होना चाहिये । उपवास वगैरह सीमित होना चाहिये । उसका लोगों पर यह प्रभाव पड़े कि 'अमुक आदमी जनता के अमुक दोषों से चिंतित है, वह जनता के कल्याण के लिये सर्वस्व लगाने को तैयार है ।' इस प्रकार जनता आत्मनिरीक्षण करे ।

व्यक्तिगत अपराधों का प्रायश्चित्त भी कभी कभी परिज्ञापन के रूप में होता है । जिससे जिस मनुष्य का अपराध किया गया है उसे मालूम हो कि इस मनुष्य को सचमुच में अपनी भूलका बहुत खेद है इसलिये पूर्णरूप में क्षमा करना चाहिये और प्रेम बढ़ाना चाहिये ।

लड़ाई झगड़ा होने पर क्रोध से भूखे रहना आदि परिज्ञापन तो है परन्तु परिज्ञापन-तप नहीं है । यह अत्यन्त अनर्थकर है । इससे द्वेष बढ़ता है । यह न होना चाहिये ।

प्रायश्चित्त और दंड—जो कार्य प्रायश्चित्त के लिये कहे गये हैं वे दंड के लिये भी कहे जा सकते हैं । पर दंड और प्रायश्चित्त में अन्तर है । **दंड अनिच्छा से भोगा जाता है जब कि प्रायश्चित्त स्वेच्छा से किया जाता है ।** हम प्रायश्चित्त दूसरे से माँगते हैं पर उसे शासक समझ कर नहीं, चिकित्सक समझ कर । दंड का मुख्य ध्येय बदला चुकाना है, प्रायश्चित्त का

मुख्य ध्येय आत्मशुद्धि है ।

यदि दंड पानेवाला अपने अपराध को समझे, उसके विषय में उसे खेद हो, जिसका अपराध किया है उसके दुःख में सहानुभूति तथा प्रेम हो, न्यायाधीश-पर द्वेष न हो, दंड भोगने को अपने ऊपर अत्याचार न समझता हो तो दंड भी प्रायश्चित बन जाता है । वास्तव में वह तपस्वी हो जाता है ।

जिस प्रकार दंड प्रायश्चित्त बन जाता है उसी प्रचार प्रायश्चित भी दंड बन जाता है । यदि प्रायश्चित करने में विवशता का अनुभव होता हो, प्रायश्चित्त-दाता पर द्वेष हो या उसे पक्षपाती समझता हो, जो अपराध किया उससे घृणा न हो, जिसका अपराध किया उसके विषय में सहानुभूति न हो तो प्रायश्चित्त भी दंड है ।

इस प्रकार दंड को प्रायश्चित्त और प्रायश्चित्त को दंड बना लेना मनुष्य के हाथ में है । प्रायश्चित्त तप है, दंड पशुत्व है ।

प्रश्न-दंड दाता को पक्षपाती समझनेवाले, अपने अपराध को अपराध न माननेवाले, सत्याग्रही को आप क्या कहेंगे ?

उत्तर--सत्याग्रही के सामने दंड और प्रायश्चित्त का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता । वह तो अत्याचार के सामने लड़नेवाला सैनिक है । उसका शस्त्र प्रेम है सहिष्णुता है यह बात दूसरी है, पर है वह सैनिक । दंड और प्रायश्चित्त में दोनों पक्षों का दर्जा समान नहीं होता । प्रायश्चित्त में चिकित्स्य चिकित्सक भाव है, दंड में शास्य शासक भाव है जब कि सत्याग्रह में दो सैनिकों सरीखा प्रतिद्वन्दिता का भाव है । इसलिये वहां न दंड है न प्रायश्चित्त है, वहां युद्ध है ।

युद्ध को भी हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, दंड और अत्याचार ।

यदि विजित पक्ष अपराधी है तो दंड है अगर विजयी पक्ष अपराधी है तो अत्याचार है । रामकी रावण पर विजय दंड है । रावण की स्वर्ग पर विजय अत्याचार है ।

सत्याग्रही को जो दंड के नामपर सताया जाता है वह दंड नहीं, अत्याचार है । हाँ, यहां इतना खयाल रखना चाहिये कि सत्याग्रही को सताना अत्याचार है । दुराग्रही को नहीं । जिसका आग्रह न्याय की विजय के लिये है (न्याय का अर्थ कानून नहीं है) वह सत्याग्रही है । जिसका आग्रह अहंकार-वश या लोभ-वश है वह दुराग्रह है ।

सत्याग्रही न तो दंड भोगता है न प्रायश्चित्त करता है वह तो अत्याचार को सहकर उसे पर जित करता है ।

प्रश्न—सत्याग्रह क्या तप नहीं है ?

उत्तर-वह तप है पर प्रायश्चित नाम का तप नहीं है वह सहिष्णुता नाम का तप है और त्याग नाम का तप भी है । इस प्रकार दुहरे तपों से सत्याग्रही महातपस्वी है ।

प्रायश्चित्त आत्मोन्नति और निर्वैरता की कुंजी है ।

अपनी निरभिमानता और दूसरे के व्यक्तित्व का उचित मूल्य स्वीकार करने के लिये जो व्यवहार और विचार किया जाता है वह विनय है । मनुष्य अभिमान-प्रधान प्राणी है, गरीब से गरीब से लगाकर सम्राट् तक और मनुष्यताकार जन्तु से लगाकर तीर्थंकर पैगंबर जिन बुद्ध अवतार आदि महात्माओं तक यह किसी न किसी रूपमें पाया जाता है । यह बात

दूसरा है कि सात्विक रूप प्राप्त होने पर अभिमान को आत्मगौरव कहते हैं। इस शब्द-भेद का कारण उसका फलाफल भी है। अभिमान के द्वारा दूसरे के उचित मूल्य का अपलाप किया जाता है आत्मगौरव के द्वारा अपने उचित मूल्य का दावा किया जाता है। आत्म-गौरव जब और भी उच्च श्रेणी का होता है तब उसमें अपने व्यक्तित्व के मूल्य का प्रश्न गौण हो जाता है, मुख्य बात यह हो जाती है कि अमुक गुण का अपमान न होने पावे। जैसे एक तरफ़ जन-सेवाके नाम पर सर्वस्व अर्पण करने वाला एक व्यक्ति है दूसरी तरफ़ योग्यता आदि में कम, किन्तु अमुक वेष के कारण पुजने वाला व्यक्ति है ऐसी अवस्था में जन-सेवक के द्वारा वेषधारी की जो उपेक्षा होती है उसमें जन-सेवक का अभिमान नहीं, आत्मगौरव कारण है। हां, मानव हृदय की वासनाओं के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि जहां आत्मगौरव की परिस्थिति हो वहाँ मनुष्य अहंकार को पैदा कर ले ऐसी जगह तो वह अभिमानी ही कहा जायगा। परन्तु इससे अभिमान और आत्म-गौरव का भेद लुप्त नहीं होता।

अभिमान चाहे अहंकार अर्थात् मद के रूप में हो अथवा आत्मगौरव के रूप में, दोनों के लिये विनय-तप की आवश्यकता है। अहंकार जाग्रत न हो जाय और आत्मगौरव को धक्का न लगे इसकी कुंजी विनय के हाथ में है। कौनसा आदमी कैसा है उसके साथ हमारी किस प्रकार निभेगी इसकी कसौटी विनय है। विनय से हम जगत को मित्र बना सकते हैं और अविनय से शत्रु बना सकते हैं।

परन्तु विनय और चापलूसी में अन्तर है। विनय तप है। चापलूसी पाप। जहां व्यवहार के अनुसार हृदय भी होता है वहाँ विनय है। विनय में प्रेम होता है—भक्ति होती है, वात्सल्य होता है, छलकपट और ठगने की वृत्ति नहीं होती। चापलूसी में मायाचार है, ठगने की वृत्ति है, उसमें व्यवहार और विचार एक दूसरे से मेल नहीं खाते।

दूसरों से अगर तुम कुछ लेना चाहते हो तो तुम्हें विनय तप करना ही चाहिये। विनय के बिन कदाचित् तुम दुनिया से कुछ छीन तो सकते हो पर पा नहीं सकते। उसमें जो कुछ तुम्हें मिलेगा वह कम से कम होगा और छीना झपटी के कारण टूटा होगा। अगर तुम में विनय न हो तो तुम अपने अग्रज से कुछ पा नहीं सकोगे। अग्रज अपने उत्तराधिकारी को जो सर्वस्व दे जाता है उसका प्रेरक उत्तराधिकारी का विनय है। विनयसे एक प्रकार का तादात्म्य पैदा होता है उससे अग्रज यह समझता है कि उत्तराधिकारी को जो कुछ मैंने दिया है वह अपने को ही दिया है। अगर विनय न हो तो यह भाव पैदा नहीं हो सकता।

पिता या गुरु अपने पुत्र या शिष्य को हर-तरह समुन्नत बनाते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि पुत्र या शिष्य की जितनी उन्नति होगी हमारा स्थान उतना ही ऊंचा होगा। पुत्र या शिष्य के द्वारा विनय के रूप में जब यह विचार पुष्ट होता है तब सर्वस्वार्पण के लिये गुरु या पिता का हृदय लालायित होता है। अगर उन्हें यह मालूम हो कि हमारी शक्ति लेकर यह हमारा प्रतिद्वन्दी होगा या नाम डुबाने वाला होगा तब वे कदापि उत्तराधिकारी न देंगे। मनुष्य का विकास रुक जायगा।

मनुष्य मनुष्य की तरफ़ आकर्षित हो, वह तादात्म्य अनुभव करे—प्रेम पैदा करे—इसके लिये विनय तप आवश्यक है।

प्रश्न-शिष्टाचार के नाते हमें विनय करना ही पड़ता है। राजाओं के सामने या अफ़सरों के सामने सिर झुकाना ही पड़ता है—सभी ऐसा करते हैं फिर विनय पर इतना ज़ोर क्यों दिया जाता है? उसे तप तक क्यों कहा जाता है?

उत्तर--जहां विवश होकर सिर झुकाना पड़ता है वहां विनय नहीं है। विनय में प्रेम होता है और भय नहीं होता या प्रेमजन्य सात्त्विक भय होता है, राजाओं या शासकों के सामने झुकने में प्रेम नहीं होता भय होता है और वह भय राजस या तामस होता है प्रेमजन्य नहीं होता।

भय के भेद--गुणानुराग प्रेम, भक्ति आदि से जो भय होता है वह **सात्त्विक भय है,** पाप और पापियों के संसर्ग से और घृणित वस्तुओं से दूर रहने में जो भय है वह भी **सात्त्विक भय** है। पुण्य से प्रेम और पाप से घृणा ये एक ही मनोवृत्ति के रूप हैं और दोनों ही कल्याणकारी हैं इसलिये दोनों को सात्त्विक भय कहना चाहिये। ईश्वर का भय, गुरु का भय, साधु का भय, उपकारी का भय ये सब सात्त्विक भय हैं। परन्तु इसमें जिन वस्तुओं से भय है उनके प्रति अनुराग है इसलिये इन्हें **श्लेषमय--सात्त्विक--भय** कहना चाहिये। व्यभिचार का भय, चोरी का भय, दुर्जन का भय आदि भय सात्त्विक हैं पर इसमें जिन से भय है उनसे अनुराग नहीं होता इस लिये इन्हें **विश्लेषमय--सात्त्विक--भय** कहना चाहिये।

जो भय निर्बलता या स्वार्थ-भंग की संभावना से होता है वह **राजस भय** है। राजाओं से, अधिकारियों से, श्रीमानों से प्रायः इसी तरह का भय होता है। इसे विनय-तप नहीं कह सकते।

प्रश्न--समाज सेवकों को अपने स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु समाज के स्वार्थ के लिये अधिकारियों से या श्रीमानों से डरना पड़ता है इस भय को आप सात्त्विक भय तो कह नहीं सकते क्योंकि इसमें गुणानुराग या पाप-विरक्ति नहीं है इसलिये यह राजस-भय ही कहलाया। परन्तु समाज सेवक के लिये तो यह भय और इस भय से पैदा होने वाला शिष्टाचार एक तपस्या ही है। पर आपकी दृष्टि में तो राजस-भय होने से इसे तपस्या नहीं कह सकेंगे।

उत्तर--समाज-सेवकों का यह महान तप है पर उसका नाम विनय तप नहीं है। वह तप है त्याग, वह तप है सहिष्णुता। वे समाज के कल्याण के लिये स्वेच्छा से अविनय सहन करते हैं यह उनका सहिष्णुता तप है और अपने सन्मान का त्याग करते हैं यह उनका त्याग तप है। इस प्रकार उस अवसर पर विनय तप न होने पर भी वे त्याग और सहिष्णुता के द्वारा महान तपस्वी हैं।

अज्ञानता अन्ध-विश्वास आदि से जो भय पैदा होता है वह **तामस-भय** है। भूत पिशाचों का भय इसी तरह का भय है। और भी प्रमाणहीन कल्पनाओं के द्वारा जो हम भय के साधन बना लेते है वे सब तामस भय हैं। आत्मशक्ति का ज्ञान न होने से अपने से निर्बलों का भी भय तामस भय है। इस भय से प्रेरित हो कर जो विनय प्रगट किया जाता है वह भी विनय तप नहीं है।

कभी कभी एक ही व्यक्ति के विषय में दो या तीनों भय एकत्रित हो जाते हैं। उसके गुणानुराग उपकार आदि के कारण सात्त्विक भय

होता है, उसके हाथ में हमारा स्वार्थ रहता है इसलिये राजस-भय होता है, अन्ध श्रद्धा के कारण उसके विषय में अप्रामणिक चमत्कारों की कल्पना कर लेते हैं उससे तामस भय पैदा होता है। इस प्रकार के पात्र पुराणों में बहुत मिलते हैं। इन्द्रादि के विषय में किसी किसी को तीनों भय होते थे। उसके व्यक्ति के विषय में जितने अंश में सात्विक भय है उतने ही अंश में विनय तप है। शिष्टाचार के नाते जहां झुकना पड़ता है, जहाँ गुणानुराग कृतज्ञता विश्व-बन्धुत्व नहीं है, वहां विनय तप नहीं है। विनय कहां पर तप है कहां पर नहीं है, इसकी ठीक ठीक परीक्षा तो उसके भावों से हो सकती है पर व्यवहार से भी भावों का पता लगता है।

विनय नव तरह के व्यक्तियों का किया जाता है। १ निस्तारक २ विद्या-गुरु ३ गुरुजन ४ उपकारी ५ जन सेवक, ६ अतिथि ७ बन्धुजन आश्रित ९ बहुजन।

उसके प्रकार सात हैं—१ आसन २ अंजलि ३ अनुमोदन ४ पुरःकरण ५ प्रशंसा ६ वैयावृत्य ७ सम्पर्क भक्ति। पहिले इन शब्दों का अर्थ कर देना ठीक होगा।

निस्तारक—जो आपने जीवन का पथ निर्देश करता हो उद्धारक हो, जिसके ऊपर अपना असाधारण विश्वास हो, जिसकी बात मानने में हम अपना कल्याण समझते हों वह निस्तारक है। महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महात्मागण तो विशाल जनसमुदाय के निस्तारक रहे हैं। आज भी सैकड़ों निस्तारक मौजूद हैं।

प्रश्न—निस्तारक क्या कोई आवश्यक व्यक्ति है? क्या ऐसे लोग गुरुडमके आधार नहीं हैं? क्या इन लोगो के कारण मनुष्य में बौद्धिक दासता नहीं आती?

उत्तर—प्राणी अपूर्ण है। वह पारस्परिक सहयोग से ही पूर्णता के मार्ग में आगे बढ़ा हुआ दिखाई देता है। जिसकी हममें कमी है उसके लिये हमें दूसरों का सहारा लेना पड़ता है। बीमारी में हम अपने मत को गौण करके वैद्य के मत को मुख्यता देते हैं। यह अनिवार्य है। छोटा वैद्य बड़े वैद्य के मत को मुख्यता देता है यह उचित है। न्याय के लिये हमें एक न्यायाधीश का मुँह ताकना पड़ता है। इस प्रकार हरएक व्यक्ति किसी न किसी कार्य में परमुखापेक्षी है। जीवन के पथ-निर्वाचन में या कर्तव्य-निर्णय में प्रत्येक व्यक्ति पर्याप्त मात्रा में चतुर नहीं होता। ऐसे व्यक्ति किसी योग्य व्यक्ति को निस्तारक चुन लेते हैं यह बुरी बात नहीं है। इससे उस व्यक्ति का भला तो होता ही है साथ ही किसी कार्य को करने के लिये एक संगठित शक्ति भी मिल जाती है।

हां, यह परमुखापेक्षिता इतनी मात्रा में न बढ़ जाय कि हम एक के बाद एक अनर्थों का पोषण करते चले जायँ, जो बात अनेक तरह कल्याणकारी सिद्ध हो चुकी हो, निस्तारक की अन्ध-आज्ञा में फँसे रहकर उसका विरोध करते चले जायँ। इसलिये निस्तारक के चुनाव में सावधानी रखना चाहिये। अमुक वेष के कारण किसी को निस्तारक न मान लेना चाहिये। उसका त्याग, उसकी निःस्वार्थता, उसका अनुभव, बुद्धिमत्ता, विचारकता आदि की कसौटी होना चाहिये जिसपर कसकर हम उसे निस्तारक मानें। जहां तक हम में बुद्धि है विचारकता है वहां तक हम उससे काम लें, जब हमारी बौद्धिक शक्ति

काम न दे तब हम उसका सहारा लें । इसमें गुरुडम नहीं है । गुरुडम है वहाँ, जहाँ मनुष्य वेष, पद आदि की दुहाई देकर भक्तों पर अपनी धौंस जमाना चाहे ।

२ **विद्या-गुरु**— जिसने अपने को विद्या कला आदि सिखाई हो ।

३ **गुरु-जन**—माता पिता आदि ।

४ **उपकारी**— जिसने अपना उपकार किया हो ।

५ **जन-सेवक**-समाज की सेवा करने वाला । इसमें जन-समाज के नेता आदि सभी आ जाते हैं ।

६ **अतिथि**-पाहुना, जो अपने घर आया हो ।

७ **बंधुजन**—मित्र और रिश्तेदार आदि ।

८ **आश्रित**--पुत्र, नौकर आदि ।

९ **बहुजन**--कोई भी मनुष्य जिससे अपना कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है ।

१ **आसन**--(क) **उत्थान**—आने पर या दृष्टिगत होने पर आसन छोड़कर खड़े हो जाना। निस्तारक या गुरु आदि के अपने पास आने पर अपना आसन छोड़कर खड़ा हो जाना चाहिये, अगर वहां दोनों को कुछ देर ठहर कर काम करना हो तो अच्छा आसन गुरु आदि को छोड़-कर शेष आसन पर बैठना चाहिये । (ख) **आसनरिक्तता**-पूज्य के आसन पर न बैठना । जैसे न्यायालय में न्यायाधीश ही बैठता है दूसरा नहीं, न्यायाधीश न हो तो उसका आसन खाली रहता है, इसी प्रकार कक्षा में अध्यापक या पाठक का आसन खाली रहता है उसी प्रकार पूज्य व्यक्ति का नियत आसन खाली रखना, उसकी अनुपस्थिति में भी उसके आसन का उपयोग न करना आसन विनय है । [ग] **श्रेष्ठासन**--पूज्य व्यक्ति अगर दृष्टि-पथ में हो या दृष्टिपथ में आने की सम्भावना हो तो उपर्युक्त आसनों में से श्रेष्ठ आसन उसके लिए छोड़कर किसी अन्य आसन पर बैठना । (घ) **केन्द्रीकरण**—जहां कहीं बैठने का अवसर आवे वहां इस प्रकार बैठना कि पूज्य व्यक्ति केन्द्र में मालूम पड़े । लोग देखते ही समझ जायँ कि इन में यह व्यक्ति श्रेष्ठ है । (ङ) **अवैमुख्य**-बैठते समय पूज्य व्यक्ति की तरफ़ पीठ न करना आदि। (च) **योग्यासन**-जिसके योग्य जो आसन हो उसको वही आसन देना । इस प्रकार आसन विनय के अनेक रूप हैं ।

२ **अञ्जलि**—हाथ जोड़ना, पैर छूना, साष्टांग नमस्कार करना, सिर झुकाना, सलाम करना, मुसकराना, टोप उठाना, प्रणाम, नमस्कार, जयसत्य जयराम जयकृष्ण जयजिनेन्द्र आदि शब्द बोलना, इनके उत्तर में उपयुक्त शब्द बोलना, हाथ उठाकर आशीर्वाद देना, सिर झुकाना आदि सब अञ्जलि विनय है ।

३ **अनुमोदन**—जहां सत्यासत्य के निर्णय का गम्भीर प्रसङ्ग नहीं है वहां किसी को कोई बात सुनकर 'हां, ठीक है' आदि कहकर उसकी बात का अनुमोदन करना अनुमोदन—विनय है । जिज्ञासा से पूछना बहुत अच्छा है पर अनावश्यक विरोध न होना चाहिये । अभिमानवश किसी की अच्छी बात का भी विरोध कर बैठना अविनय है । पर सुधार की दृष्टि से अपना दोष दिखाने पर भी दोष को अदोष सिद्ध करने की चेष्टा करना भी अविनय है । किसी किसी की आदत बात बात में विरोध करने की होती है यह भी अविनय है । जब सत्य की रक्षा के लिये, लोक-

कल्याण के लिये विरोध करना अनिवार्य हो जाय वहां विरोध अवश्य करना चाहिये पर जहां तक बन सके विरोध से बचना चाहिये।

४ **पुरःकरण**--चलने में, बैठने में भोजन के समय नाम लेने में या किसी ऐसे कार्य में जो सन्मानास्पद है किसी व्यक्ति को आगे करना उसका पुरःकरण विनय है। जहां जिस व्यक्ति की जैसी मुख्यता है वहां उसको वैसा ही पुरःकरण करना उचित है। साथ ही अन्य दृष्टियों से भी उसके व्यक्तित्व का विचार रखना ज़रूरी है। इस पुरःकरण का भी मानव-हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यों तो हर एक प्रकार के विनय का मानव-हृदय पर प्रभाव पड़ता है पर पुरःकरण का खास स्थान है। बहुत से लोग ग्रूप बनाकर फ़ोटो उतरवाते हैं। इस अवसर पर त्यागी महात्माओं के मन भी डोल जाते हैं। अयोग्य व्यक्ति चञ्चलता और अविनय के कारण जब उन्हें हटाकर अपना पुरःकरण कर लेता है तब उन महात्माओं का मुख हँसता रह कर भी मन खिन्न हो जाता है। इसलिये ऐसे ग्रूपों में वे शामिल नहीं होते, इसे उनका अभिमान भी नहीं कह सकते यह आत्मगौरव का भान है। पुरःकरण में अनुचित लाभ उठाकर हम योग्य व्यक्तियों की कृपा से वञ्चित रहने का मार्ग सरल बनाते हैं। इसका कुछ न कुछ फल हमें भोगना ही पड़ता है। हमारा नाम पहिले छपे अच्छी जगह छपे, हमारी चीज़ अच्छी जगह रक्खी जाय इन सब मनोवृत्तियों में पुरःकरण नामक विनय का भंग होता है। इस विषय में अपने औचित्यानौचित्य का विचार करना ही आवश्यक है। इस विवेक के साथ जितना पुरःकरण आवश्यक हो करना चाहिये। पर यह हमारी है या ये हम हैं इस दृष्टि से जो पुरःकरण होगा उसमें अविनय होगा।

इस प्रकार के पक्षपाती पुरःकरण से विशेष लाभ नहीं होता पर हानि अधिक होती है। अनुचित या पक्षपातपूर्ण पुरःकरण से अपने को आदर के बदले घृणा, हँसी और ईर्ष्या ही अधिक मिलती है।

५ **प्रशंसा**-किसी स्वार्थवश नहीं किन्तु गुणानुरागसे प्रशंसा करना भी एक प्रकारका विनय है।

६ **वैयावृत्य**-अनेक तरह से परिचर्या करके भी विनय प्रगट होता है। पगचंपी करना, आसन बिछादेना, आवश्यक वस्तु प्रस्तुत करना, और भी अनेक तरह से आराम पहुँचाने के कार्य करना विनय है।!

प्रश्न-परिचर्या को तो आपने स्वतंत्र तप कहा है फिर उसको विनय तप में शामिल क्यों किया जाता है

उत्तर- परिचर्या के द्वारा हम दूसरों को आराम पहुँचाते हैं और विनय के द्वारा नम्रता प्रगट करते हैं। जहां आराम पहुँचाने की मुख्यता है वहां परिचर्या स्वतन्त्र तप है जहां नम्रता प्रगट करने की मुख्यता है वहां विनय में शामिल है। है। जहां दोनों ही समान है वहाँ दोनों ही तप हैं।

ऐसे बहुत से अवसर आते हैं कि जहां सेवा गौण और विनय मुख्य हो जाता है। एक पुत्र अपने माता पिता की प्रतिदिन रात्रि को पगचंपी करता है, एक मिनिट को ही क्यों न किया जाय पर प्रतिदिन करता है, पैरों के लिये उसकी आवश्यकता का अनुभव हो या न हो तो यह विनय तप कहलायगा। बहुत से स्थानों पर विनय मुख्य नहीं होता वैयावृत्य मुख्य होता है। कोई बाप बेटे की बीमारी में उसकी पगचंपी

करता है तो वहां वैयावृत्य ही मुख्य है। इस प्रकार वैयावृत्य स्वतंत्र तप भी है और विनयका अंग भी। आदर और भक्ति के प्रदर्शन के लिये जो सेवा की जाती है वह विनय है।

संपर्क-भक्ति—मनुष्य जब अधिक विनय करना चाहता है तब उसके सम्पर्क में आये हुये पदार्थों का भी वह विनय करने लगता है। उसका जूता उसका कपड़ा उसका कोई शस्त्रादि उपकरण या उसका चित्र आदि का सन्मान करने लगता है। सम्पर्क में आये हुये पदार्थों में या चित्रादि में उस व्यक्ति की स्थापना का भाव होना विनय का अधिक मात्रा में प्रगट होना है।

इस प्रकार सात प्रकार का विनय नव प्रकार के व्यक्तियों का किये जाने पर विनय तप के त्रेसठ ७×९=६३ भेद हो जाते हैं।

प्रश्न—क्या नौकर चाकर आदि का भी विनय करना चाहिये। क्या उसके भी हाथ जोड़े जायँ? नौकर की, सन्तान की और शिष्य की भी क्या सम्पर्क-भक्ति करना चाहिये?

उत्तर—अवश्य, परन्तु उसके रूपमें अन्तर होगा। निस्तारक के विषय में आसन-विनय का जो रूप है वही आश्रित के विषय में नहीं हो सकता। उसके विषय में तो किसी आसन की तरफ़ इशारा कर देना ही काफ़ी होगा। हम स्वयं पहिले हाथ न जोड़ें परन्तु जब वह हाथ जोड़े तब हाथ जोड़ कर या सिर हिलाकर हमें उसका विनय करना चाहिये। इसी प्रकार योग्यतानुसार उसके चित्रादि का भी विनय किया जा सकता है। व्यक्तित्व आदि की दृष्टि से हर तरह के व्यक्ति का हर तरह विनय किया जा सकता है। इस प्रकार विनय के त्रेसठ भेद ठीक हैं।

जहां विनय तप है वहां शिष्टाचार आ ही जाता है। शिष्टाचार विनय तप से भिन्न नहीं है बल्कि वह विनय का शरीर है।

बहुत से लोग अपने अविनय या अहंकार को छिपाने के लिये कहने लगते हैं कि हम किसी तरह का मायाचार नहीं करते, जैसा मन में होता है वैसा व्यवहार करते हैं, चापलूसी पसन्द नहीं करते, आदि।

चापलूसी बुरी है, मायाचार बुरा है, जैसा मनमें हो वैसा व्यवहार करना चाहिये पर साथ ही यह भी उचित है कि मन में शिष्टाचार के अनुरूप भाव आना चाहिये। मनको वश में करना चाहिये। यही तो विनय तप है।

अगर थोड़ी देर को यह भी मान लिया जाय कि मन वश में नहीं है तो भी उसे इतने वश में अवश्य रक्खो कि उसकी उच्छृंखल वृत्तियाँ व्यवहार पर असर न डाल सकें या कम से कम असर डाल सकें। धोखा देने के लिये नहीं, लेकिन दूसरे के व्यक्तित्व का सन्मान करने के लिये शिष्टाचार का पालन अवश्य करना चाहिये। यह विनय तप का एक अंग या साधन है।

प्रेम, सहयोग, संगठन, विश्वास, अनमूल्यत्व, गुणादि प्राप्ति, व्यक्तित्व-निर्माण और उससे होने वाले अनेक लाभ इन सब की दृष्टि से विनय तप एक आवश्यक, महान और फलद तप है।

४ परिचर्या

दूसरों को आराम पहुँचाने के लिये जो सेवा की जाती है उसे परिचर्या कहते हैं। बाल्यावस्था की असमर्थता, रोग, थकावट, कार्य का अधिक भार, बुढ़ापा आदि कारणों से मनुष्य को परिचर्या कराने की ज़रूरत होती है। एक दूसरे की परि-

चर्या से मनुष्य का सामाजिक जीवन टिका हुआ है और इससे मनुष्य का विकास भी हुआ है। मनुष्य की बाल्यावस्था मातापिता आदि से परिचर्या पाकर ही कटती है और वह जवान होता है इसलिये समर्थ होने पर मातापिता की परिचर्या करना उसका कर्तव्य है। इसी प्रकार रोगी आदि की परिचर्या करना भी ज़रूरी है। गुरुजनों की परिचर्या उसकी ज़रूरत की नज़र से तो करना ही चाहिये पर विनय की दृष्टि से भी करना चाहिये।

मनुष्य को अपनाने के लिये, उस पर प्रेम विजय पाने के लिये, परिचर्या एक बड़ा से बड़ा साधन है।

परिचर्या पैसे आदि स्वार्थ के लिये भी की जाती है पर वह तप नहीं है, वह एक तरह का लेन देन है धंधा है। वह भी कुछ बुरा नहीं है, समाज के लिये जरूरी भी है पर तप नहीं है। तप तो अपनी इच्छा से और लेन देन का विचार किये बिना सिर्फ़ कर्तव्य समझ कर किया जाता है।

परिचर्या में गहरा स्वार्थ भी हो सकता है मोह भी हो सकता है, ऐसी हालत में भी वह तप न कहलायगी। दुनिया भी उसे तप नहीं समझती। कदाचित् वह इस बातको कह न सके पर मन में समझती है, इसी प्रकार व्यवहार भी करती है।

स्वार्थवश परिचर्या तप नहीं हैं किन्तु कृतज्ञतावश परिचर्या करना तप है, कृतज्ञता विवशता का परिणाम नहीं किन्तु संयम का परिणाम है।

निःस्वार्थ परिचर्या से मनुष्य के बड़े बड़े स्वार्थ पूरे हो सकते हैं, परिचर्या से ही हम किसी के प्रेमपात्र और उत्तराधिकारी तक बन सकते हैं। मां बाप को सन्तान की आवश्यकता, गुरु को शिष्य की आवश्यकता मनुष्य को मित्र की आवश्यकता जिन कारणों से होती है उनमें परिचर्या मुख्य है। परिचर्या के काम में अनुत्तीर्ण होने पर दूसरों की कृपा से वञ्चित रह जाना पड़ता है और परिचर्या के कार्य में उत्तीर्ण होने पर बड़ी से बड़ी कृपाएँ सुलभ हो जाती हैं।

हां, परिचर्या एक बात है और परिचर्या का शिष्टाचार दूसरी बात है। शिष्टाचार तप नहीं है। हां, इसका भी मूल्य है, पर मूल्य है, अमूल्य नहीं है। परिचर्या तप अमूल्य है। परिचर्या के शिष्टाचार का फल हिसाब से मिलेगा पर परिचर्या तप का फल बेहिसाब होगा।

इसी प्रकार भय से, संकोच से, स्वार्थ से, जो परिचर्या की जाय उसका मूल्य भी बहुत थोड़ा है। इससे कौटुम्बिकता पैदा नहीं होती हिसाब से थोड़ा सा मूल्य मिल जाता है।

परिचर्या का इतना गहरा और व्यापक स्थान है कि सेवा शब्द से साधारणतः परिचर्या ही समझी जाती है। सेवा के यों अनेक रूप हैं पर परिचर्या की मुख्यता होने से इसे ही लोग सेवा कहने लगे हैं। परिचर्या का भलाई या सुख के साथ सब से निकट का सम्बन्ध है।

५ परिषह

स्वपरकल्याण के लिये अर्थात विश्व-कल्याण के लिये भूखप्यास आदि प्राकृतिक और ताड़न आदि प्राणिकृत कष्टों का सहन करना परिग्रह तप है। भूख (अनशन या अल्पाहार), प्यास रसत्याग, अल्पवस्त्र, इंद्रियों के सुन्दर विषयों का त्याग, इष्टवियोग, अनिष्टसहवास, अपमान, परिताड़न (मारपीट), अतिश्रम, बन्धन (कैद) आदि सैकड़ों परिषह तप हैं। कुछ तो अपनी इच्छा से किये जाते हैं उन्हें त्याग कहते हैं, कुछ

दूसरों के द्वारा लायेजाते हैं उन्हें उपसर्ग या उपद्रव कहते हैं। दोनों के कष्ट शान्ति के साथ सहन करना परिषह तप है।

अपने जीवन को अधिक स्वावलम्बी और स्वतंत्र बनाने के लिये, दूसरों को कम से कम कष्ट और अधिक से अधिक सुख देने के लिये, संयम के पथ पर दृढ़ रहने के लिये परिषह तप करना ज़रूरी है। अगर कोई ज़रा सी भूख नहीं सहसकता या रूखा सूखा जैसा मिले उस में सतुष्ट नहीं रह सकता, निन्दा अपमान से घबरा जाता है या क्षुब्ध हो जाता है, वह ठीक तरह से जगत की सेवा नहीं कर सकता, कदचित् वह महान कहला सकता है पर महान नहीं बन सकता।

यह बात पहिले कही जाचुकी है कि इन तपस्याओं की उपयोगिता का ख़याल अवश्य रखना चाहिये। एक आदमी इसलिये तप करता है कि वह तपस्वी कहलावे, इसलिये उपवास करता है कि लोग उसके दर्शन के लिये आवें तो ये सब तप न होंगे। उपवास व्यर्थलंघन होंगे।

तपस्या कीजाय लेकिन उसके द्वारा दूसरों की परेशानी बढ़ायी जाय और कोई विशेष लाभ भी न हो, जिसका मूल्य उस परेशानी से अधिक हो, तो वह तप भी तप न कहलायगा।

बहुत से लोग अमुक रसका त्याग करदेते हैं और उस के बदले में दूसरी क़ीमती चीज़ें चाहते हैं उनका वह काम तप नहीं है, जो घी छोड़कर बादाम का तेल चाहते हैं वे घीके त्यागी नहीं कहे जा सकते। तप के लिये अगर कोई चीज़ छोड़ता है तो उसके बदले में कोई क़ीमती चीज़ न मांगे। उसके बदले में या तो कुछ न लेना चाहिये या कुछ और सस्ती चीज़ लेना चाहिये।

तप का फल पारलौकिक ही नहीं है उसका फल प्रायः यहीं दिखाई देता है। तप के द्वारा प्रतिकूल जगत अनुकूल हो जाता है, विपदाएँ टकराकर चूर चूर हो जाती हैं, संसार में और अपने जीवन में सुख बढ़जाते हैं और दुःखों की असह्यता जाती रहती है।

तप के द्वारा देवता प्रसन्न होकर धन वैभव आदि दे देते हैं—ये सब कोरी कल्पनाएँ हैं या आलङ्कारिक कथन है। हां, यह कह सकते हैं कि तप के द्वारा सत्येश्वर प्रसन्न होते हैं, अहिंसा भगवती प्रसन्न होती हैं, सरस्वती देवी, शक्ति देवी या स्वतन्त्रता देवी प्रसन्न होती है। अतः हर एक मनुष्यको आवश्यकतानुसार तप करना चाहिये।

आचार कांड [छट्ठा अध्याय]

कल्याण पथ

भगवान सत्य और भगवती अहिंसा के पाने के लिये जिस विचार-शुद्धि आचार-शुद्धि और कर्तव्य-कर्म की ज़रूरत है उसका काफ़ी विवेचन किया जा चुका है। उससे कल्याण के मार्ग का पता लग सकता है पर एक मनुष्य जो धीरे धीरे अपने जीवन का विकास करना चाहता है अपने जीवन को स्वपरकल्याणकारी बनाना चाहता है वह किस क्रम से कल्याण पथ में आगे बढ़े और पिछले अध्यायों में बताये हुए आचार और विचार के तत्त्वों को जीवन में उतारे इसके लिये यहाँ कुछ श्रेणियों का निर्देश करना है। एक तरह से इन्हें हम साधक श्रेणियाँ कह सकते हैं।

संसार के अधिकांश प्राणी कल्याण-पथ पर नहीं चल रहे हैं। उनमें कुछ प्राणी तो ऐसे हैं जो कुछ समझते ही नहीं, वे ऐसे गड्ढे में पड़े हुए हैं कि कल्याण का पथ देखना चाहें तो भी देख नहीं सकते। इन्हें हम **गर्तस्थ** कहेंगे, क्योंकि वे गर्त अर्थात् गड्ढे में पड़े हुए हैं। विद्या बुद्धि विवेक इन में नहीं हैं।

दूसरे प्राणी हैं जिनमें विद्या बुद्धि तो है पर विवेक नहीं है। ये लोग ऐसी जगह खड़े हैं जहां से रास्ता देखना चाहें तो देख सकते हैं पर देखते नहीं हैं। काल-मोह स्वत्व-मोह आदि के कारण ये सचाई से दूर भागते हैं। विद्या बुद्धि है पर उसका उपयोग कल्याण-पथ की खोज में नहीं करना चाहते, अपने तुच्छ स्वार्थ और अहंकार में फँसकर पंडित और विद्वान कहलाकर भी सन्मार्ग नहीं पा सकते। ये लोग गड्ढे में तो नहीं हैं किन्तु ज़मीनपर खड़े हुए हैं। मार्ग देखने की योग्यता है पर देखते नहीं है उस पर विश्वास नहीं करते हैं। इन्हें हम **भौम** या **भूमिस्थ** कहेंगे, क्योंकि ये ज़मीनपर हैं।

ये दो तरह के प्राणी कल्याण-पथ की किसी भी श्रेणी में नहीं हैं इसके आगे बढ़ने पर मनुष्य कल्याण—पथ का पथिक बनता है। ज्यों ज्यों वह ऊपर चढ़ता जाता है त्यों त्यों उसका विकास होता जाता है उसका जीवन स्वपर कल्याणकारी विश्वसुखवर्धक बनता जाता है। कल्याण पथ की बारह श्रेणियाँ हैं।

बारह श्रेणियाँ

१ सद्दृष्टि २ सामाजिक ३ अस्वार्थी ४ व्रती, ५ सुशील, ६ सद्भोगी, ७ सदाजीवक, ८ निर्भार ९ दिव्याहारी १० साधु ११ तपस्वी १२ योगी।

१ सद्दृष्टि

जिस मनुष्य ने स्वपर कल्याण रूप धर्म के मार्ग को समझ लिया है, भगवान सत्य और भगवती अहिंसा में जिसे श्रद्धा है जो सब धर्मों में विवेकपूर्ण समभाव और सब मनुष्यों की एक जाति के सिद्धान्त को मानता है, जो देशकाल की परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन या सुधार का समर्थक है पर जातिसमभाव और सुधार को क्रियात्मक रूप देने में असमर्थता अनुभव करता है, उसकी इच्छा यही है कि मैं समर्थ बनूँ, इसलिये मौका आने पर इन बातों को क्रियात्मक रूप भी देता है, जो लोग इसे क्रियात्मक रूप देते हैं उनकी प्रशंसा करता है उन्हें भाग्यशाली समझता है, वह मनुष्य सद्दृष्टि है, कल्याणपथ की प्रथम श्रेणी का है।

तीन आवश्यक

यद्यपि वह संयमी और व्रती नहीं हो पाया है धर्मजातिसमभाव और समाजसुधार को भी पूरी तरह नहीं अपना पाया है सिर्फ इन बातों में विश्वास कर पाया है पर उसका यह विश्वास दिखावटी नहीं है सच्चा है, इसके लिये ये तीन ज़रूरी काम अवश्य करता है। वे तीन ज़रूरी काम अर्थात् आवश्यक हैं १ भक्ति २ स्वाध्याय ३ अर्पण। किसी भी भलाई के मार्ग में अगर कोई मनुष्य शामिल होता है और उसके लिये वह विशेष कुछ नहीं कर पाता तो भी कम से कम उसके लिये ये तीन कार्य तो आवश्यक ही हैं।

१ भक्ति—मन से वचन और शारीरिक क्रिया से कल्याण के पथ में, पथ--प्रदर्शकों में अटूट विश्वास प्रगट करना, उनके गुण गाना, उस पथ पर चलने की और आगे बढ़ने की भावना व्यक्त करना, जितने अंश में नहीं चल पा रहे हैं उतने अंश में खेद प्रगट करना भक्ति है।

भक्ति एकान्त में भी हो सकती है और जिस किसी समय में भी हो सकती है। फिर भी इस अनियमितता से प्रमाद आजाता है इसलिये नियमित समय पर मिलजुलकर भक्ति की जाय यही उचित है। हां, कहीं कोई साथी न मिले तो न सही तब नियत समय पर अकेले भी की जाय तो कोई हानि नहीं है। साधारणतः सुबह शाम दो बार भक्ति करना उचित है। इसके सिवाय जब इच्छा हो जब दिल उमड़ पड़े, किसी कारण से चित्त में क्षोभ हो और उसे शान्त करना हो तभी भक्ति करना चाहिये। भक्ति में तल्लीन होने पर मनुष्य संसार से ऊपर उठ जाता है, दुनिया के दुःख भूल जाता है, उसका वैरभाव शान्त हो जाता है, दुनिया के दुखी जीवों पर प्रेम उमड़ने लगता है गुणियों में आदर भाव आजाता है, एक तरह से वह भगवान के दर्बार में पहुँच जाता है, इसलिये भक्ति धर्म का मूल और आवश्यक कर्तव्य है।

तीन वन्दन

जब मन में सच्ची भक्ति आजाती है तब वह ठीक रास्ते से प्रगट होती ही है, फिर भी भक्ति को सच्ची और पूरी बनाने के लिये तीन प्रकार के वन्दन करना चाहिये —१ सत्यवन्दन २ सत्यसेवकवन्दन ३ सत्यसमाज वन्दन। वास्तव में ये तीनों वन्दन सत्यवन्दन ही हैं फिर भी इसे व्यवहार में लाने के लिये इन भेदों की ज़रूरत है।

सत्यवन्दन—भगवान सत्य भगवती अहिंसा के रूप में ईश्वर का वन्दन अथवा भगवान सत्य भगवती अहिंसा का ईश्वर के रूप में वन्दन। इस वन्दन में ईश्वर गाड खुदा अल्लाह अहुरमज्द शिवशक्ति विष्णु ब्रह्म आदि शब्दों का प्रयोग

किया जा सकता है और वन्दना की जा सकती है; सरस्वती, शक्ति, प्रेम, स्वतन्त्रता, मानवता, आदि अनेक नामों से भी गुण देवों का वन्दन किया जा सकता है; विवेक, समभाव, ईमान, शील, तप त्याग, सेवाश्रम आदि धर्मों को पाने की भावना व्यक्त करके या उन्हें प्रणाम करके भी भक्ति की जा सकती है। यह सब सत्यवन्दन है।

सत्यसेवकवन्दन—रामकृष्ण महावीर बुद्ध ईसा मुहम्मद आदि जिन जिन महात्माओं ने मनुष्य मात्र को एक सूत्र में बाँधने की, अन्याय अत्याचारों को दूर करने की और मनुष्य को सुखी सदाचारी बनाने की कोशिश की और इस कार्य में अपना जीवन लगाया; जो महात्मा ऐसी कोशिश कर रहे हैं और इस कार्य में जीवन लगा रहे हैं, जो महात्मा भविष्य में ऐसी कोशिश करेंगे और जीवन लगायँगे उनको प्रणाम करना उनका गुणगान करना, उनके मार्ग पर चलने की इच्छा प्रगट करना, सत्यसेवक वन्दन है। भले ही समभाव के साथ किसी एक का ही नाम लिया जाय या बहुतों का नाम लिया जाय या किसी का नाम न लेकर सभी सत्यसेवकों को प्रणाम किया जाय उनका गुणकीर्तन आदि किया जाय, यह अथवा सब सत्यसेवकवन्दन है।

सत्यसमाज वन्दन--जो लोग जगत्कल्याण के मार्ग पर चलते हैं, न्यायी, समभावी, सदाचारी सेवक और त्यागी बनते हैं वे किसी भी देश के हों, किसी भी कौम के हों, किसी भी धर्म संस्था के सदस्य हों उन सबको प्रमाण करना, उनके कार्यों की तारीफ़ करना; उनका अनुकरण करने की उनको अपनाने की, अपने को उनमें मिलाने की, उनके साथ सामाजिक सम्बन्ध या विशेष मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने की भावना प्रगट करना, उनके दुःख से विशेष दुख प्रगट करना आदि सत्यसमाज वन्दन है।

इस प्रकार तीन प्रकार का वन्दन सद्दृष्टि का पहिला आवश्यक कर्तव्य है।

२ स्वाध्याय—कर्तव्य अकर्तव्य का विचार करने के लिये, जीवन शुद्धि की व्यवहारिक कठिनाइयों को समझने और उन पर विजय पाने का उपाय जानने के लिये आत्मनिरीक्षण के लिये स्वाध्याय करना चाहिये। पढ़ना पूछना चर्चा करना लिखना आदि स्वाध्याय के बहुत तरीके हैं, ज्ञानचर्या तप के प्रकरण में इनका उल्लेख हुआ है। किसी भी तरीके से स्वाध्याय किया जा सकता है। यहां जो मुख्य बात कहना है वह यह कि स्वाध्याय में तीन तरह की कथाओं का उपयोग करना चाहिये १ सत्यकथा २ सत्यसेवक कथा ३ सत्यसमाज कथा। वास्तव में ये तीनों सत्यकथा हैं, व्यवहार के लिये ये भेद किये गये हैं।

सत्यकथा—सत्य अहिंसा सेवा तप त्याग शील आदि विश्वकल्याण की नीति जानने के लिये सत्यामृत गीता कुरान बाइबिल पिटक सूत्र आदि के चुने हुए अंश तथा नीति का उपदेश देने वाले अन्य ग्रन्थों का स्वाध्याय करना सत्यकथा है।

सत्यसेवक कथा-सत्यसेवक वन्दन के प्रकरण में बताये गये महात्माओं के जीवन चरित्र या संस्मरण पढ़ना उनके पद चिन्हों पर चलने की रीति समझना उनके सद्गुणों को अपने जीवन में उतारने के लिये विचार करना आदि सत्यसेवक कथा है। वे महात्मा तीर्थंकर पैगम्बर अवतार आदि किसी पद से विभूषित हों या न हों वे पहिले हो चुके हों आज जीवित हों भविष्य में

होनेवाले हों उनके जीवन चरित्र का अध्ययन करना चाहिये।

प्रश्न--भूत और वर्तमान के सत्यसेवकों की जीवन-कथा की जा सकती है पर जो अभी हुए ही नहीं उनकी जीवन-कथा कैसे की जा सकती है ?

उत्तर--सत्यसेवक कथा किसी सेवक की कथा नहीं है किन्तु सत्य के एक अंश के व्यावहारिक रूप की कथा है। समाज की अवस्था और गति के अनुसार सत्य के कैसे व्यावहारिक रूप की आवश्यकता है यह हम समझ सकते हैं। जैसी आवश्यकता होती है उसी के अनुसार महात्मा प्रगट होते हैं। हम उनके सामान्य रूप को पहिले से ही समझ सकते हैं और उसी रूपमें उनकी कथा कह सकते हैं। उनकी जन्मतिथि उत्पत्ति-स्थान कुल कुटुम्ब आदि को जानना जरूरी नहीं है।

भविष्य के तीर्थंकर पैगम्बर अवतार आदि सत्यसेवकों की वन्दना करने का मतलब यह है कि मनुष्य में प्राचीनता का मोह न रहे, वह सुधारक बना रहे उसकी मनोवृत्ति आनेवाले महात्माओं के आदर करने की हो। हां, जिनके जीवन में संयम नहीं है त्याग नहीं है विश्वसेवा की पर्याप्त भावना नहीं है स्वार्थ लिप्सा है, वे यदि अवतार तीर्थंकर पैगम्बर आदि कहलाने का दंभ करें तो स्वागत न करना चाहिये बल्कि आवश्यकतानुसार विरोध भी करना चाहिये। पर प्राचीनता का मोह, स्वत्व-मोह आदि के कारण सच्चे सेवकों और जगसेवा के लिये परिवर्तन करनेवालों का विरोध न होने लगे- इसके लिये भविष्य के सत्यसेवकों की सामान्य कथा करना उपयोगी है।

सत्यसमाज कथा:--मनुष्य मात्र में एक जातीयता की भावना कैसे पैदा हो, इसके लिये कैसा संगठन करना चाहिये, कैसी सेवा करना चाहिये कैसा प्रचार करना चाहिये, उनको विशेष सहायता कैसे मिले, कौन कौन लोग इस मार्ग पर चल रहे हैं, सुव्यवस्था और मनुष्य के विकास के साथ अधिक से अधिक स्वतन्त्रता कैसे मिले, या इस प्रकार के लोगों का विशाल संगठन कैसे हो और कैसा हो, इत्यादि कथा सत्यसमाज कथा है।

३ **अर्पण**--सद्दृष्टि को प्रतिदिन कुछ अर्पण (दान) अवश्यकरना चाहिये। यों तो अर्पण का क्षेत्र विशाल है पर यहाँ अर्पण के उस विशाल रूप से मतलब नहीं है। उसका उल्लेख आगे अभ्यास-धर्मों में दान के नाम से किया जायगा। यहां तो सद्दृष्टि के लिये आवश्यक दान (अर्पण) का ही उल्लेख है। वन्दन और स्वाध्याय की तरह अर्पण भी तीन तरह का है--१--सत्यार्पण २--सत्यसेवकार्पण, ३--सत्यसमाजार्पण। वन्दन और और स्वाध्याय की तरह ये तीनों प्रकार के अर्पण भी सत्यार्पण हैं, व्यवहार के सुभीते के लिये तीन भेदों में उल्लेख किया गया है।

सत्यार्पण--सच्चा सत्यार्पण तो त्याग है पर वह तो बहुत ऊँची चीज़ है वह सद्दृष्टि के लिये आवश्यक कर्तव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह साधक श्रेणियों में पहिली श्रेणी में है।

उसका सत्यार्पण तो ऐसी ही साधारण श्रेणी का है कि वह धर्मसमभाव आदि के प्रचार के लिये धर्मालय आदि बनवादे, सत्य प्रचार के लिये वहां भेंट चढ़ादे या ज्ञानप्राप्ति आदि के लिये कुछ व्यवस्था करदे।

सत्यसेवकार्पण--समभाव सदाचार विवेक आदि के प्रसारक जन सेवकों की सेवा में जन-सेवा के लिये नम्रता से भेंट रखना सत्यसेवकार्पण

है। इसकाम के लिये प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन या समय समय पर कुछ न कुछ दान निकालते रहना चाहिये और कम से कम वर्ष में एक बार या जितने बार बन सके इतने बार वह रकम उन सच्चे जनसेवकों की सेवामें अर्पण कर अपने को धन्य समझना चाहिये। नम्रता के बिना सत्य-सेवकर्पण नहीं हो सकता।

सत्यसमाजार्पण--सत्यसमाज वन्दन के प्रकरण में कल्याण पथ के पथिकों का जो उल्लेख हुआ है उनकी भलाई के लिये सुख शान्ति के लिये आदर सत्कार के लिये अपना धन खर्च करना सत्यसमाजार्पण है। आवश्यकतानुसार उन्हें भोजन कराना ठहरने के लिये जगह देना पूँजी आदि की मदद करना इस प्रकार बहुत से काम सत्यसमाजार्पण में किये जा सकते हैं।

इस प्रकार वन्दन स्वाध्याय और दान करने से सद्दृष्टि की सद्‌दृष्टिता सच्ची साबित होती है, उससे दूसरों को बल मिलता है दूसरों से उसे बल मिलता है इस प्रकार पहिली श्रेणी में होने पर भी वह कल्याण मार्ग के पथिको में गिन लिया जाता है।

सामाजिक

सद्दृष्टि हो जाने पर जो मनुष्य सर्व-धर्म-समभाव सर्वजातिसमभाव और समाज सुधारक बन जाता है अपने जीवन में निर्भयता से ऐसी सामाजिकता भर लेता है, वह सामाजिक है।

सर्वधर्मसमभाव का विवेचन लक्षणदृष्टि अध्याय में विस्तार से दिया गया है यहां तो सिर्फ ऐसी सूचनाएँ कर दी जाती है जिससे सर्वधर्म-समभाव का व्यावहारिक रूप समझ में आ जाय और उसका पालन किया जा सके।

१—साधारणतः धर्मों को अपने समय और अपने देश की ऐसी क्रान्ति समझना जिसने लोगों की नैतिक उन्नति की और मानवहित की दृष्टि से सामाजिक क्रान्ति की। हिन्दू धर्म इसलाम, जैनधर्म बौद्धधर्म ईसाई धर्म आदि ऐसे ही धर्म है।

२-जो सम्प्रदाय किसी मुख्य धर्म के भीतर या कबीर पंथ आदि की तरह बिलकुल स्वतंत्र हों, किन्तु जो सिर्फ़ किसी दार्शनिक प्रश्न की मुख्यता को लेकर खड़े हुए हों अपने समय की सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का कार्यक्षेत्र जिनका मुख्य रूपमें न रहा हो, उनपर सर्वधर्म-समभाव की शर्त लागू न करना उन पर सिर्फ़ दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करना। मतलब यह कि अन्य सम्प्रदाय आदि के नाम से भूलने की ज़रूरत नहीं है, विवेक से काम लेना चाहिये।

३—'हमारे धर्म से भिन्न जितने धर्म हैं वे मिथ्या हैं' इस प्रकार विचार दिल में भी न लाना।

४—किसी धर्म पर विचार करते समय उसके बारे में पहिले से सहानुभूति रखना और पक्षपात न आने देना।

५—किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्त ठीक न मालूम हों तो भी जहां तक बने शिष्टाचार का पालन करना।

६-प्रार्थना पूजा नमाज़ आदि ऐसी धर्म क्रियाओं में जिनमें पशुवध आदि कार्य नहीं होता शामिल होने की कोशिश करना।

७—किसी भी धर्म के अनुसार प्रार्थना कर लेने पर समझ लेना कि मेरे धर्म के अनुसार प्रार्थना हो गई। संगठन आदि का कोई विशेष उपयोग हो तो उसके बाद अपनी प्रार्थना भी की जा सकती है।

८– मंदिर मसजिद गिरजाघर आदि सभी धर्मस्थानों को आदर की दृष्टि से देखना।

९– धर्म के मूल ग्रन्थों का आदर रखना और विवेक के साथ जितनी अच्छाई उनमें से ली जासके लेना।

१०– सब धर्मों के ऐसे महात्माओं का, जिनने मानव-हित के लिये जीवन अर्पण किया है आदर रखना, उनका विचार करते समय पक्षपात से काम न लेना।

सर्व जाति समभाव का भी विवेचन लक्षण दृष्टि अध्याय में किया गया है, यहां कुछ व्यवहारोपयोगी आवश्यक सूचनाएँ दीजाती हैं।

१– मनुष्यमात्रको फिर वह किसी भी रंग का हो किसी देश का हो किसी भी नस्ल का हो– एक जाति समझना।

२-- पितृ परम्परा से या संगति आदि के कारण किसी क्षेत्र के या किसी वर्ग के मनुष्यों में कोई अच्छी या बुरी विशेषता पाई जाती हो तो भी यह विश्वास रखना कि उनकी अच्छी विशेषता दूसरी जगह भी लाई जा सकती है और बुरी विशेषता शिक्षण संगतिसे बदली जा सकती है।

३-- व्यक्ति के दोषों को जातीय दोष का रूप न देना और विश्वास रखना कि सब जातियों में अपेक्षाकृत अच्छे या बुरे लोग रहते हैं।

४– विवाह सम्बन्धमें दाम्पत्यके योग्य गुण मिल जायँ तो फिर जातिपाँतिका विचार न करना।

५– स्वच्छ और शुद्ध तथा अनुकूल भोजन की व्यवस्था होनेपर किसीभी जातिके मनुष्य के साथ खाने में जातिभेद की दृष्टि से एतराज़ न करना।

६ - किसी को जाति के कारण अछूत न समझना।

७-- जातिके कारण किसी को किसी धार्मिक क्रिया से न रोकना।

८-- कुलमें व्यभिचार आदि का दूषण होने से किसी को नीच न समझना, न उसके धार्मिक या सामाजिक अधिकार छीनना।

९– स्त्री या पुरुष के विशेषाधिकारों को दूर करने की कोशिश करना। (हां, सुविधाके अनुसार कार्यक्षेत्र में विभाग करने या शिष्टाचार के कुछ नियम रखने में कोई हानि नहीं है। गुणका सन्मान करना उचित है)।

१०– अपनी भाषा और वेष का अहंकार या मोह न रखना।

प्रश्न—साम्प्रदायिक और जातीय हर तरह के वर्ग अगर मिटा दिये जायँगे तो जीवन में संघर्ष नष्ट हो जायगा। संघर्ष-हीन जीवन निरुत्साह हो जायगा जिसे जड़ भी कह सकेंगे।

उत्तर—आनन्द के लिये भी संघर्ष आवश्यक है पर उसके लिये सम्प्रदायिक और जातीय वर्ग बनाने की आवश्यकता नहीं है। पति पत्नी तो एक सम्प्रदाय एक जाति एक कुटुम्ब के होते हैं यहाँ तक कि उनका व्यक्तित्व भी एक हो जाता है फिर भी वे चौपड़ और ताश खेलकर संघर्ष करते हैं एक दूसरे को जीतने की भी कोशिश करते हैं। जो संघर्ष, प्रेम विनोद उल्लास आदि के लिए उपयोगी है वह तो हर हालत में किया जा सकता है। स्कूल के बच्चे जब खेल के लिये दो दल बनाते हैं तो क्या वहाँ दो जातियाँ या दो सम्प्रदाय बनते हैं? जाति और सम्प्रदाय की छाप लगाकर ऐसे आनन्दी संघर्षों को विषैला कदापि

न बनाना चाहिये। जो दल बनाओ वे संघर्ष के समय तक के लिये ही हों अथवा ऐसे हों जिनमें इच्छा करने से कोई भी इस दल से उस दलमें सरलता से जासके।

प्रश्न–जब हमें परदेश में कोई अपनी जातिका अपने प्रान्त का आदमी मिलजाता है तब हमें बेहद खुशी होती है अयाचित सेवा भी मिलजाती है जातिसमभाव होने पर हमारी यह प्रसन्नता नष्ट हो जायगी।

उत्तर–अपने प्रेम और विश्वप्रेम के बीच में मनुष्य कम ज्यादा प्रेम के कई घेरे बनालेता है। कुटुम्बियों का, परिचितों का, मुहल्ले वालों का गांववालों का प्रान्त वालों का देश का आदि। इस प्रकार के घेरे बनाने में कोई आपत्ति नहीं है या वे क्षन्तव्य हैं पर जब वह जाति के नाम का घेरा बनाता है और उसके आगे मित्रवर्ग, परिचित वर्ग आदि दूर का बनजाता है तब वह मित्रता संयम उपकार आदि की अवहेलना करता है। जाति की एक ऐसी कल्पना है जिसका सम्बन्ध जन्म से मान लिया गया है और जिसका भलाई बुराई गुण दोष से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे बेबुनियाद और दूसरों के साथ परायापन बनाने वाले घेरे को कदापि स्वीकार न करना चाहिये। जो उपकारी है सद्गुणी है मित्र है परिचित है उसे प्रेम के घेरे की एक रेखा बनाओ, कल्पित जाति को नहीं।

देश और प्रान्त के नाम के घेरे भी मर्यादित रहना चाहिये। वे इतने ज़ोरदार न हों कि हम दूसरे प्रान्त या देशमें जाकर भी वहां के निवासियों में मिल न सकें या दूसरे प्रान्त के लोगों के अपने देश में आनेपर उन्हें अपना न सकें। इन बातों का विचार करते हुये मित्रवर्ग को बढ़ाने की कोशिश करना चाहिये। जातिभेद मिटजाने पर मित्रवर्ग बढ़ जायगा परिचय का क्षेत्र भी बढ़ जायगा, विजातीय होने से मित्रता या परिचय फीका न होगा। इसलिये परदेश में भी हमें मित्र और परिचित अधिक मात्रा में मिलेंगे।

समाज सुधारक–बनने के लिए निम्नलिखित सूचनाएँ उपयोगी हैं।

१–सुव्यवस्था और नैतिकता में अगर बाधा न पड़ती हो तो व्यक्ति के अधिकारों में बाधा न डालना।

२–लैंगिक अहंकार (पुरुषत्व का घमंड) दूर करना और ज़रूरी समभाव का सिद्धान्त स्वीकार करना।

३–कोई रिवाज पुराने समय से चला आरहा है इसलिये वह अच्छा है, यह भ्रम निकाल देना। देश काल को देखते हुए उसके कल्याणकर अकल्याणकर होने का विचार करना।

४–जो नया है वह अच्छा है यह भ्रम भी निकाल देना उसका विचार भी कल्याणकर अकल्याणकर होने की दृष्टि से करना।

५–रिवाजों का इतिहास ढूँढ़ना और वे जिस परिस्थिति में बने थे वह परिस्थिति आज है या नहीं इस बात का विचार करना।

६–रीति रिवाजों के नामपर जो जितना अधिक ख़र्च करना चाहे करे, पर जितना ख़र्च साधारण से साधारण परिस्थिति का आदमी न जुटा सके उसे अनिवार्य न बनाना।

७–रीतिरिवाजों के पालन में ग़रीबी के कारण कम ख़र्च करने वाले की व्यक्त या अव्यक्त रूप में निन्दा न करना।

८-परिस्थिति के कारण कोई हानिकर रिवाज ज़रूरी हो उठा हो तो परिस्थिति को बदलने की चेष्टा करना। जैसे कहीं गुंडापन की अधिकता के कारण स्त्रियों को परदा करना ज़रूरी हो उठा हो तो वहाँ गुंडापन दूर करने का ज़ोरदार अन्दोलन करना और पर्दे को दूर हटाना।

९-रीति रिवाजों पर या वेष भूषा पर धर्म की छाप न लगाना।

१०-अपना रहन सहन खान पान स्वच्छता आदि के नियम ऐसे बनाना जिससे दूसरों को साथ करने में कठिनाई न हो और सत्य अहिंसा का भंग न हो।

३—अभ्यासी

भगवती अहिंसा की साधना करने के लिये अपने जीवन में संयमवृत्ति जगाने के लिये दस धर्मों का अभ्यास करना ज़रूरी है। पहिली और दूसरी श्रेणी में भी साधारण अभ्यास किया जाता है पर इस श्रेणी में इनका विशेष अभ्यास करना चाहिये। यों तो विशेष अभ्यास का प्रारम्भ ही यहां कहा जासकता है अभ्यास बढ़ाने का काम तो आगे आगे योगी बनने तक बना ही रहता है।

अभ्यासधर्म

अभ्यास धर्म दस हैं। १-दान २-सेवा ३--विनय, ४--सरलता, ५--कोमलता, ६-क्षमा, ७--श्रम, ८--दम, ९--शम, १०--न्याय।

१ दान-जगत्कल्याण की दृष्टि से अपनी सम्पत्ति किसी को देना दान है।

सम्पत्ति अगर जगत्कल्याण की दृष्टि से न दी जाय सिर्फ स्वार्थ का ही विचार किया जाय तो यह दान न कहलायगा, विनिमय कहलायगा।

दान और त्याग-दान और त्याग कभी कभी एक ही अर्थ में कहे जाते हैं पर दोनों में अन्तर है। त्याग में पाप से निवृत्ति है दान में पाप के असर को कम करने का भाव है। त्यागी दुर्जन न करेगा दानी दुर्जन करता रह सकेगा पर दुर्जन आदि से दूसरे लोग जो कंगाल हुए हैं उनके आँसू पोंछेगा। दान में आत्मशुद्धि की मुख्यता नहीं है त्याग में है, इसलिये दान से त्याग ऊँचे दर्जे का है। पर जो लोग त्यागी नहीं बन सकते उन्हें दानी अवश्य बनना चाहिये। सब से अच्छी अवस्था यह है कि त्याग दानमूलक हो। उत्तराधिकारी को सम्पत्ति सौंपकर त्याग करने की उतनी उपयोगिता नहीं जितनी विश्वहित में सम्पत्ति लगाकर त्याग करने की है। दान करने के चार प्रयोजन हैं।

१-दुर्जन आदि के पाप का थोड़ा सा प्रायश्चित्त हो जाता है।

२-भोग से बची हुई सम्पत्ति जो न जाने किस तरह बर्बाद हो जायगी उसका सदुपयोग होता है।

३-जनसेवा के जो कार्य विनिमय के आधार पर नहीं किये जा सकते वे कार्य होने लगते हैं। जैसे हर एक रोगी मूल्य देकर या पूरा मूल्य देकर चिकित्सा नहीं करा सकता तो दान के द्वारा उसको चिकित्सा सुलभ हो जाती है, इसी प्रकार शिक्षण, उपदेश के साधन समाचार पत्र आदि देना व्याख्यानादि के लिए आयोजन करना, पीड़ितों को अन्न वस्त्र आदि देना, यात्रियों को ठहरने आदि के स्थान देना, आदि बहुत से काम दान की सहायता से किये जा सकते हैं।

४-साधुता को अवलम्बन दिया जाता है। साधु दुनिया को अधिक से अधिक सेवा देता है और कम से कम अथवा पेट भरने लायक ही लेता है। पर देता तो वह दुनिया भर को है पर ले किससे? जिससे उसने भिक्षा ली उसको उसने सेवा दी हो ऐसा नियम भी नहीं चल सकता तब किसीको दान देकर ही उसकी साधुता को अवलम्बन देना पड़ेगा।

साधुता को अवलम्बन देना साधु के ऊपर उपकार नहीं किन्तु समाज के ऊपर उपकार है अथवा समाज के एक सदस्य की हैसियत से समाज के कर्तव्य का पालन है।

प्रश्न–दान से यश भी मिलता है फिर यश दान का प्रयोजन क्यों नहीं।

उत्तर–यश दान से मिलता तो है पर वह प्रयोजन नहीं है क्यों कि यश के लिये दान नहीं करना चाहिये। जो यश के लिये दान करता है वह विनिमय-व्यापार-धंधा करता है, धन से यश खरीदता है। सच्चा यश इस तरह मोल नहीं मिलता। पैसा देकर हम वेश्या से हाव भाव पा सकते हैं प्रेम नहीं, इसी प्रकार पैसे से कोरी वाहवाही पा सकते हैं यश नहीं। यश मिलता है जगत्कल्याण के लिये पैसा खर्च करने से। यश के लिये दान करने वाले को जगत्कल्याण की पर्वाह नहीं होती, कल्याण हो या अकल्याण उसे वाह-वाही से मतलब है। जो उसके गीत गायेगा जहाँ देने से उसके गीत गाये जायँगे वहीं वह दान देगा। इस प्रकार बुरे कार्यों को भी उत्तेजन मिलेगा और अच्छे कार्य में भी स्वार्थी चापलूस कार्यकर्ता घुस जाँयगे। इस प्रकार उसकी यश-लालसा जनसेवा या जगत्कल्याण के कार्यक्षेत्र को भी बर्बाद कर देगी। इसलिये यश की मुख्यता से कभी दान न करना चाहिये। जनकल्याण के लिये करना चाहिये। जब जनकल्याण रूपी अनाज पकता है तब उसके साथ यश रूपी भूसा भी मिल ही जाता है।

अनाज की खेती की तरह दान में भी बहुत होश्यारी से काम करना पड़ता है। कहीं भी धन फेंक देना खेती नहीं है इसी प्रकार किसी को भी पैसा दे देना दान नहीं है। क्या चीज़ बोई जाय कब बोई जाय कैसी ज़मीन में बोई जाय इस प्रकार अनेक विचार खेती के काम में करना पड़ते हैं उसी प्रकार दान में करना चाहिये। दान में इन आठ बातों का विचार ज़रूरी है-क-पात्र, ख-उपयोग, ग--विधि, घ--अवसर, ङ--वस्तु, च--दाता, छ--ध्येय, ज--प्रेरणा। इनकी विशेषता से दान में विशेषता पैदा होती है।

क–पात्र--दान किसी भी प्रकार का दिया जाय पर यह देखना ज़रूरी है कि जैसा दान दिया जा रहा है पात्र वैसा ही है या नहीं। अपात्र या कुपात्र को देने से दान व्यर्थ जाता है या बुराइयाँ पैदा करता है, समाज में आलसी दुराचारी और दंभियों की संख्या बढ़ती है और सच्चे सेवकों साधुओं की संख्या घटती है। जब दम्भियों को सफलता मिलती है, साधु लोग तिरस्कृत अपमानित उपेक्षित होने लगते हैं तब साधुता की तरफ़ लोगों का ध्यान बहुत कम जा पाता है बहुत कम आदमी साधुता को अपनाते हैं या साधुता पर कायम रह पाते हैं। इसलिये पात्र को ही दान देना चाहिये कुपात्र या अपात्र को नहीं।

पात्र वह है जिसको दान देने से धन का सदुपयोग हो अर्थात न तो पात्र का पतन हो, न दाता का पतन हो, न दुनिया का पतन हो नैतिकता कायम रहे या बढ़े और किसी न किसी को सुख हो। पात्र पांच तरह के होते हैं--१ श्रद्धापात्र २ प्रतिनिधिपात्र, ३ करुणापात्र ४ प्रेमपात्र ५ व्यवहार पात्र।

१-श्रद्धापात्र वे हैं जो निस्वार्थ भाव से जगत की सेवा करते हैं जगत को सन्मार्ग पर ले जाते हैं साधु हैं, या त्यागी हैं, उनको जो दान चाहिये वह श्रद्धा से देना चाहिये चाहे उन्हें भोजन कराना या पानी पिलाना हो चाहे बड़ी रकम देना हो। उन्हें तिरस्कृत या उपेक्षित न करना चाहिये। न करुणाभाव से देना चाहिये।

जिनने पूजा कराने के लिये श्रद्धापात्र का वेष बनाया है, जो दुनिया को सन्मार्ग पर नहीं ले जाते हैं लेकिन उसके भीतर अहंकार द्वेष आदि पैदा करते हैं धर्म जाति आदि के नाम पर अहंकार की पूजा कराते हैं दंभी हैं वे कुपात्र हैं इन्हें श्रद्धाभाव से दान न देना चाहिये।

जो इस प्रकार के अनर्थ तो नहीं करते पर दुनिया के किसी काम भी नहीं आते, न पहिले भी इतनी सेवा की है जिसके बदले में उन्हें दान दिया जाय, वे अपात्र हैं। अपात्र को भी श्रद्धा भाव से दान न देना चाहिये। हां, वह करुणा आदि की दृष्टि से पात्र भी हो सकता है और उस दृष्टि से दान दिया जा सकता है।

२-प्रतिनिधिपात्र वह है जो खुद तो पात्र नहीं है पर किसी व्यक्तिपात्र या समाजपात्र का प्रतिनिधि है। जैसे कोई शिक्षण संस्था है उसके लिये चन्दा लेने के लिये उसका एक कर्मचारी हमारे पास आय तो वह प्रतिनिधि पात्र कहलायगा। पात्र संस्था है वह सिर्फ प्रतिनिधि है, वह खुद पात्र इसलिये नहीं है क्योंकि उसका संस्था के साथ सम्बन्ध आर्थिकप्रधान है सेवाप्रधान नहीं। प्रतिनिधिपात्र को अलग बताने की जरूरत इसलिये है कि प्रतिनिधिपात्र अपने को श्रद्धापात्र न समझ ले। प्रतिनिधिपात्र को दान देते समय हमें उसकी विश्वसनीयता देखना चाहिये।

३ करुणापात्र उसे कहते हैं जो दीन होने के कारण शब्दों से या मौन रूपसे याचना करता है। किसी भी दुखी को देखकर हमारे दिल में दया उत्पन्न होना चाहिये और उसके दुःख को दूर करने की कोशिश करना चाहिये।

करुणा पात्र में यही देखना चाहिये कि सचमुच वह करुणा करने के लायक है या नहीं? बहुत से लोग भीख मांगने को अपनी विवशता नहीं समझते किन्तु धंधा समझते हैं इसके लिये वे भीख मांगने की कला का अभ्यास करते हैं, लोगों का दिल पिघलाने की कला सीखते हैं, भीख मांगने के लिये व्यवस्थित टोलियां बनाते हैं इस काम के लिये नौकर रखते हैं। ये सब दान देने के पात्र नहीं हैं। ये लोग सिर्फ अपात्र ही नहीं हैं किन्तु समाज के शत्रु हैं। न केवल ये दुराचार फैलाते हैं किन्तु करुणापात्रों के जीवन को दूभर बनाते हैं।

बहुत से ऐसे आदमी अनुदार नहीं होते फिर भी करुणादान में हाथ सिकोड़ते हैं, कारण सिर्फ यही कि सौ में अस्सी आदमी करुणास्पद होने का ढोंग करते हैं और धोखा देते हैं। ढोंगियों के फैलने से असली करुणास्पद छिप जाते हैं उनकी करुणास्पदता ढोंगियों के आगे

फीकी मालूम होती हैं। इसप्रकार ये ढोंगी भिखारी मुफ्तखोर और दुराचारी बनते हैं साथही सच्चे भिखारियों के पेटपर मुक्का मारते हैं। करुणा-दान करते समय हमें इन कुपात्रों से बचना चाहिये।

प्रश्न—अगर सच्चे और झूठे भिखारियोंका पता लगाना कठिन हो तो सभी को दान क्यों न दिया जाय, झूठों को व्यर्थ जायगा पर एकाध सच्चे को तो मिल ही जायगा। झूठे भिकारियों के बहाने अपनी कृपणता छिपाने का मौका तो न मिलेगा।

उत्तर—यह नीतिकी किसी अंश में ठीक है। अपनी दानशीलता को नष्ट न करना चाहिये, उदार रहना चाहिये। हां, इतनी बात अवश्य है कि कुपात्र को देने मे पैसा सिर्फ़ व्यर्थ ही नहीं जाता बल्कि पाप भी बढ़ाता है। इसलिये पहिली बात तो यह है कि जहाँ तक हो यह परीक्षा करले कि कुपात्र तो नहीं है, हो तो दान न दे। अगर परीक्षा न हो सके किन्तु बुद्धि का झुकाव पात्र होने की तरफ़ हो तो दान दे दे। भावुकता के कारण ही दान न देना चाहिये।

प्रश्न—कई भिखारी बड़े चालाक होते हैं। वे ऐसे मौके पर माँगते हैं जब हम कुछ सम्भ्रान्त आदमियों में बैठ होते हैं जिससे न देने पर हमें शरमिंदा होना पड़े, कई भिखारी इतना परेशान करते हैं कि पिंड छुड़ाने के लिये कुछ देदेना पड़ता है भले ही वे कुपात्र हों। ऐसे अवसर पर अगर कुपात्र-दान हो जाय तो क्या किया जाय?

उत्तर—कभी कभी ऐसी परिस्थितियाँ आजाती हैं और हमें पिंड छुड़ाने के लिये ऐसा करना पड़ता है। ऐसा कर लेना क्षन्तव्य है कर्तव्य नहीं। इस प्रकार भिखारियों को छल करने या एक तरह से आततायी बनने के लिये उत्तेजित करना ठीक नहीं। कुपात्र-दान न होपाये इसका विचार रखना ही चाहिये, इसके लिये अगर थोड़ी बहुत लज्जा आदि का कष्ट उठाना पड़े तो उठाना चाहिये। पर दान देने में जिस प्रकार पात्र अपात्र का विचार करना ज़रूरी है उसी प्रकार उदार होना भी ज़रूरी है। कुपात्र-दान से बचने की ओट में अगर मनुष्य ने कंजूसी की तो उसकी कंजूसी दुहरा पाप हो जायगी, एक कंजूसी का पाप दूसरा दम्भ का पाप।

४—प्रेमपात्र—प्रेमपात्र उसे कहते हैं जिसे हम न तो उसकी दयनीयता के कारण न श्रद्धेयता के कारण दान देते हैं। जैसे—यात्रा में कोई भाई हमारे पास बैठे हैं। हम भोजन करने बैठे और उससे आग्रह किया आइये भोजन करें। उसको अपने पास का भोजन कराया तो वह प्रेमपात्र है। यह प्रेम विश्वप्रेम है, मनुष्यता का प्रेम है। इस प्रकार प्रेम-पात्र जगत् के सब प्राणी हैं इसमें ऊँच नीच छोटे बड़े अपने पराये का कोई भेद नहीं है।

५—व्यवहार—जिनके साथ हमारा सामाजिक सम्बन्ध है और उस सामाजिक सम्बन्ध को निभाने के लिये हम कोई दान करते हैं या खर्च करते हैं।

सामाजिक सम्बन्ध कई कारणों से होता है, पड़ोसी होना, एक राष्ट्र या प्रान्त के होना, एक मज़हब या वंश के होना, एक ही धंधे के होना या किसी कारण से जीवन में सहयोग होना आदि अनेक कारण सामाजिक सम्बन्ध के हैं। इस निमित्त से जो हम भोजन कराते हैं दान देते हैं वह एक तरह का विनिमय है। यह समाज-

व्यवस्था के अनुसार करना उचित है। यह विनिमय दूकानदार या ग्राहक सरीखा नहीं है इसलिये इसे लेन-देन या व्यापार नहीं कह सकते। एक प्रकार का यह दान ही है इसलिये जिन लोगों को यह दिया जाता है उनकी पात्रता का भी एक विभाग चाहिये। इसलिये उन्हें व्यवहार-पात्र कहा है।

दान करते समय पात्र को ही दान देनेकी कोशिश करना चाहिये और अनेक पात्रों में किस समय किस पात्र को दान देना है इसका भी विवेक रखना चाहिये।

ख—उपयोग—हम जो धन देते हैं वह किस काम के लिये देते हैं और उस काम में वह आसकेगा कि नहीं, इसका विचार भी करना चाहिये। कैसे कामों में दान देना चाहिये और उस में कैसी खबरदारी रखना चाहिये इस के कुछ नमूने यहां दिये जाते हैं जिससे लोगों को दान के उपयोग करने के विचार में सुभीता हो।

१—भूखों को भोजन देना।

इस में यह देखना चाहिये कि भिखारीने भीख मांगना धंधा ही तो नहीं बना लिया है, वह आलसी हरामखोर तो नहीं हो गया है, भीख का वह दुरुपयोग तो नहीं कर रहा है, आदि।

२—शिक्षा संस्थाएँ खुलवाना।

देखना यह चाहिये कि संस्थाएँ जातीयता या साम्प्रदायिकता का विष तो नहीं फैला रही हैं, शिक्षण निरुपयोगी तो नहीं हो रहा है, चरित्र पर बुरा प्रभाव तो नहीं डाल रहा है, बेकारी तो नहीं बढ़ा रही है आदि।

३—प्रचार के लिये पुस्तक और पत्रादि का प्रकाशन।

देखना यह चाहिये कि असत्य का प्रचार तो नहीं हो रहा है, घमंडकी पूजा तो नहीं हो रही है, प्रचार की ओट में स्वार्थियाने अपनी स्वार्थपूर्ति के अड्डे तो नहीं बना लिये हैं आदि।

४—धर्मस्थान बनवाना।

यह देखना कि धर्मस्थान में कोई अनाचार-णता है कि नहीं, कोरे नामके लिये या अपने पक्ष-पोषण के लिये तो यह धर्मस्थान नहीं बनवाया जारहा है? उस जगह उसकी जरूरत है कि नहीं आदि।

५—धर्मशालाएँ बनवाना।

यह देखना कि धर्मशालाएँ गुंडों के अड्डे तो नहीं बन रही हैं यात्रियों के लिये सुविधा है कि नहीं? आदि।

६—छात्रवृत्ति देना।

देखना यह कि इससे विद्यार्थी ऐयाश या अपव्ययी तो नहीं हो रहा है, उसे वास्तव में इसकी जरूरत है कि नहीं। छात्रवृत्ति के द्वारा जो वह अपने ऊपर नैतिक ऋण ले रहा है उसे चुकाने की भावना है कि नहीं? आदि।

७ लोकसेवकों की पूजा करना। उनके जीवन निर्वाह का उनकी यात्राओं का उनके द्वारा होने वाले प्रचार का प्रबन्ध करना।

देखना यह चाहिये कि जनसेवक निःस्वार्थी और ईमानदार है कि नहीं, उसकी सेवा आव-श्यक है कि नहीं? आदि।

८ औषधालय का प्रबन्ध करना।

देखना यह चाहिये चिकित्सक योग्य है कि नहीं? रोगियों से सद्व्यवहार किया जाता है, चिकित्सक धर्म की आट में स्वार्थ के लिये रोगियों का शिकार तो नहीं कर रहा है, आदि।

९ बिना ब्याज के गरीबों को पूँजी देना।

देखना चाहिये कि इससे वे आलसी और अपव्ययी तो नहीं बनते, वे ईमानदार रहते हैं कि नहीं आदि।

१० अन्याय दूर करने के लिये व्यक्तियों या संस्थाओं को सहायता करना।

देखना यह चाहिये कि अन्याय हटाने का मार्ग ठीक है या नहीं? इस काम में लगनेवाले व्यक्ति ईमानदार हैं या नहीं? वास्तव में अन्याय हटाया जा रहा है या अन्याय हटाने के बहाने दूसरों पर अन्याय किया जा रहा है।

११ देश के उद्योगधन्धे बढ़ाना।

देखना यह चाहिये कि यह उन्नति देश की बेकारी को तो नहीं बढ़ाती, सिर्फ़ राष्ट्रीय हित ही नहीं मानव-समाज का हित भी इसका लक्ष्य है कि नहीं। दूसरे देश के अपने देश पर होने वाले आर्थिक आक्रमण को रोकना ठीक है पर दूसरे देश पर आर्थिक आक्रमण न करना चाहिये। हां, जो अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यक विनिमय है वह किया जा सकता है। निःस्वार्थभाव से देश के उद्योग धन्धों को बढ़ाने या उन्हें निर्दोष बनाने के लिये दान देना भी बहुत उपयोगी है।

इस प्रकार हर एक दान में उसका उपयोग देखना चाहिये।

ग—विधि—दान जिस तरह दिया जाय उस पर दान का महत्त्व निर्भर है। झिड़क कर दान देना और प्रेम से दान देना इनमें बहुत अन्तर है। विधि के बिगड़ जाने से देना न देने से भी बुरा हो सकता है इसलिये यथायोग्य प्रेम के साथ दान देना चाहिये। भक्ति बन्धुत्व वात्सल्य आदि जिस भाव का मौका हो उसी भाव से और उसी ढंग से दान देना चाहिये।

किसी किसी समाज में दान की विधियाँ भी प्रचलित हो जाती हैं। साधुमुनि आदि को इस तरह प्रणाम करके हाथ जोड़कर प्रदक्षिणा देकर दान देना चाहिये यों पैर छूना चाहिये यों बोलना चाहिये आदि। पात्रदान की ये विधियाँ सिर्फ़ इसलिये थीं कि दानी में अहंकार न आ जाय और लेनेवाला जनसेवक दीनता का अनुभव न करने लगे। इस भाव की रक्षा होना चाहिये पर मनुष्य को ईश्वर की तरह पूजना ठीक नहीं और सम्प्रदाय या वेष के विचार से ऐसी विधियाँ चलाना भी ठीक नहीं है। नम्रता प्रगट करने के साधारण शिष्टाचार रहना चाहिये। विधि की विडम्बना ठीक नहीं।

घ—अवसर—दान में अवसर का बड़ा मूल्य है मौके पर दिया हुआ पैसा रुपये से भी कई गुणा बन जाता है। बे मौके दिये हुए रुपये की कीमत पैसे से भी कम हो जाती है। एक छोटे से पौधे को मौके पर लोटा भर जल दिया जाय तो बड़े काम का होगा, सूख जाने पर घड़ों पानी डाला जाय तो किस काम का? अथवा वह पौधा जब बड़ा झाड़ बन जाय तो उसके लिये तुम लोटे पर पानी डालो या न डालो उसके लिये बराबर है। मेरे पास खाने को है तब तुमने खिलाया तो उसका बहुत कम मूल्य है मेरे पास खाने को नहीं है तब तुमने खिलाया तो उसका बड़ा मूल्य है।

महावीर बुद्ध आदि महात्माओं के कार्य में जिनने प्रारम्भ में सहयोग दिया, दान दिया उनका जो स्थान है वह उनके पीछे सैकड़ों गुणा देने वालों का नहीं है।

दान के लिये अवसर का सदा खयाल रखना चाहिये इस के लिये विवेक और सतर्कता की ज़रूरत है। जैसे बीज बोने मे हमें अवसर का ख़याल रखना पड़ता है उसी प्रकार दान में भी रखना चाहिये।

ङ-वस्तु—दान मे वस्तु का विचार भी विचारणीय है। कब कहां किस वस्तु का महत्व है इसका विवेक रखकर दान देना चाहिये एक साधु घर आया उसे आदर प्रेम से भोजन करा दिया। सम्भव है इस में चार आने का ही खर्च हो पर उसकी क़ीमत बढ़ जायगी इस के बदले एक रुपया देकर उसे भूख विदा करने से दान की क़ीमत कम होगी। इसमें भी पूरे विवेक की ज़रूरत है। कहीं भोजन की क़ीमत ज्यादा है कहीं रुपयों की, कहीं और चीज़ की। देशकाल पात्र देखकर वस्तु की उपयोगिता का विचार करे फिर दान दे।

वस्तु के विचार के कारण कहीं कहीं रुपयों पैसों की जगह कुछ कपड़ा आदि देने का रिवाज बन जाता है कुछ समय तक तो ठीक, बाद में वह रिवाज विवेकशून्य होने से निरर्थक होजाता है। ऐसी चीज़ देना जिसका उसके यहां उपयोग न हो; तुम आठ आने में लाकर दान दो वह पांच छः आने में बाज़ार में बेचता फिरे, इसकी अपेक्षा आठ आने पैसे देना ही अच्छा।

नियम कुछ नहीं बनाया जा सकता, विवेक ही इसका नियम है। कहाँ किस चीज़ की क्या उपयोगिता है इसका विचार करके दान देना चाहिये।

च-दाता-दाता के अनुसार भी दान का महत्व घटता बढ़ता है। एक ग़रीब आदमी पांच रुपया दे और एक धनी आदमी पांच रुपया दे इसमें बहुत अन्तर है, ग़रीब आदमी के पांच रुपये के साथ जितना दिल है अमीर आदमी के पांच रुपये के साथ उतना दिल नहीं है, ग़रीब आदमी अपनी जायदाद का जितना हिस्सा दे रहा है अमीर उतना नहीं दे रहा है इसलिये अमीर के पांच रुपयों की अपेक्षा ग़रीब के पांच रुपयों का महत्व अधिक है। इसीप्रकार और भी दाता की विशेषताएँ हो सकती हैं। दाता की परिस्थिति दान देने योग्य जितनी कम होगी दान का मूल्य उतना ही अधिक बढ़ेगा। इसके सिवाय और भी कारण हो सकते हैं जिनसे दाता के कारण दान का महत्त्व बढ़ जाय। दाता ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति हो जिसके देने से और दूसरे आदमी दान देने लगें तो इस दृष्टि से भी दाता की विशेषता से दान की विशेषता सिद्ध होगी।

छ-ध्येय-दान की विशेषता बताने वाला यह बहुत महत्वपूर्ण कारण है। ध्येय की खराबी से दान अदान या कुदान हो जाता है। कोई विश्व कल्याण के लिये देता है, कोई यश के लिये देता है कोई किसी तरह का स्वार्थ सिद्ध करने के लिये देता है, कोई इसलिये देता है कि डर के मारे उसे देना पड़ रहा है, ध्येय के भेद से इन सब दानों में अन्तर है। विश्वकल्याण के ध्येय से जो दान दिया जाता है वही सच्चा दान है। दान देने में जितने अंश में यश की आकांक्षा है उतने ही अंश में दान की कमी है। वह रोज़गार है। यह ठीक है कि दानी को यश मिलना चाहिये पर दानी को भी यश से इतना निरपेक्ष अवश्य रहना चाहिये कि दान का जहां अधिक उपयोग हो जहां अधिक ज़रूरत हो लेनेवाला

सुपात्र हो वहाँ यश न मिले या कम मिले तो भी वहाँ दान दे सके और दान निरुपयोगी आदि हो पर यश अधिक मिलता हो तो भी वह वहाँ न दे, यश की पर्वाह न करे।

यश की लालसा तीव्र होजाने पर दान दान नहीं रहता लेन देन अर्थात् व्यापार हो जाता है। विश्वकल्याण के लिये दान किया जाय तो विश्व-कल्याण रूपी अन्न के साथ यश-रूपी भूसा मिल ही जाता है इसलिये यश को ध्येय न बनाना चाहिये।

यश आदि के लिये दान करनेवाला मनुष्य ईमानदारी से धन पैदा करने की पर्वाह नहीं करता वह किसी भी तरह सम्पत्ति पैदा करता है और यश का आनन्द लूटना चाहता है पर जिसे यश के आनन्द की पर्वाह नहीं है वह प्रायः पाप से सम्पत्ति पैदा करने की कोशिश न करेगा वह देखेगा कि दान तो विश्वकल्याण के लिये करना है सो यदि धन पैदा करने में ही विश्व का महान अकल्याण हो जाय तो दान के द्वारा कल्याण करने की इच्छा से वह अकल्याण क्यों करना चाहिये। पैर धोने के लिये कीचड़ में पैर डालने का क्या अर्थ है?

गुप्तदान इसीलिये महान है कि उसमें यश लेकर न तो दान का बदला लिया जाता है न पाप की उत्तेजना को साधन मिलता है।

ध्येय को पहिचानने के लिये दान के नव भेद कहे जा सकते हैं। इन भेदों में से कौन सा दान किस श्रेणी में है इसका पता लगाया जा सकता है।

१ वंचक दान, २ भुक्तदान, ३ मत्तदान, ४ व्याकुलदान, ५ रूढ़िदान, ६ प्रत्युपकारदान, ७ निरपेक्षदान ८ अनामदान, ९ गुप्तदान।

१ **वंचकदान**--किसी को ठगने के लिये धोखा देने के लिये अनैतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिये दान देना वंचकदान है। यह पाप है।

२--**भुक्तदान**--इस शर्त पर दान देना कि हमारा नाम जोड़ो, हमारी मूर्ति या चित्र स्थापित करो, हमारे नाम का शिलालेख आदि लगाकर रक्खो, भुक्तदान है। यह दान तो है पर इसका फल पहिले ही भोग लिया गया है, इसलिये इसका आध्यात्मिक मूल्य नष्ट हो गया है।

३-**मत्तदान**- घमंड में आकर दूसरे को नीचा दिखाने के लिये दान करना मत्तदान है। इसका भी आध्यात्मिक मूल्य कुछ नहीं है।

इन दोनों दानों में पात्र आदि का विवेक भी बहुत कम हो जाता है। इन दानों का उपयोग भी है पर अगर दान इन श्रेणियों न आकर अच्छी श्रेणियों में आवे तो बहुत अच्छा।

४-**व्याकुलदान**-कोई भिखारी माँग-माँग कर परेशान कर रहा है, या शर्मिन्दा कर रहा है उससे पिंड छुड़ाने के लिये दान देना व्याकुलदान है। यह क्षन्तव्य है कर्तव्य नहीं।

५ **रूढ़िदान**-विवेक या इच्छा से नहीं किंतु जहाँ रूढ़ि का पालन करने के लिये ही दान किया जाय वह रूढ़िदान है। इसका भी आध्यात्मिक मूल्य नहीं है। पर देनेवाले में श्रद्धा हो या मनमें कुछ संक्लेश न हो तो यह रूढ़िदान निरपेक्षदान या अनामदान बन जायगा। दान की जो रूढ़ियाँ उपयोगी हैं उन्हीं के पालन में दान उत्तम होता है अन्यथा रूढ़िदान व्यर्थ हो जाता है?

६-**प्रत्युपकार दान**--किसी आदमीने हमारा उपकार किया हो किसी संस्था से हमने किसी प्रकार का लाभ उठाया हो तो उसके बदले में

कृतज्ञतापूर्वक दान देना प्रत्युपकार दान है। यद्यपि यह एक प्रकार का विनिमय है पर साधारण विनिमय से इसलिये ऊँचा है कि इस में उपकार से प्रत्युपकार की मात्रा अधिक रहती है। यह आवश्यक दान है।

७–निरपेक्ष दान–जहाँ नाम वगैरह की मुख्यता न रक्खी जाय, न नाम वगैरह की ऐसी कोई शर्त रक्खी जाय, जनहित का ही विचार हो, वहां दान निरपेक्ष दान कहा जाता है। कोई संस्था नियमानुसार प्राप्तिस्वीकार में नाम छापे हिसाब में नाम दिखावे, या दान के बहुत वर्षों बाद अपनी प्रेरणा के बिना अपने दान के स्मारक के रूप में अपना नाम दे तो यह बात दूसरी है। इससे निरपेक्ष दान को कोई धक्का नहीं लगता अर्थात् वह भुक्तदान नहीं बनजाता।

८ अनामदान–जिस में दान तो हो पर दान का नाम न हो अर्थात् व्यवहार में उसे दान न कहते हों तो वह अनाम दान है। जैसे गरीब या बेकार लोगों को रोटी मिले इसलिये उनके हाथ की बनाई हुई चीज़ खरीदना, जब कि बाज़ार में उससे अच्छी या सस्ती चीज़ भले ही मिलती हों। दो आने गज मिल का कपड़ा बाज़ार मे मिलता हो और उससे कुछ खराब खादी चार आना गज़ मिलती हो तो एक गज़ खादी पहिनने से हम करीब दो आने का दान करेंगे पर न तो लेने वाला इसे दान समझेगा क्योंकि उसने मजदूरी काफ़ी की थी और न दुनिया इसे दान समझेगी. इसप्रकार दान का नाम तो न होगा पर दान हो जायगा। यह अनाम दान है। यह एक व्यापक और अच्छा दान है।

९–गुप्तदान–इस प्रकार से दान देना कि दुनिया को जितना पता लगना चाहिये उतना पता न लगे, अथवा बिलकुल पता न लगे अथवा लेने वाले को भी पता न लगे, यह गुप्तदान है। इस दान में निर्मोहता ऊँचे दर्जे की होती है इसलिये यह श्रेष्ठदान है।

ज–प्रेरणा—जो दान अपनी समझदारी से बिना किसी की प्रेरणा के दिया जाता है वही उत्तम दान है। जो साधारण सूचना पाकर दिया जाता है या संकेत से समझकर दिया जाता है वह भी अच्छा है। जो अनेक बार माँगने और विशेष अनुरोध करने पर दिया जाता है वह मध्यम दान है जिसमें अनुरोध यहाँ तक बढ़जाता है कि अनुरोध को न मानने में लज्जा मालूम होने का डर आजाता है वह जघन्य दान है।

दान जहाँ तक बन सके अपनी इच्छा से और बिना माँगे देना चाहिये। हां, 'यहाँ ज़रूरत है कि नहीं' इसकी सूचना की बाट देखना कोई बुरी बात नहीं है।

दान देने में हम जितना दूसरों को परिश्रम कराते हैं दान का मूल्य उतना ही कम हो जाता है। इस बात का हिसाब लगाकर भी हम समझ सकते हैं। मानलो एक संस्था को हमने सौ रुपये दिये उसके लिये कई बार उस संस्था को पत्र डालना पड़ा एक दो बार आदमी भेजना पड़ा आपके किसी मित्र से अनुरोध कराना पड़ा। संस्थाको सौ रुपये मिले पर आपके मित्र का अहसान दो चार पत्रों का डाक खर्च, उनकी लिखाई की महनत आने जाने का खर्च या कष्ट बार बार माँगने का संकोच सब मिलकर जो खर्च हुआ उसमें आधे से अधिक दान का मूल्य चला गया। इसलिये हमारे दान का मूल्य भी आधे से कम रह गया। इसलिये जहां तक बने

अपनी ही प्रेरणा से दान देना चाहिये । और दान को पहुँचाने में विलम्ब न करना चाहिये न दूसरों से परिश्रम कराना चाहिये, जितना परिश्रम कराया जायगा उतना ही मूल्य कम हो जायगा।

प्रश्न--हम किसी को दान देना चाहते थे पर इतने में उसने या किसी ने अनुरोध कर दिया तो अपने दान का मूल्य कम न हो जाय इसलिये हमारा विचार होगा कि उस समय हम दान न दें बाद में अपनी इच्छा से दान दें, अथवा उस जगह दान न दें दूसरी जगह अपनी इच्छा से दें।

उत्तर--इस तरह की वंचना से हम दुनिया की आंखों में धूल झोंक सकते हैं वह भी सौ में एकाध जगह सो भी बड़ी मुश्किल से, पर सत्येश्वर की आँखों में धूल नहीं झोंक सकते। अगर हमारे मनमें स्वेच्छा से दान देने के भाव थे तो दूसरे के अनुरोध से भी उसका मूल्य कम न होगा इसलिये हमें उस जगह दान रोकने की कोई ज़रूरत नहीं है। मन में दान का भाव नहीं था पर दूसरे की प्रेरणा से पैदा हुआ तो तुम्हारे दान का मूल्य उतने अंश में कम होकर दूसरे को मिल ही गया, अब भले ही तुम उस समय दान न देकर दूसरे समय दो या उस जगह दान न देकर दूसरी जगह दो। बल्कि दूसरे की सफल और उचित प्रेरणा को स्वीकार न कर के कृतघ्नता का पाप और सिरपर लाद लिया गया। इस प्रकार वञ्चना करने से दान का मूल्य तो कम हुआ ही साथ ही कृतघ्नता हुई और दूसरे के उचित अनुरोध को स्वीकार न करके तुमने कुछ जुदाई पैदा की। इसलिये यही ठीक है कि किसी की प्रेरणा से अगर दान देने का भाव आया तो जितनी जल्दी दिया जा सके उतनी जल्दी दे देना चाहिये उसे रोककर दान का मूल्य कम न करना चाहिये।

दान के इन सब निमित्तों का विचार कर के उत्तम दान देना चाहिये।

इस में सन्देह नहीं कि दान हमारे मुख्य कर्तव्यों में से है, हमारे भीतर दान की भावना रहना चाहिये पर दानी बनने के लिये अन्याय से धन पैदा करना ठीक नहीं।

समाज के लिये दानी होना इतने गौरव की बात नहीं है जितने गौरव की बात अन्यायी और पीड़ितों का न होना है। धन के विनिमय के नियम कितने ही अच्छे बनाये जायँ अगर सुव्यवस्था और समुन्नति होगी तो विनिमय के नियमों के पालन करने पर भी कहीं ज़रूरत से और कहीं ज़रूरत से ज्यादा सम्पत्ति हो ही जायगी। यह विषमता दान से दूर करना चाहिये। और भाई चारा स्थापित करने के लिये भी दान करना चाहिये।

एक तरह से दान को हम अतिग्रह का प्रायश्चित्त कह सकते हैं फिर भी प्रायश्चित्त और साधारण दान में अन्तर है। जिस पाप का प्रायश्चित्त किया जाता है प्रायश्चित्त के बाद उसका त्याग करना ज़रूरी है। इसलिये दान के बाद दुरर्जन का त्याग किया जाय तो प्रायश्चित्त होगा। बार बार पाप कर के बार बार प्रायश्चित्त करने में प्रायश्चित्त नष्ट हो जाता है, और यह विचार कि दान से प्रायश्चित्त हो ही जायगा मन चाहा अतिग्रह करते चलो, दान को व्यर्थसा बना देता है। इसलिये दानी दुरर्जन बन्द करके जब दान करता है तब प्रायश्चित्त होता है।

फिर प्रायश्चित्त की भी मर्यादा है। लाख रुपये का अतिग्रह और हज़ार पाँचसौ रुपये का

दान, इसमें प्रायश्चित्त न हुआ। अतिग्रह के अनुसार ही दान होना चाहिये तब प्रायश्चित्त होगा।

बहुत से लोग दान इसलिये करते हैं कि प्रतिष्ठा आदि बढ़ जाने से अतिग्रह का अधिक अवसर मिले। उनका दान दान नहीं है किन्तु व्यापारिक विज्ञापन है, व्यापार धंधे की एक चाल है।

असली और पवित्र दान उनका है जिनने पूरी ईमानदारी से धन पैदा किया है, समाज के नियमों का दुरुपयोग नहीं किया है अपनी मिहनत और सेवा से धन कमाया है फिर विवेकपूर्वक बिना किसी की प्रार्थना के समाजहित के काम में यश की मुख्यता के बिना धन खर्च किया है। पवित्रदान के इन विशेषणों में से जो विशेषण कम होगा दान का मूल्य भी उसके अनुसार कम होजायगा।

फिर भी सामर्थ्य होने पर हर हालत में दान करना ही चाहिये क्यों कि इससे कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा। थोड़ी बहुत अपनी या दूसरों की भलाई हो ही सकेगी।

दान का मुख्य उद्देश्य धन के बटवारे की विषमता को यथाशक्य कम करना और समाज हित के ज़रूरी कामों में सहायता पहुँचाना है। पाप से पैसा पैदा किया जाय तो दान से सारा पाप न धुलजायगा फिर भी कुछ न कुछ अवश्य धुलेगा। इसलिये दान में इतना विचार करके कि दान के दुरुपयोग से समाज में पाप दुःख अनाचार तो नहीं फैलता है, हर हालत में जितना दान दिया जा सके अच्छा है। हां, पवित्र दान के लिये जो विशेषण बताये गये हैं उनको पूरा करने की जितनी अधिक कोशिश की जाय उतना ही अधिक स्वपर-कल्याण बढ़ेगा।

२ सेवा—दूसरा अभ्यास धर्म-सेवा है। इसका विवेचन परिचर्या नाम के तप में किया गया है। सेवा भी बहुत ज़रूरी धर्म है इसका अभ्यास तन और मन दोनों से करना चाहिये। शरीर में ताक़त रहने पर भी जिस कामका अभ्यास नहीं रहता उसे करने में कठिनाई जाती है इसलिये परिचर्या का थोड़ा बहुत अभ्यास बना रहे तो अच्छा।

पर तन की अपेक्षा मन के अभ्यास की ज्यादह ज़रूरत है। सेवा करने से इज्जत कम हो जायगी, आदि अनेक भ्रम मन में बैठजाते हैं। ये भ्रम निकाल देना सेवा का मुख्य अभ्यास है। इसके अतिरिक्त भी सेवा का अभ्यास करना चाहिये जिस से हमारा शरीर उस के अनुकूल बनसके, उस में सहिष्णुता आजाय।

३ विनय—विनय भी एक अभ्यास धर्म है। तपके प्रकरण में त्रेसठ प्रकार का विनय बताया गया है उसीका यथाशक्ति अभ्यास करना चाहिये।

विनय शिष्टाचार का प्राण है। विनय मन की वह वृत्ति है जो प्रेम और गुणग्राहकता से तथा अहंकार को हटाने से पैदा होती है। उसके होने पर शिष्टाचार का पालन प्रायः आप से होने लगता है। विनय न हो तो शिष्टाचार का बड़ा ख़याल रखना पड़ता है इसलिये शिष्टाचार बोझ होजाता है।

हां, यह बात अवश्य है कि शिष्टाचार भी भाषा की तरह सीखना पड़ता है। कहीं पर कोई कार्य शिष्टाचार के ख़िलाफ़ समझा जाता है, इसलिये बालकों को या बड़ों को नई जगह में जाने पर शिष्टाचार के नियम सीखना चाहिये या उन्हें सिखाना चाहिये।

बड़ी अवस्था में शिष्टाचार सीखने का अच्छा तरीका यह है कि दूसरे के उठने बैठने आदि का निरीक्षण किया जाय। क्यों कि शिष्टाचार कहकर कराने में उस की कीमत घट जाती है। शिष्य को गुरु के सामने कैसे बैठना चाहिये यह बात गुरु को सिखाना पड़े तो इस में गुरु के गौरव को धक्का लगता है मातापिता को भी इस बात के सिखाने में संकोच होगा कि सुबह उठकर माँ बाप को प्रणाम करना चाहिये। जिसके विषय में शिष्टाचार दिखाना है उसी से उसकी शिक्षा मिलना कठिन है इसलिये यह बात अपनी बुद्धि से विचार कर या इधर उधर देखकर सीखलेना चाहिये।

सब से अच्छी बात यह है कि जैसा शिष्टाचार हो वैसा ही मन का भाव हो। पर अगर किसी कारण से मन का भाव बदल जाय तो जहाँ तक सम्भव हो और जहाँ तक उचित हो वहाँ तक पहिले से चले आये हुये शिष्टाचार को निभाते रहना चाहिये।

४–सरलता—विचार और सभ्य व्यवहार की एकता का नाम सरलता है। मुँह में राम बगल में छुरी की कहावत से उल्टा जीवन बिताने की कोशिश करना सरलता का अभ्यास है। कहने को विचार और दुर्व्यवहार की एकता भी सरलता है, मन में भी वैर रक्खा और मुँह से भी गालियाँ बकीं यह भी एक तरह की सरलता है पर इस सरलता को सरलता नहीं कहते क्यों कि यह दुर्गुण है पाप है, यहाँ सरलता-रूप गुण से मतलब है।

सरल मनुष्य के जीवन में न तो ऐसा अटपटापन होता है कि सम्पर्क में आनेवाले भले आदमी भी घबराते रहें, न उसमें ऐसी वंचकता होती है कि लोग उससे चौकन्ने रहें। वह अपने व्यवहार से निर्दोष आदमियों के मन में भय पैदा नहीं होने देता, उन्हें उससे धोका खा जाने की शंका नहीं होती। ऐसे मनुष्य का लोग आदर कम ज्यादह कैसा भी करें पर उससे प्रेम करते हैं।

सरलजीवन बिताने से मनुष्य के मन पर और स्नायुओंपर ज़ोर नहीं पड़ता जब कि कुटिल जीवन बिताने में काफ़ी ज़ोर पड़ता है उसे हर समय चौकन्ना रहना पड़ता है हर समय डरता सा रहता है।

हमसे पापी डरते रहें अथवा हमारी किसी आवश्यक दिनचर्या के कारण किसी को अटपटा-पन सा मालूम हो तो बात दूसरी है पर साधारणतः अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिये जिस से लोग निर्भय रहें, और निःसंकोच होकर अपना दुःख सुख कहसकें।

५–कोमलता—मन में वाणी में और व्यवहार में प्रेम छलकता सा मालूम हो इसका नाम कोमलता है। दूसरे का दुःख देखकर दुःखी होजाना, बहुत जरूरी होने के सिवाय अपने शब्दों में और स्वर में कठोरता न आने देना कोमलता है। बहुत से लोगों के बोलने का या कोई काम कराने का ढंग ऐसा होता है कि उनके शब्द सिरपर डंडे से बैठते हैं जब कि बहुत से लोग आज्ञा भी देते हैं तो उस में शब्द का विन्यास और स्वर ऐसा रहता है कि न तो उस में दीनता होती है न कठोरता, यह कोमलता की निशानी है।

दिलसे दिल मिलाने के लिये, दूसरों का दुःख घटाने के लिये, अनावश्यक भय अपमान

और दुःख न बढ़ने देने के लिये सरलता एक जरूरी गुण है।

सरलता के लिये अपने मुँह को भी वश में करने की जरूरत है और मन को भी। मुँह को कोमल बनाने की ज़रूरत तो है ही, पर मन को कोमल बनाने की जरूरत उससे भी ज्यादह है। बहुत से लोगों के मुँह में कोमलता आजाती है पर मन में कोमलता नहीं आने पाती। फल यह होता है कि मुँह की कोमलता का फल रुपये में एक पाई से अधिक नहीं होने पाता और उसके लिये उन के मनपर बड़ा जोर पड़ता है। कोमलता जब मन में होती है तभी वह सप्राण बनती है।

६-**क्षमा**--वैर की वासना दिल में न रखना, दूसरों की भूल सुधारने के लिये सम्भव और उचित अवसर देना, पाप से घृणा रखते हुए भी पापी से घृणा न रखना या उतनी ही रखना जितनी कि पाप से घृणा रखने के लिये ज़रूरी हो गई हो, क्षमा है। क्षमा जीवन में जितनी जरूरी है उससे भी ज्यादह उसके पालन में सतर्कता की जरूरत है। कौन आदमी कितनी क्षमा का पात्र है इसका भी ख्याल रखना जरूरी है। कभी कभी ऐसा होता है कि हम किसी के दोष दुर्गुण अत्याचार सहन करते जाते हैं और इस ढील से उसके दोष दुर्गुण अत्याचार बढ़ते जाते हैं इस प्रकार एक दिन वह इतना उद्दाम हो जाता है कि अपना और दूसरों का नाश कर बैठता है। इसलिये कोई अपात्र क्षमा का दुरुपयोग न कर बैठे इसका ख्याल रखना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि जहां कमजोरी है वहां क्षमा का असर नहीं होता। वह तो आत्मरक्षा की एक नीति बन जाती है। इसलिये वहां हमें क्षमा के फल की आशा न रखना चाहिये।

इन सब अपवादों का ख़याल रखते हुए हमें क्षमा का अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिये। क्षमा न करने से वैर की परम्परा चलती है इससे अपने और मानव समाज के कष्ट बढ़ते हैं। हर एक मनुष्य न तो पूर्ण संयमी होता है न पूर्ण ज्ञानी, इसलिये कभी स्वार्थवश, अभिमानवश या कभी नासमझी से भूलें हो जाती हैं। अगर हम एक दूसरे की भूलें दर गुजर न करें तो समाज रचना ही असंभव हो जाय। इसलिये न्याय या मानव-जीवन की चिकित्सा के लिये कभी कोई कठोर काम करना पड़े तो उस अपवाद को छोड़कर हमें अधिक से अधिक क्षमाशील बनना चाहिये। और इस बात का भी ख़याल रखना चाहिये कि सजगता सतर्कता आदि रहने पर भी वैर की वासना दिल में न रहे।

७ **श्रम**--शरीर और मन की शक्ति का उपयोग करना श्रम है। प्रकृति ने हमें जो कुछ दिया है उसे हम बिना श्रम के नहीं पा सकते और पा भी जायँ तो उससे हमारी गुजर नहीं हो सकती। पशु-पक्षियों को प्राकृतिक जीवन बिताने के लिये श्रम करना पड़ता है फिर मनुष्य ने तो अपना जीवन काफ़ी साधन-सम्पन्न बनाया है उसके लिये तो कई गुणा बौद्धिक और शारीरिक श्रम चाहिये।

विकास में शारीरिक श्रम की अपेक्षा मानसिक श्रम की कीमत अधिक है पर वह हर एक के वश का नहीं है। यों तो हर एक काम में मन और शरीर दोनों को श्रम करना पड़ता है पर जिस काम में चिन्तन की स्मरण की मुख्यता होती है वह काम मानसिक श्रम कहलाता है। यह हर एक के लिये नहीं है और यदि है

भी तो उस पर यहां जोर देने की जरूरत नहीं है। यहां पर श्रम से हमारा मतलब मुख्यरूप से शारीरिक श्रम है।

मानव समाज के अधिकांश व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से आलस्य के पुजारी हैं, और बहुत से आदमी शरीर-श्रम को नीची निगाह से देखते हैं। मानव समाज का यह बड़ा भारी दुर्भाग्य है। इससे मनुष्य में झूठा अहंकार पैदा होता है, एक का जीवन दूसरे पर बोझ बनता है, जिन पर बोझ पड़ता है उनका अतिश्रम से और जिनका बोझ पड़ता है, उनका अश्रम से स्वास्थ्य खराब हो जाता है, आलस्य के कारण बहुत से काम अव्यवस्थित अधूरे रह जाते हैं या बिलकुल नहीं हो पाते, ईर्ष्या द्वेष असन्तोष और घृणा बढ़ती है, इस प्रकार मानव-जीवन की अनेक तरह से बर्बादी होती है।

कौटुम्बिक अशान्ति का एक बड़ा भारी कारण श्रम का न होना है। मैं तो इतना काम करता हूं वह तो करता ही नहीं, इत्यादि बातों को लेकर झगड़े होते हैं, कुटुम्ब नष्ट हो जाते हैं। अपनी अपनी योग्यता के अनुसार सभी को श्रम करना आवश्यक है।

श्रम स्वास्थ्य के लिये भी जरूरी है। जो लोग श्रम नहीं करते वे बीमार होकर जितना कष्ट भोगते हैं उसकी दशमांश भी सुख आलस्य में नहीं पाते।

श्रम जीवन में हर तरह उपयोगी है इसलिये श्रम की प्रतिष्ठा करना चाहिये। श्रम की प्रतिष्ठा का यह मतलब नहीं है कि किसी खास तरह के श्रमपर प्रतिष्ठा की छाप मारकर प्रदर्शन के लिये वह किया जाय। श्रम प्रतिष्ठित हो या अप्रतिष्ठित, उसकी उपयोगिता की दृष्टिसे उसका विचार निः-संकोच होकर करना चाहिये। अनावश्यक श्रम के प्रदर्शन से श्रम का काम तो होता नहीं है साथ ही श्रमी होने का झूठा अहंकार आजाता है। इसलिये श्रम का ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि जिससे हमारा शरीर दूसरों की सुविधा बढ़ावे, दूसरों के काम का और खर्च का बोझ कम करे, और हमारे जीवन में एक तरह का स्वावलम्बन आ जाय।

८ दम—इन्द्रियोंका दमन करना, उन्हें अपने वश में रखना दम है। इन्द्रियाँ यों तो पांच बताई जाती हैं स्पर्शन, जीभ नाक, आँख और कान, पर दम में दो बातों की मुख्यता है। एक शील दूसरा रसविजय। स्पर्शन इन्द्रिय का एक मुख्य भाग है लैङ्गिक इन्द्रिय। इस को वश में रखना शील है। जीभ को वश मे रखना रस-विजय है। लैङ्गिक इन्द्रिय और जीभ सभी प्राणियों में बहुत तीव्र रहती हैं। लैङ्गिक इन्द्रिय इतनी वश में तो रहना ही चाहिये जिससे मनुष्य व्यभिचार से बचा रहे पर अभ्यासी को इसका भी अभ्यास करना चाहिये कि अतिभोग न होने पावे। जिससे स्वास्थ्य और कर्तव्य में बाधा पड़े उसे अतिभोग समझना चाहिये।

दम में दूसरी बात जीभ को वश में रखने की है। भोजन का ध्येय शरीर को स्वस्थ और सबल रखना है, जीभ इसलिये है कि इस से भक्ष्य अभक्ष्य की पहिचान की जा सके। जीभ का और भोजन का मुख्य उपयोग यही है। हां, अगर अपने और दूसरे के हित में बाधा न आवे तो स्वाद का सुख भी लिया जासकता है पर स्वाद के वश में न हो जाना चाहिये। स्वाद के लिये अनीति करना पडे पक्षपात दिखाना पड़े

ऋण लेना पड़े चित्त में व्याकुलता हो, यह बात न होना चाहिये।

लैङ्गिक इन्द्रिय और जीभ को वश में कर लेने पर दम का अभ्यास आधे से बहुत ज्यादह हो जाता है। रह जाती है अन्य इंद्रियों को वश में रखने की बात, सो उन्हें भी वश में रखने की कोशिश करना चाहिये।

संगीत से या सौन्दर्य से लुभाकर लोग सर्वस्व गमा बैठते हैं, अनुचित कृत्य कर बैठते हैं, सत्य का अपमान और असत्यका आदर कर बैठते हैं। इन सब अनर्थों से बचने के लिये सभी इन्द्रियों को वश में रखने का अभ्यास करना चाहिये।

९ **शम**—शान्ति गम्भीरता अनुद्वेग आदि को शम कहते हैं। बहुत लोग बहुत जल्दी आवेश में आजाते हैं क्रोध और अभिमान के कारण उनका पारा और ऊँचा चढ़जाता है इस से वे बहुत अनुचित बातें बक जाते हैं या बहुत अनुचित कार्य कर जाते हैं यह उद्दंडता शम से दूर करना चाहिये। शम एक तरह की ठंडी शक्ति है जो मनुष्य को बड़ी बड़ी चोटों का भी सामना करने योग्य बनादेती है। शम न होने पर मनुष्य बहुत दुःखी होता है और दूसरों को दुःखी कर जाता है। पीछे पश्चाताप भी हो तो भी लोग उससे डरते रहते हैं कि न जाने किस मौके पर यह क्या कर बैठे या क्या कह बैठे। इसलिये अपने आवेगों को वश में रखने की शक्ति पैदा करना चाहिये नहीं तो हमारा जीवन सभ्य समाज में रहने लायक न रहेगा।

शम का अर्थ छल नहीं है। धोका देने के लिये शान्ति बताना शम नहीं कहा जा सकता। वह तो मायाचार है। शम में तो उद्वेगों को शान्त रखा जाता है और उनका दुष्प्रभाव मन पर नहीं पड़ने दिया जाता।

१० **न्याय**—आचार विचार की बात का निष्पक्षतापूर्वक मनोयोग लगाकर निर्णय करना न्याय है। न्याय को दबाने से लोगों में घृणा, अविश्वास, और किसी भी दूसरे उपाय से अधिक से अधिक बदला लेने की भावना पैदा होती है। सभ्यता और असभ्यता की अच्छी पहिचान यही है कि जो शक्ति के आगे झुकना नापसन्द करते हैं वे सभ्य हैं, जो शक्ति के आगे झुकना पसन्द करते हों वे असभ्य हैं। बहुत से लोग या जन-समूह ऐसे होते हैं जो कहते हैं कि हम बहादुरों की इज्जत करते हैं और बहादुर वे उसे कहते हैं जो अपनी शक्ति से दुनिया को उत्पीड़ित करते हों। सभ्य भी वे उन्हें ही कहते हैं जो दूसरे लोगों को, दूसरे मुल्कों को नष्ट कर सकते हों। इस प्रकार उत्पीड़न में ही बहादुरी और सभ्यता मानने लगते हैं। ऐसे ही लोग हैं जो इस दुनिया को नरक का नमूना बना डालते हैं। शक्ति की सदा आवश्यकता है पर उसका उपयोग न्याय की रक्षा के लिये, मानवजाति के संकटों को दूर करने के लिये, सुखसाधनों को बढ़ाने के लिये होना चाहिये। शक्ति थोड़ी ही क्यों न हो पर अगर उसका उपयोग न्याय के ही मार्ग में हो तो उस थोड़ी शक्ति से भी सभ्यता और बहादुरी का पूरा परिचय मिल सकता है, और काफी जन-कल्याण हो सकता है। न्याय की उपेक्षा करके जो शक्ति होगी वह जितनी ही अधिक होगी उतना ही बड़ा नरक दुनिया में बनायेगी। सुखशान्ति के लिये, मानवता के विकास के लिये, सुखशान्ति बढ़ाने के लिये, पाप के विषैले अंकुरों को या विषवृक्षों को उखाड़ने के लिये न्याय-धर्म बहुत जरूरी है।

हम अपने कुटुम्ब में न्याय का परिचय दें तो हमारा कुटुम्ब संगठित सन्तुष्ट और सुखी हो। मुहल्ले और नगर में न्याय का परिचय दें तो मुहल्ले और नगर का हर एक आदमी बड़ी निर्भयता से रह सके और मनुष्य की रक्षण सम्बन्धी चिन्ता आधी से भी कम रहजाय, साम्प्रदायिक और जातीय कलहका अन्त हो जाय।

जिस क्षेत्र में भी हम न्याय का परिचय देंगे उसी क्षेत्र में सहयोग प्रेम निर्भयता विश्वास आदि पैदा होगा। जनता का सच्चा नेता वही हो सकता है जो न्याय की मूर्ति हो। हर तरह के सामाजिक जीवन के लिये न्याय धर्म आवश्यक धर्म है।

जो इन दस धर्मों का अधिक से अधिक अभ्यास करता है अर्थात उन्हें जीवन में उतारने की कोशिश करता है वह तीसरी श्रेणी वाला इन धर्मों में पूर्णता तो नहीं पासकता पर कुछ विशेषता अवश्य पासकता है। इन धर्मों के अभ्यास से उस में संयम को पालन करने की योग्यता आजाती है।

४ व्रती

जो प्राणघात अर्थघात और विश्वासघात इन तीन पापों का त्यागी है वह व्रती है। इन पापों का विवेचन विस्तार से किया गया है। प्राणघात तेरह प्रकार का बतलाया था। सभी तरह का प्राणघात पाप रूप नहीं है। साधक वर्धक न्यायरक्षक सहज भागयज श्रमज आरम्भज स्वरक्षक इनका त्याग जरूरी नहीं है। प्रमोदज अपवाद रूप में कभी हो सकता है पर उससे बचने की पूरी कोशिश करना चाहिये। बाकी अविवेकज बाधक तक्षक और भक्षक घात का त्याग करना जरूरी है।

इसी तरह अर्थघात के भी तेरह भेद हैं इनमें भी व्रती मनुष्य बाधक तक्षक भक्षक का त्याग करता है अविवेकज प्रमादज से बचने की यथाशक्य कोशिश करता है।

चोरी के चौबीस भेद बताये गये हैं उनमें से वह धनका नजर चोर, ठग चोर, उद्घाटक चोर, बलात् चोर, घातक चोर कभी न बनेगा। छन्न चोरियों में कभी कभी कुछ दोष लग सकता है पर वह इनसे बचने की कोशिश करेगा। नाम-चोरी उपकार-चोरी उपयोग-चोरी में भी वह नजर चोर, ठगचोर, उद्घाटक चोर, बलात् चोर, और घातक चोर कभी न बनेगा। इनकी छन्न चोरियों में यथाशक्य परहेज रक्खेगा।

इसी प्रकार वह विश्वासघात या झूठ बोलने का भी त्यागी होगा। वह बाधक अतथ्य, तक्षक अतथ्य और भक्षक अतथ्य न बोलेगा। अविवेकज और प्रमादज से बचने की यथाशक्य कोशिश करेगा। वह शुद्ध और शोधक तथ्य बोलेगा पर प्रमादज राहस्यिक निन्दक और पापोत्तेजक से बचने की कोशिश करेगा।

इस प्रकार जो प्राणरक्षकव्रती, अचौर्यव्रती (ईमानदार) और सत्यवादी बनता है वह चौथी श्रेणीवाला अर्थात् व्रती है।

५ सुशील

जो व्यभिचार से दूर रहता है वह सुशील है। व्यभिचार के कई रूप तो ऐसे हैं जिन्हें सुशील होने के पहिले ही छोड़ देना चाहिये। बलात्कार घोर हिंसा है प्राणघात है, परस्त्रीगमन भी चोरी है इसका त्याग तो व्रती होने पर या अभ्यासी होने पर ही कर देना चाहिये बल्कि बलात्कार पाप तो ऐसा है जो साधारण नागरिक भी नहीं कर सकता इसलिये जो सद्दृष्टि है वह

तो ऐसा पाप कर ही नहीं सकता। सुशील होने के लिये असहचरगमन, वेश्यागमन, अप्रमाणित सहचरगमन भी छोड़ना जरूरी है।

६ सद्भोगी

मांस और मद्य का त्याग करनेवाला सद्भोगी कहलाता है। भगवती के उपांग के प्रकरण में इसका विवेचन किया गया है उसके अनुसार इन दुर्भोगों का त्याग करना चाहिये।

प्रश्न-बहुत से लोग कुल परम्परा से ही मांस और शराब के त्यागी रहते हैं वे बिना प्रयत्न के ही इस श्रेणी में आजाँयगे और बहुत से लोगों की परिस्थिति ऐसी रहती है कि वे मांस मद्य का त्याग नहीं कर सकते उनके यहां का हवापानी आदि उन्हें ज़िन्दा न रहने देगा तब वे जीवन का ऊंचा से ऊंचा विकास करके इस छट्ठी श्रेणी में न आपायँगे। तब इन श्रेणियों का जीवन के विकास से क्या सम्बन्ध रहेगा?

उत्तर-केवल मद्यमांस न खाने से कोई छट्ठी श्रेणी नहीं पा सकता। इसके लिये पहिली पांच श्रेणी में उत्तीर्ण होना आवश्यक है। हां, जीवन-विकास के अनेक रूप हैं जो जिसको पाले वही अच्छा। पांच श्रेणियों में उत्तीर्ण न होनेवाला अगर सद्भोगी है तो किसी अंश में वह अच्छा ही है। हां वह छट्ठी श्रेणीवाला नहीं है।

जो लोग मांस मद्य के लिये विवश हैं इसके बिना उनका जीवन ही नहीं टिक सकता वे अपवाद रूपमें कुछ सेवन कर सकते हैं। वे इसे व्यसन न बनायेंगे इन्द्रिय लोलुपता के कारण इसका सेवन न करेंगे। पर ऐसी आवश्यकता शीतकटिबंध तथा मरुस्थल आदि के खास खास स्थानों पर ही हो सकती है वहीं इसके अपवाद का विचार किया जा सकता है। जहां अन्न सुलभ है वहां मांस का त्याग करना ही चाहिये।

प्रश्न-रामकृष्ण ईसा बुद्ध मुहम्मद आदि महात्माओं ने मांस-सेवन किया था पर इनका जीवन-विकास काफ़ी ऊंचे दर्जे का था जब कि इस श्रेणी विभाग के अनुसार वे छट्ठी श्रेणी के भी नहीं थे। वास्तव में उन्हें किस श्रेणी में माना जाय?

उत्तर-यहां जो बारह श्रेणियाँ बनाई गई हैं उनमें जो बाह्याचार का विभाग बनाया गया है वह आज की दृष्टि से है। मानव समाज क्रम से विकसित होता जा रहा है अथवा उसे क्रम से विकसित होना चाहिये। इसलिये ऐसी बहुत सी बातें हो सकती है जो पहिले के महात्माओं में भी नहीं थीं और आज के साधारण व्यक्ति में भी पाई जा सकती हैं। किसी व्यक्ति की महत्ता जानने के लिये उसके देशकाल का विचार ज़रूरी है। जब समाज के अधिकांश लोग मांस खाते हों तब के रिवाज के रूपमें ऐसे व्यक्ति भी खाते पीते रहते हैं जो अन्य दृष्टियों से काफ़ी ऊंचे दर्जे के संयमी हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों का विचार करते समय हमें ऐतिहासिक परिस्थिति का विचार करना चाहिये।

फिर एक बात और है। जैसे अनेक विद्यापीठों का पाठ्यक्रम जुदा जुदा रहता है उनमें हो सकता है कि कहीं कोई पुस्तक नीची कक्षा में पढ़ा दी गई हो और दूसरे विद्यापीठ में ऊंची कक्षा में भी न पढ़ाई हो पर वहां कोई दूसरी योग्यता कराई गई हो। तब वहां किसी एक किताब को कसौटी बनाकर ही विद्वान अविद्वान की परीक्षा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार सिर्फ़ मांस-भक्षण आदि को लेकर ही योगी अयोगी संयमी असंयमी की परीक्षा नहीं की जा सकती।

मांसभक्षण करते हुए भी किसी में अकषायता विवेक लोककल्याण आदि के दूसरे रूप इतने हों कि उसका जीवन विकास मांसभक्षण न करनेवाले बहुत से मनुष्यों से भी महान हो ।

यही कारण है कि राम कृष्ण महावीर बुद्ध ईसा मुहम्मद आदि महात्माओं की तुलना सिर्फ खानपान सम्बन्धी नियमों से ही नहीं की जा सकती । उनके देशकाल पर विचार करते हुए उनके स्वार्थत्याग लोककल्याण आदि का विचार करना पड़ेगा तब उनकी महत्ता ठीक ठीक समझी जा सकेगी ।

आज जो यहां बारह श्रेणियां बनाई जाती हैं वह एक विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम की तरह एक विश्वचारित्रालय का आचार-क्रम है । आज के और खासकर यहां के मनुष्यों को इस विश्वचारित्रालय से इस आचारक्रम के अनुसार पदवी लेना चाहिये । पर इसी माप से ऐतिहासिक महापुरुषों को न मापना चाहिये ।

असली संयम स्वपरकल्याण की दृष्टि से अपने जीवन को अधिक से अधिक पवित्र और उपयोगी बनाना है इसके लिये अनेक तरह के बाह्याचारों का पालन होता है । व्यवहार में हमें उनका खयाल रखना पड़ता है पर व्यापक दृष्टि से विचार करते समय हमें बाह्याचारों के आवरण के भीतर घुसकर असली संयम देखना पड़ेगा । बाह्याचारों से हमें सिर्फ व्यवहारोपयोगी प्रमाणपत्र मिल सकता है । सद्भोग आदि के विषय में इसी दृष्टि से विचार करना चाहिये ।

७ सदाजीवक

जो छः प्रकार का दुर्जन नहीं करता, ईमानदारी से आजीविका करता है वह सदाजीवक है । सदर्जन दुर्जन का विवेचन भगवती के उपांगों में किया गया है उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये ।

८ निर्भार

अतिसंग्रह न करनेवाला निरतिग्रही निर्भार कहलाता है । निरतिग्रह और अतिग्रह का विवेचन पहिले किया गया है । मनुष्य को जीवन-निर्वाह के लिये कुछ न कुछ इन्तजाम करना ही पड़ता है उसके लिये छः सूचनाएँ निरतिग्रह के प्रकरण में बतलाई गई हैं उनके अनुसार सम्पत्ति रखने के सिवाय और तरह से सम्पत्ति संग्रह न करना चाहिये ।

९ दिव्याहारी

अतिभोग न करनेवाला दिव्याहारी कहलाता है । अतिभोग का स्वरूप निरतिभोग के प्रकरण में किया गया है ।

१० साधु

जो व्यक्ति अपना जीवन और अपनी सम्पत्ति लोककल्याण के लिये अर्पित कर देता है, अपने लिये या अपनी संतान के लिये धनसंग्रह करने लिये अपनी सेवाओं का मूल्य नहीं लेता वह साधु है ।

पहिले की नौ श्रेणियों का पालन करने से उसका जीवन सदाचारमय पवित्र तो होना ही है साथ ही विशेष रूपमें स्वपर कल्याणकारी होता है ।

प्रश्न—क्या साधु की परिभाषा इतनी ही काफी है? क्या यह बताना जरूरी नहीं है कि वह कैसे कपड़े पहिने, गृहस्थ रहे या संन्यासी पैदल चले या सवारी पर, भोजन वगैरह पकाये या न पकाये, रुपया पैसा रक्खे या न रक्खे, साधु के लिये इन सब मर्यादाओं का होना क्या जरूरी नहीं है ।

उत्तर—साधुता के लिये इनमें से कोई मर्यादा निश्चित नहीं की जा सकती, हां साधु-संस्था के लिये कोई न कोई मर्यादा बनाई जाती है पर इन मर्यादाओं में देशकाल पात्र के थोड़े थोड़े परिवर्तनों से परिवर्तन होता है इसलिये साधु संस्था के लिये भी सामान्य रूप में कोई मर्यादा नहीं बन सकती। हां, जब जिस प्रकार की साधु संस्था की जरूरत होगी वैसी मर्यादाएँ उस के लिये निश्चित की जायँगी।

साधुता की बात आचार कांड से सम्बन्ध रखती है पर साधु संस्था की बात व्यवहार कांड से सम्बन्ध रखती है इसलिये साधु संस्था के विषय में यहां विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता।

साधुसंस्था, जन-सेवाके कार्य के लिये या किसी खास कार्य के लिये एक संगठित उद्योग है इसलिये साधुसंस्था के सदस्यों को उस साधुसंस्था के नियमों का पालन करना ही चाहिये। पर जो साधु संगठन में नहीं है अपने तरीके से या किसी दूसरे तरीके से जन-सेवा करता हुआ पवित्र जीवन बिता रहा है वह उस संगठन के नियमों का पालन न करता हुआ भी साधु हो सकता है। यदि वह सदाचारी है और कम से कम लेकर अधिक से अधिक देता है तो वह साधु है।

यह भी हो सकता है कि कोई किसी साधु-संस्था के नियमों का पालन तो कर रहा हो पर साधु न हो क्यों कि उस के जीवन में उतनी पवित्रता और निस्वार्थता न आ पाई हो। इसप्रकार साधुसंस्था के संगठन में नियमों की अनिवार्यता रहने पर भी साधता के प्रकरण में उनपर जोर नहीं दिया जा सकता।

११ तपस्वी

पहिले जो पांच प्रकार के तप बताये गये हैं उनका जो विशेष रूपमें पालन करता है वह तपस्वी है।

साधु जीवन में किसी न किसी रूपमें तपकी आवश्यकता होती है पर साधुता को बढ़ाने के लिये और योगी बनने के लिये तपकी विशेष ज़रूरत है जिससे वह विशेष ज्ञानी विशेष जन-सेवक और विशेष पवित्र और विशेष रूप से सन्तुष्ट और सुखी बन सके।

तप का वर्णन भगवती की विशेष साधना नामक अध्याय में किया गया है।

१२ योगी

ग्यारह श्रेणियों में जो कमी रह जाती है वह योगी के जीवन में पूरी हो जाती है। योगी में विशेषता यह है कि वह अवस्था-समभावी भी होता है। उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि—

विपद विरोध उपेक्षा मिलकर कर न सकें साहसका नाश।
कर न सकें असफलताएँ भी, कार्यक्षेत्र में उसे निराश॥

दृष्टिकांड के योगदृष्टि अध्याय में चारयोगों का विवेचन किया गया है और लक्षण दृष्टि अध्याय में योगी के पांचचिन्हों का विस्तार से विवेचन किया गया है साथ ही उसी अध्याय के अन्त में योगी की तीन लब्धियों का विवेचन किया गया है उस सब विवेचन से समझ लेना चाहिये कि योगी का जीवन कैसा होता है और कितने तरह का होता है।

उस प्रकार का योगी जीवन ही आदर्श जीवन है और जनसमाज में उस प्रकार के योगियों का हो जाना ही मानव समाज का चरम विकास है।

इस प्रकार कल्याण-पथकी दृष्टि से प्राणियों

के चौदह भेद होते हैं। पहिले दो तरह के प्राणी अर्थात् गर्तस्थ और भूमिस्थ तो कल्याण पथ में ही नहीं हैं। सद्दृष्टि से कल्याण पथ शुरू होता है और योगी जीवन कल्याण पथ में सबसे आगे है। योगीको भगवान सत्य और भगवती अहिंसा का पूरा उपासक, भक्त, सेवक, पुत्र आदि कह सकते हैं।

मानव जीवन को पाकर जो गर्तस्थ है वह बड़ा-से-बड़ा अभागी है और जो भूमिस्थ है, मनुष्य होकर भी कल्याण पथ पर नहीं चलता वह आंखें रहते हुए भी अंधा है। इसलिए हरएक आदमी को कम से कम सद्दृष्टि तो बनना ही चाहिये।

पर किसी भी श्रेणी में संतुष्ट होजाना ठीक नहीं। सदा आगे की श्रेणी में बढ़ने की उमंग होना चाहिये, न बढ़ पाने का खेद होना चाहिये। पूर्ण धर्म का कोई पालन कर सके या न कर सके पर उसकी अच्छाई का विश्वास उसे होना चाहिये। और अच्छाई के विश्वास का चिन्ह यह है कि उसके पाने की लालसा हो, प्रयत्न हो, न पाने का खेद हो।

इन बारह श्रेणियों में अभ्यासी तक की तीन श्रेणियाँ जघन्य हैं। व्रती से दिव्याहारी तक छः श्रेणियाँ मध्यम हैं और साधु तपस्वी योगी की तीन श्रेणियाँ उत्तम हैं। हरएक मनुष्य को कोशिश करना चाहिये कि जीवन में कभी-न-कभी वह उत्तम श्रेणी तक अवश्य पहुँच जाय और जीवन के अन्त तक उसी श्रेणी में रहे।

बारह श्रेणियाँ और गर्तस्थ भूमिस्थ ये दो भेद इस प्रकार इन चौदह भेदोंको आचारस्थान, संयमस्थान, गुणस्थान, आचारवर्ग आदि कहते हैं।

चौदहवें वर्ग में पहुँचा हुआ प्राणी जीवन्मुक्त है। मरने के बाद जो कुछ ऊंचा से ऊँचा स्थान कहा जा सकता है। या कहा जाता है वह स्थान योगी को ही मिल सकता है। वैकुण्ठ मोक्ष, ईश्वर-मिलन ब्रह्मप्राप्ति आदि सब योगीके ही हाथ में आसकते हैं। जब तक वह जीता है तबतक उससे जगत् का कल्याण होता है और उसका भी कल्याण होता है। वह कर्म करते हुये भी कर्म से लिप्त नहीं होता, हर तरह की गरीबी में भी वह परमसुखी रहता है।

आचारस्थान के इन चौदह स्थानों में जो बारह श्रेणियाँ हैं उन में से अनेक श्रेणियों के अनेक नियम ऐसे हैं जो साधारण नागरिक को भी आवश्यक हैं। जैसे झूठ बोलना आदि का त्याग चौथी श्रेणीमें कराया गया है व्यभिचार का त्याग पांचवीं श्रेणी में कराया गया है प्रायश्चित विनय आदि तप ग्यारहवीं श्रेणी में बतलाये गये हैं, इसका यह मतलब नहीं है कि उन श्रेणियों में पहुँचने पर ही उन नियमों का पालन करना चाहिये। बहुतसी श्रेणियों के बहुत से काम नागरिकता की साधारण योग्यता में शामिल हैं।

जैसे बाज़ार के उतार चढ़ाव की बातें और अर्थ-शास्त्रके बहुत से सिद्धान्त मेट्रिक के बाद अर्थ-शास्त्रके विद्यार्थी को पढ़ाये जाते हैं पर इसका यह मतलब नहीं है कि जो अर्थ शास्त्र का विद्यार्थी नहीं बनपाया है वह बाज़ार की मामूली बातों से परिचित न हो। कोई यह बहाना बताये कि मैं तो अर्थ-शास्त्र का विद्यार्थी नहीं हूं इसलिये बाज़ार में से सौदा नहीं लासकता तो उसे पागल ही कहेंगे, इसी प्रकार कोई यह कहे कि मैं तो अमुक श्रेणी में नहीं हूं इसलिये मुझ

से ईमानदारी का व्यवहार नहीं हो सकता तो उसे भी पागल कहा जायगा।

शील, प्रामाणिकता, विनय, शिष्टाचार स्वाध्याय आदि ऐसे कर्तव्य हैं जिनका पालन हर एक को करना चाहिये। भले ही उस ने नियमानुसार किसी श्रेणी को ग्रहण किया हो या न किया हो या सिर्फ़ नीची श्रेणी को ग्रहण किया हो।

यहां जो श्रेणी-विभाग बनाया गया है उसके दो कारण हैं- पहिला यह कि व्यवस्थित रूप में वह क्रम-विकास कर सके। दूसरी बात यह कि वह सदाचार का पालन कर्तव्य समझकर करने लगे। कोई देखनेवाला हो या न हो, राज्य से और समाज से दंड मिलने का भय हो या न हो, पर वह अपने सदाचार का पालन अवश्य करेगा हो सकता है कि किसी दिन सारी राज्यसत्ता उसके हाथ में आजाय, उसको दुराचार का दंड न दिया जा सके, या ऐसा अवसर हो कि जहाँ पर किये गए दुराचार आदि को कोई प्रमाणित न कर सके, तब भी वह दुराचार का सेवन न करेगा; मतलब यह कि सदाचार उसका स्वभाव, या आदत बनजाना चाहिये। श्रेणी में आने का यही मतलब है।

हां, यह हो सकता है कि श्रेणी में आने का भान रहने के लिये अगर कभी शिथिलता आवे तो जनता की गवाही का खयाल उस में शिथिलता न आने दे। इसलिये ख़ास ख़ास श्रेणियों की प्रतिज्ञा वह जनता के सामने ले। जनता को भी उसके श्रेणी-ग्रहण से व्यवहार करने में सुभीता हो सकता है।

सद्दृष्टि की तो साधारण सूचना काफ़ी है।

दूसरी अर्थात् सामाजिक श्रेणी की प्रतिज्ञा या दीक्षा जनता के समक्ष ही लेना चाहिये क्योंकि उसका सम्बन्ध बहुत सी सामाजिक बातों से है। जनता के सामने दीक्षा लेने से जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा, सामाजिकता बढ़ेगी और अपने में शिथिलता न आने पायगी।

अभ्यासी श्रेणी की दीक्षा नहीं होती, वह अपने ही आप आचरण करने की चीज़ है।

व्रती की दीक्षा लेना चाहिये।

सुशील बनने की प्रतिज्ञा गुरु के सामने लेली जाय तो काफ़ी है।

सदुभोगी सदाजीवक की दीक्षा जनता के सामने विशेष उपयोगी है।

निर्भार की दीक्षा गुरु के समक्ष या अपने आप लेलेना चाहिये।

दिव्याहारी की दीक्षा भी अपने आप या गुरु के समक्ष लेलेना चाहिये।

साधु-दीक्षा कुछ विशेषरूप में जनता के समक्ष होना चाहिये।

तपस्वी की दीक्षा अपने आप या गुरु के समक्ष लेलेना चाहिये।

योगी की कोई दीक्षा नहीं होती।

विशेष व्यक्तियों को कोई भी दीक्षा लेने की ज़रूरत नहीं है। जिस की इच्छा हो वह किसी भी श्रेणी की दीक्षा जनता के समक्ष ले सकता है। ऊपर जो सूचनाएँ दी गई हैं वे उपयोगिता की दृष्टिसे साधारण सूचनाएँ हैं, निश्चित विधान नहीं।

जनता चाहे तो पिछली दस श्रेणियों का उपाधि के रूप में उपयोग हो सकता है।

अपनी दृढ़ इच्छा, विवेक, स्वपर-कल्याण

की भावना, और सामाजिक सहयोग से प्रत्येक मनुष्य को कल्याणपथ में आगे बढ़ना चाहिये। वही स्वर्ग युग होगा जब संसार कल्याण-पथ के पथिकों से भरजायगा।

प्रश्न–बारह श्रेणियों या चौदह स्थानों के वर्णन से क्रम विकास को समझने में सुभीता हो गया पर साधारण साधु और ऐसे विशेषज्ञानी साधु जो अपने ज्ञानबल से दुनिया का बहुत बड़ा कल्याण कर जाते हैं, तीर्थंकर पैगम्बर मसीहा बनकर मानव समाज में आध्यात्मिक और सामाजिक क्रान्ति कर जाते हैं, उनका श्रेणियों में खास स्थान होना चाहिये। ज्ञान की दृष्टिसे भी तो जीवन का विकास होता है, उसका उल्लेख यहाँ क्यों नहीं?

उत्तर–संयम के लिये जो आवश्यक ज्ञान है उनका साधारण उल्लेख सद्दृष्टि श्रेणी में है ही और योगी के चिन्होंमें भी इसका उल्लेख है। तपस्वी की श्रेणी में भी स्वाध्याय नामका तप पहिला तप बताया गया है। संयम का विकास होनेपर कुछ न कुछ ज्ञान का विकास होता ही है, इसलिये संयमस्थानों में ज्ञानका विकास अलग बताने की जरूरत नहीं है। दूसरी बात यह है कि कोरी जानकारी बढ़ने से मनुष्य का वास्तविक विकास नहीं है। जब संयम आजाता है तब उसके अनुकूल ज्ञान अवश्य होता है पर ज्ञानके होने से संयम के होने का नियम नहीं है। वैज्ञानिकता से भरा हुआ असंयमी जगत नरक होगा जब कि थोड़े ज्ञानवाला संयमी जगत स्वर्ग से बढ़कर होगा इसलिये जीवन-विकास में संयम को ही महत्व दिया गया है।

फिर भी यहाँ इतनी बात बतलादी जाती है कि ज्ञान की दृष्टिसे भी जो विकास होता है उसका सम्बन्ध इन चौदह आचार-स्थानों से कैसा है। ज्ञानकी दृष्टिसे हम प्राणियों के दस भेद करसकते हैं। १ अबोध्य, २ अज्ञानी, ३ बहिर्ज्ञानी, ४ बहि-र्द्रष्टा, ५ छायाज्ञानी, ६ सुबोधित्र, ७ अंशद्रष्टा, ८ बोधित बुद्ध, ९ स्वयंबुद्ध, १० तारक बुद्ध।

१–अबोध्य उसे कहते हैं जिसमें कल्याणपथ को समझने की योग्यता नहीं है। अधिकांश पशुपक्षी आदि इस श्रेणीमें आते हैं।

२ अज्ञानी उसे कहते हैं जिसे कल्याणपथ को जानने का अवसर ही नहीं मिला, न शिक्षण मिला, न सत्संगति मिली।

३–बहिर्ज्ञानी वे हैं जो कल्याणपथ को नहीं जानसके पर स्वार्थ और विषयों में सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी बातें जानते हैं। ये बातें उनने अनेक लोगों के ग्रन्थ पढ़कर या बातें सुनकर सीखी हैं। बहिर्ज्ञान बुरी चीज नहीं है पर कल्याणपथ के ज्ञान के बिना वह ऐसा है जैसा प्राण के बिना शरीर।

४–बहिर्द्रष्टा वह है जिसने अपने अनुभव से बहिर्ज्ञान की खोज की है और बहिर्ज्ञान के रहस्य को अपने अनुभव में लाया है। भौतिक विषयों के अविष्कारकों का ज्ञान इसी श्रेणी का है।

५–छायाज्ञानी वह है जिसने कल्याणपथ का ज्ञान शास्त्रों को पढ़कर या ज्ञानियों के उपदेश सुनकर पालिया है पर उसका मर्म नहीं समझा है, इसलिये उसके जीवन पर उसका विशेष असर भी नहीं हुआ है। इसलिये कहना चाहिये कि वह कल्याण पथका ज्ञान नहीं पासका, उस की छाया पासका।

६–सुबोधित वह है जिसने कल्याण का

ज्ञान शास्त्र आदि से पाया है और उसका असर भी उसके जीवन पर हुआ है वह किसी न किसी अंश में कल्याणपथ पर चला है या चलने को उत्सुक हुआ है। पर जिसे पूर्ण ज्ञानी नहीं कह सकते।

७–अंशदृष्टा वह है जिसने कल्याणपथ के ज्ञान का अंश अपने अनुभव से पाया है पर युग के अनुरूप जितना ज्ञान चाहिये उतना ज्ञान नहीं पा सका, दृष्टा होने से उसके जीवन पर उसका असर हुआ है।

८ बोधित बुद्ध वह है जिसने शास्त्र पढ़कर या उपदेश सुनकर कल्याणपथ के रहस्य को पूरी तरह जान लिया है और उसके जीवन पर उसका पर्याप्त असर है।

९–स्वयंबुद्ध वह है जिसने मुख्यता से अपने अनुभव के आधार पर कल्याणपथ खोज निकाला है उसका अनुभव किया है। इसप्रकार अपनी विचारकता और निरीक्षण शक्ति की मुख्यता से पर्याप्त ज्ञानी बनगया है।

प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी अंश में दूसरों से बोधित होता है और स्वयं भी कुछ अनुभव और विचार करता है पर यहां मुख्यता से मतलब है। जिसने मुख्यता से कल्याणपथ का ज्ञान किसी व्यक्ति या शास्त्र से पाया, बढ़ाकर उसे शुद्ध और पूरा किया है वह बोधित है और जिसने मुख्यता से अपने अनुभव और विचार से उसे समझा है खोजा है निश्चित किया है वह स्वयंबुद्ध है।

१०-तारक बुद्ध वह है जो स्वयंबुद्ध होकर दुनिया के उद्धार के लिये अपना जीवन लगादेता है और दुनिया सत्यअहिंसामय कल्याण पा-सके इसके लिये एक साफ सच्चा मार्ग तैयार कर देता है उस मार्ग पर चलकर दुनिया को आगे की तरफ खींचता है। वह दुनिया का तारण करता है दुःख समुद्र से पार करता है इसलिये वह तारक बुद्ध कहलाता है।

स्वयंबुद्ध की अपेक्षा इसके ज्ञान में यह विशेषता पैदा होजाती है कि यह कल्याणपथ की अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों और उनके हल करनेके उपायोंसे सुपरिचित होजाता है। तीर्थंकर पैगम्बर आदि महात्मा तारक बुद्धकी श्रेणी में ही आते हैं।

बहुतसे स्वयंबुद्ध भी अमुक अंशमें तारक होते हैं पर उनकी तारकता गौण और अल्पमात्रा में होती है। बोधित बुद्ध भी तारक होते हैं पर वे मुख्यतासे तारक बुद्धके बताये मार्गपर ही खुद चलते हैं और लोगोंको चलाते हैं।

स्वयंबुद्ध और बोधितबुद्ध ध्यानयोगी भी होसकते हैं पर तारक बुद्ध कर्मयोगी ही होता है। भले ही उसका कर्मयोगी रूप सन्यासियों सरीखा हो। महावीर बुद्ध ईसा सन्यासी सरीखे रहकर भी कर्मयोगी थे तारक बुद्ध थे। मुहम्मद आदि गृहस्थ होकर कर्मयोगी और तारक बुद्ध थे।

ज्ञान की मुख्यता से जो ये दस स्थान बताये हैं वे चौदह आधारस्थानों में इस प्रकार आते हैं।

१	अबोध्य	गर्भस्थ
२	अज्ञानी	
३	बहिर्ज्ञानी	भूमिस्थ
४	बहिर्दृष्टा	
५	छायाज्ञानी	
६	सुबोधित	सद्दृष्टिसे तपस्वी तक ग्यारह स्थानोंमें
७	अंशदृष्टा	

८	बोधित बुद्ध	योगी
९	स्वयंबुद्ध	
१०	तारकबुद्ध	

प्रश्न— क्या यह सम्भव नहीं कि बुद्ध होजाने पर भी मनुष्य योगी नहीं हो। यहां तक कि कोई तारक बुद्ध भी ऐसा हो सकता है जो दिव्याहारी साधु तपस्वी या योगी न हो। उसने मार्ग को पूरी तरह समझा है उसके ऊपर समझने का असर भी हुआ है पर परिस्थितियों ने उसे दिव्याहारी आदि नहीं बनने दिया है, पूरी तरह अवस्थासमभावी नहीं बन पाया है। जीवन संग्राममें रहनेके कारण व्यक्तिसमभावी भी नहीं हो पाया है।

उत्तर— जो बुद्ध है, जिसने कल्याण पथका श्रेष्ठ और पर्याप्त ज्ञान पालिया है उसका जीवन योगी बने बिना नहीं रह सकता। अन्यथा मानना चाहिये कि उसने कल्याणपथ का पूरा या पर्याप्त ज्ञान नहीं पाया। देशकाल की परिस्थितिके कारण दिव्याहार वगैरह में कुछ शिथिलता हो सकती है पर दिव्याहार आदि का स्वरूप भी देशकालके अनुसार बनता है। एक तारक बुद्ध को राज्यका भी संचालन करना पड़ता हो तो उसके दिव्याहार तपश्चरण आदि के बाहरी रूपमें भी फर्क होगा, वह अपनी परिस्थिति के अनुसार दिव्याहारी साधु तपस्वी योगी अवश्य बन जायगा। व्यक्तिसमभाव और अवस्थासमभाव के भी असंख्य रूप हैं इसलिये सभी बुद्ध एकसे समभावी न हों तो कोई आश्चर्य नहीं, पर वे पर्याप्त मात्रामें व्यक्तिसमभावी और अवस्थासमभावी होते हैं। व्यक्तिसमभावका यह मतलब नहीं है कि मनुष्य सज्जन दुर्जन, गुणी निर्गुण, उपयोगी अनुपयोगी का विवेक न रक्खे, न अवस्थासमभावका यह मतलब है कि उसमें शृङ्गार वीर करुणा आदि नाना रस न हों। वह ऊँचे से ऊंचा न्यायविनयी है और हर हालत में अपने कर्तव्य को पूरा करनेका ध्यान रखता है, दुःखकी वासना स्थायी नहीं बनती इन बातोंसे उसके व्यक्तिसमभाव अवस्थासमभाव का पता लग सकता है

प्रश्न—सुबोधित या अंशद्रष्टा योगी क्यों नहीं हो सकता। हो सकता है कि वह ज्ञान में कम हो पर संयम में इतना बढ़गया हो कि उसमें योग के सभी चिन्ह प्रगट हो गये हों तो वह योगी क्यों नहीं?

उत्तर—ज्ञानमें कम होनेपर भी अगर कोई योगी बनगया है तो समझलेना चाहिये कि उसने असली सत्यके दर्शन पालिये इसलिये वह बोधितबुद्ध या प्रत्येक बुद्ध होगया है। बुद्ध होने के लिये यह जरूरी नहीं है कि वह पाडित्य में भी संसार का बड़ा ज्ञानी हो। पांडित्य में कम होनेपर भी सत्य-दर्शन हो जानेपर वह बुद्ध हो जायगा। इसलिये सुबोधित या अंशद्रष्टा को योगी होनेपर बुद्ध ही कहना चाहिये।

हर एक आदमी तारक नहीं बनसकता, न इस बात की जरूरत है, दुनिया में हजारों तारक बुद्धोंको जगह भी नहीं है। स्वयंबुद्ध जितने चाहे हो जाँय कुछ अड़चन नहीं है पर वे भी अधिक नहीं हो सकते। बोधित बुद्ध अधिक हो सकते हैं वे अधिक से अधिक हों इस की जरूरत है। संसार बोधितबुद्धों से भरजाय यही हमारी आदर्श स्थिति है। जिसदिन संसार के अधिकांश नागरिक (स्त्री पुरुष) योगी या बुद्ध होंगे उसी दिन समझना चाहिये कि भगवान सत्य और भगवती अहिंसा का साम्राज्य स्थापित हो गया।

उपसंहार

आचार कांड में वैयक्तिक और सामाजिक जीवनसुधार के बारे में काफी विचार किया गया है। ऊँचे से ऊँचा आध्यात्मिक विकास तथा ऊँची से ऊँची सामाजिक सुव्यवस्था का निर्देश यहाँ हुआ है। एक बार अगर हम सामाजिक अवस्था में सुधार न कर सकें पर अपना सुधार कर सकें तो हम अपनी ऐहिक और पारलौकिक उन्नति कर सकते हैं। हां, यह भ्रम निकाल देना चाहिये कि समाज के संपर्क में आनेसे हमारा आध्यात्मिक पतन होता है। समाज के सम्पर्क में आनेपर तो हमारा आध्यात्मिक पतन प्रगट होता है, छिपे हुए दबे हुए पतन का पता लगता है, अपने संयम और सत्य की परीक्षा होती है, इस परीक्षा से डरना न चाहिये। अपने को सत्य का भक्त या पुजारी और अहिंसा के अनुयायी या सेवक बनाकर यथाशक्य परकल्याण में लगना चाहिये। इस प्रकार का जीवन ही स्वकल्याण पाता है, आत्मशुद्धि करता है मुक्ति वैकुण्ठ या अल्लाह के दर्बार में पहुँचता है।

सत्य और अहिंसा में से हम किसी एकको छोड़ नहीं सकते। जहाँ सत्य है वहीं अहिंसा है जहां अहिंसा है वहीं सत्य है, अगर एक नहीं है तो दूसरा भी नहीं है। ये एक ही ईश्वरके दो अंग हैं, एक ही धर्म के दो पहलू हैं। मनुष्य का जीवन इन्हीं भगवान भगवती के चरणोंमें लीन हो जाय उनकी ओर प्रतिदिन बढ़ता जाय इसीमें उसकी सार्थकता है।

लक्ष्मी और शक्ति इन्हीं की दासियें हैं जहाँ ये इनकी दासियाँ नहीं बनी हैं वहीं नरक है जहाँ ये इनकी दासियाँ बनी हैं वहीं स्वर्ग है। हर एक मनुष्य को इस प्रकार की नई दुनिया बनानेकी कोशिश करना चाहिये कि जिसमें भगवान सत्य और भगवती अहिंसा की सच्ची भक्ति होती हो। जहाँ शक्ति लक्ष्मी सरस्वती और कला ये चारों दिव्यमूर्तियाँ भगवान भगवती के आगे सिर झुकाये नम्रभाव से खड़ी हों।

हम अपने भीतरी और बाहरी आचार की शुद्धि से ऐसा जगत बनासकते हैं और जगत ऐसा बने इसके पहिले ही ऐसे जगतके नागरिक बनकर पूर्ण सुखी बन सकते हैं।

॥ आचार कांड संपूर्ण ॥

पारिभाषिक शब्दसूची

अ

सत्यभक्त साहित्य

सत्यसमाज के संस्थापक स्वामी सत्यभक्तजीने धार्मिक सामाजिक राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय तथा जीवन शुद्धि विषयक जो विशाल साहित्य रचा है, जो गद्य पद्य नाटक कथा आदि अनेक रूप में बुद्धि और मनपर असाधारण प्रभाव डालने वाला है उसे एकबार अवश्य पढ़िये ।

१–सत्यामृत–मानव-धर्म-शास्त्र [दृष्टिकांड]	१।)
२–सत्यामृत [आचार–कांड]	१॥।)
३–निरतिवाद—	।=)
४–सत्य संगीत—	॥=)
५–शीलवती—	-)
६–विवाह पद्धति—	=)
७–सत्यसमाज और प्रार्थना—	-)
८–नागयज्ञ [नाटक]—	॥)
९–हिन्दू-मुस्लिममेल—	-)॥
१०–आत्म-कथा—	१।)
११–हिन्दू-मुस्लिम इत्तहाद [उर्दू अनुवाद]—	=)
१२–बुद्ध हृदय —	।=)
१३–कृष्णगीता —	।।।)
१४–अनमोलपत्र—	-)
१५–सुलझी हुई गुत्थियाँ —	।)
१६–कुरान की झाँकी—	=)
१७–जैनधर्म-मीमांसा [भाग १]—	१)
१८–जैनधर्म-मीमांसा [भाग २]—	१॥)
१९–न्यायप्रदीप जै. न्याय का ग्रन्थ	१)

मिलने का पता—सत्याश्रम, वर्धा. [सी.पी.]